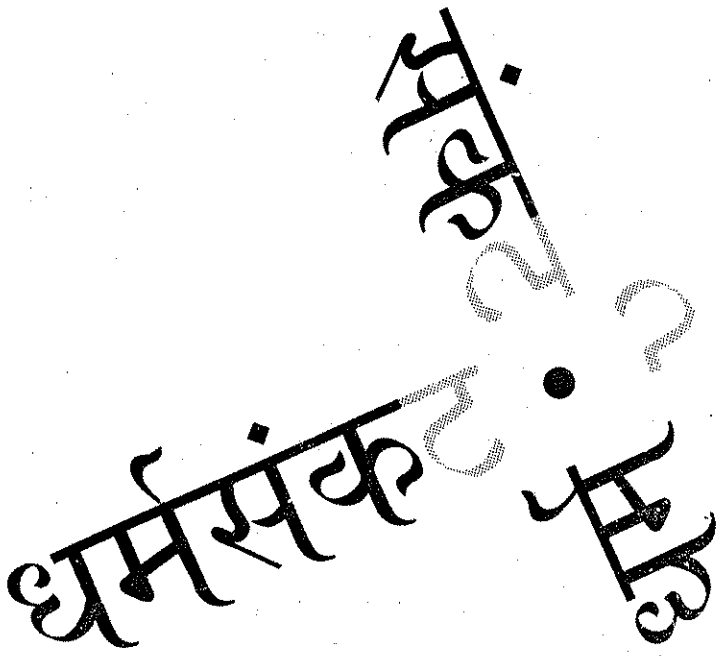
धर्मसंकटः किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर
के लिए
राका प्रकाशन, इलाहाबाद

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथ माला–५

गीता

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः

मुकुंद लाठ

ISBN 81-88216-26-7

कॉपीराइट :
मुकुंद लाठ

*

प्रथम संस्करण :
२००४

*

प्रकाशक :
दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर
के लिए
राका प्रकाशन
४०ए, मोतीलाल नेहरू रोड
इलाहाबाद-२, फोन : २४६६७९१
बिक्री केन्द्र : २५ए, महात्मा गांधी मार्ग,
सिविल लाइन्स, इलाहाबाद-१
फोन : २४२११९५

*

मूल्य : २००.०० रुपए

*

मुद्रक:
भार्गव आफसेट
बाई का बाग, इलाहाबाद

शल्यजी को

आमुख

प्रस्तुत निबन्ध **उन्मीलन** पत्रिका में **धर्म-संकट** ही के नाम से सात अंकों के लंबे विस्तार से एक लंबी अवधि में लिखा गया था। पूरे निबंध के लिखने में ही नहीं, एक-एक लेख के बीच भी अवधि का खासा अंतराल रहा था। आज 'धारावाहिक' लिखे गये इस निबंध को छपे कुछ वर्ष बीत चुके हैं। लेखों को पुस्तक का रूप देते हुए मैंने पाया कि एक विषय-परक होते हुए भी उनके गठन में कुछ बिखराव और ढीलापन था - विचार में भी और उसकी अभिव्यक्ति में भी। लेखों को पुस्तक में पिरोते हुए मैंने उनमें नया संश्लेष साधा है - मेरा प्रयास पुराने लेखों में एक अधिक निविड़ गुंफ साधने का ही नहीं रहा है, परिष्कार का भी रहा है, विचार में भी और आभिव्यक्ति में भी।

मूलतः **उन्मीलन** के लिये लिखे गये इन लेखों के पीछे मित्रवर यशदेव जी शल्य की अदब्ध प्रेरणा रही थी। लेखों को पुस्तक का रूप देते समय उनका और भी घनिष्ठ सहारा रहा है। मेरे परिष्कार और संशोधन में उनकी पैनी, विचार-दिग्ध टिप्पणियों का गहरा हाथ रहा है। प्रूफ-संशोधन में भी उनकी सधी हुई दृष्टि का भरोसा रहा है। मेरे प्रयास के पीछे उनका उत्साह और उनकी टेक नहीं होती तो पुस्तक प्रकाशन की चौखट तक पहुंच ही नहीं पाती। मेरे अनुरोध पर उन्होंने पुस्तक की भूमिका भी लिखी है जो सुसंक्षिप्त होती हुई भी सार-ग्रहण में विशद है। अपने आशय को मैं ही प्रकट करने की चेष्टा करता तो बात इतनी सुथरी और प्रांजल नहीं बन पाती। बल्कि अपनी पुरानी कही बात का परिचय देने में एक नये बिखराव का डर था - या एक नई अप्रसंग बात के अकारण आरंभ का।

कहना न होगा, मैं शल्य जी का आभारी हूं - पर *यहां* किन्हीं भी शब्दों में उनके प्रति आभार प्रकट करना आभार को उपचार बना देने की विडंबना ही होगी।

आभार मेरा कईयों के प्रति है। हम अपने किसी भी प्रयास में जो कृतित्व साधते हैं वह हमारा स्वकीय नहीं होता, उसके पीछे कइयों का 'भरण' होता है; हम अकेले नहीं होते - चाहे हमें इसका 'भरम' क्यों न हो। दो नाम यहां लेना चाहता हूं। श्री दामोदर जी पारीक ने बार-बार के पाठ-संशोधनों को सहज ही झेलते हुए कम्प्यूटर पर पुस्तक को छपने योग्य कलेवर दिया। प्रिय मित्र श्री विनय जैन ने मेरी पिछली पुस्तकों की तरह इस पुस्तक के आवरण को भी अपने विदग्ध शिल्प की संयमित शोभा से विषय के अनुरूप सुघर-निराडम्बर 'आभरण' का रूप दिया है।

12 फरवरी, 2004

मुकुन्द लाठ
जयपुर

भूमिका

मुकुंद जी का यह निबन्ध कम से कम दो दृष्टियों से असाधारण है। इसे अनन्य भी कह सकते हैं। प्रथम इस दृष्टि से कि इस विषय : धर्म-संकट : को केन्द्र में रखकर संभवतः दूसरी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई है। एक संपादित पुस्तक अवश्य है—मॉरल डायलमाज़ इन महाभारत, किन्तु वह दूसरी बात है, नितान्त भिन्न। क्योंकि उसमें धर्म ही नहीं, मॉरैलिटी पर भी कोई विचार नहीं किया गया है जो कि 'धर्म-संकट' की रीढ़ है। दूसरे इस दृष्टि से कि इसमें शास्त्र का भरपूर उपयोग और अवगाहन हुआ है, किन्तु लेखक के अपने चिन्तन में सामग्री के रूप में, शास्त्र के विवेचन के रूप में नहीं, जैसाकि शास्त्रज्ञ लेखकों में सर्वत्र मिलता है। इस पुस्तक में शास्त्र का प्रमाण या निदर्श के रूप में कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। शास्त्र लेखक की अपनी कहनी के अंग के रूप में ही आता है। और इस लेखक की कहनी अपनी इस अर्थ में है कि वह सीधे विचार-अवधारणाओं-अर्थों के अन्तर्गर्भ में प्रवेश कर तत्त्व को पाने का प्रयत्न करता है, शास्त्र के बताये समाधानों को प्रस्तुत नहीं करता। इसीसे वह विचार के किसी पहले बने राजमार्ग पर चलता दिखायी नहीं देता, बल्कि विचार के जंगल में स्वयं लक्ष्य निर्धारित करता और उस तक पहुँचने के लिए पगडंडियां रचता चलता है। इसी से उसकी लेखन-शैली भी निराली है, बहुत कुछ एक विदग्ध कथावाचक के जैसी। किन्तु कथा यहां विचार की ही है, व्यक्तियों की नहीं। द्रष्टव्य है कि इस पुस्तक का एक अध्याय भी कथा के माध्यम से विचार का मर्म दिखाने को लेकर है—'हमारा मनुष्य-भाव : कथा और रस' अध्याय का नाम है। कथा में विचार उद्गृहीत अवधारणाओं के धरातल पर उपचरित नहीं हो कर व्यवहार के नियामक के रूप में संचारि होता है, जो कि उसकी मूल भूमि है। इस भूमि पर विचार ''जीवन की गति के साथ गुँथा हुआ-सा, जीवन-वृत्त के साथ एक रस-सा'' हो पाता है। इसी से शास्त्र-गर्भ होते हुए भी 'विद्वत्ता' से जितनी यह पुस्तक दूर है उतनी दूर दर्शन की दूसरी कोई पुस्तक ढूढे से भी नहीं मिलेगी।

मुकुंद जी की इस पुस्तक में धर्म का विवेचन और इसी प्रकार धर्माचरण के क्रम में उपस्थित दुविधाओं का विवेचन विचार की अपनी उद्गृहीत भूमि पर होते हुए भी जीवन की समग्रता के भीतर हुआ है, और ऐसा उनकी विलक्षण चिन्तन-पद्धति और लेखन-शैली के कारण हो सका है। धर्म को जीवन-चर्या की समग्रता के बीच विवेचित करने के लिए मुकुंद जी ने **महाभारत** में प्रयुक्त एक विशिष्ट अवधारणा : आनृशंस्य : का सहारा लिया है। 'आनृशंस्य' एक अद्भुत अवधारणा है। यह 'अहिंसा' का पर्यायवाची पद भी कहा जा सकता है, किन्तु यह अहिंसा की शुद्ध अवधारणा के विपरीत लोक-जीवन से निरपेक्ष प्रत्यय-विमर्श की उस पराकाष्ठा की ओर उन्मुख नहीं है जिसमें अन्ततः साँस लेने और हरी पत्ती तोड़ने में भी हिंसा हो

जाती है। 'आनृशंस्य' उनके अनुसार "प्रवृत्ति का धर्म है। आचरण का, व्यवहार का, शील का धर्म है। वह जीवन के श्रेयस् ही नहीं प्रेयस् को भी अंगीकार करता है। पुरुषार्थ की पुरानी, पर जानी-मानी और सार्थक कोटियों में कहें तो कह सकते हैं कि धर्म यहां काम से युगनद्ध है। यह नहीं कि अर्थ से नहीं जुड़ा है। अर्थ से तो वह विच्छिन्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसे अर्थ कहा गया है वह समाज, राज्य, उत्पादन-वितरण की व्यवस्था या तंत्र का ही दूसरा नाम है।" तो यह है आनृशंस्य, और यह **महाभारत** के अनुसार परम धर्म है, क्योंकि यह लोक को, उसकी समग्रता में, पुरुषार्थ की धरती देता है।

अब, धर्म क्या है? मुकुंद जी 'धर्म' की एकदम सीधे परिभाषा नहीं देते, वे उसे जीवन के सारे पसारे में भाव और अभाव रूप में दिखाते चलते हैं। यों परिभाषा से मिलता भी क्या है? हमारे यहां इसकी परिभाषाएं दी गई हैं–'धारणाद् धर्म' या 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः सः धर्मः।' इन परिभाषाओं से क्या स्पष्ट होता है? मुकुंद जी के इस सारे विवेचन से यदि कोई परिभाषा निकाली जाय तो इसे 'कर्म का औचित्य' कह सकते हैं। किन्तु कर्म क्या है और उसमें औचित्य-अनौचित्य क्या है, इसका निर्णय कैसे किया जाय? यही सब तो संकट की बात है? दूसरे अध्याय का शीर्षक है 'यज्ञ, आचार, शिष्टाचार, परमधर्म।' इसमें **गीता, जैमिनीय ब्राह्मण** और **मीमांसा** को पक्ष बनाते हुए यज्ञ का और तब कर्म का बहुत गहरा विवेचन हुआ है। यज्ञ का मूल संदर्भ वैदिक कर्मकांड है जिसका केन्द्र अग्नि में आहुति डालना है। किन्तु इसका अर्थ क्या? अब अर्थ के प्रश्न पर जाएं तो उसकी गहराई का कोई अन्त नहीं। तब यह भी हो सकता है कि शब्द क्रमशः इतना गौण हो जाय कि उसका अपना कोई रूप ही नहीं बचे, वह पूरी तरह अर्थ में ही विलीन हो जाय। हमारी परंपरा में दोनों छोर बने रहे और दोनों का पृथक्-पृथक् सूक्ष्म विस्तार हुआ। शब्द (बाह्य) पक्ष का **मीमांसा** में और अर्थ पक्ष का **गीता, उपनिषद्** और **जैमिनीय ब्राह्मण** आदि में। मुकुंद जी ने इस अर्थ पक्ष का आगे विवेचन करते हुए इसे और गहराई और विस्तार दिया है। हमारी परंपरा ने ही यज्ञ के इस अर्थ पक्ष को विस्तार देते हुए संसार ही को ईश्वर के यज्ञ-कर्म के रूप में देखा है। किन्तु द्रष्टव्य है कि मुकुंद जी विचार करते हुए शास्त्र-परम्परा की भूमिका में नहीं रहते बल्कि शास्त्र को अपने विचार की भूमि पर ले आते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका शास्त्र से कोई विरोध है, या वे शास्त्र से अलग हैं, केवल इतना ही है कि वे अपना केन्द्र स्वयं हैं और शास्त्र इस केन्द्र से फैलते दिक् का एक आयाम बनता है। यहां एक उदाहरण देखें। वे किसी ब्राह्मण से, जिसके नाम का उन्हें ध्यान नहीं है और न जिसके नाम का ध्यान होना उनकी बात के लिए कोई अर्थ रखता है, मंत्र उद्धृत कर उसके अर्थ का विवेचन करते हैं। इस विवेचन के क्रम में वे इस मंत्र की सीमा से सहज ही बाहर निकल जाते हैं। वे कहते हैं–ऋत के "इस छंद को कर्म से जगाये रखना ही यज्ञ है। ब्राह्मण में ध्वनि यह जान पड़ती है कि ऋत का छंद हमारा जनक

होता हुआ हमारे स्वतंत्र प्रयत्न की मांग करता है। हम स्वतंत्र हैं, ऋत के उस छंद से अपने को अलग भी रख सकते हैं, पर तब हमारा जीवन सार्थक नहीं होगा। हमें अपने-आपको ऋत में ढालते हुए उसके स्पंद में चलना चाहिए। यही हमारा यज्ञ है–कर्त्तव्य है, धर्म है। इसी से हम ऋत के नित्य अमृत-स्वरूप में अवगाहन कर सकते हैं। प्रश्न उठ सकता है : हम अगर स्वतंत्र हैं, यज्ञ से मुँह मोड़ सकते हैं, तो फिर हममें वह क्या है जो हमें इस ओर प्रवृत्त करता है? ... बुद्धि तो और भी आदर्श दिखाती-बनाती ही है : हमारी सहज कामना के, प्रेयस् के मार्ग में हमें कामना-पूर्ति के उपाय-कौशल सुझाती है। फिर हम ऐसे यज्ञ की ओर क्यों मुड़ें जो परोक्ष है, सहज बुद्धि-सिद्ध नहीं है?'' (17-18) यहां यह ऊहापोह द्रष्टव्य है। इसमें शास्त्र से न केवल कुछ विपरीत नहीं है बल्कि उससे बाहर भी कुछ नहीं है, किन्तु तब भी यह उसकी आवृत्ति नहीं है, पदावली भी उसकी नहीं है। यहां शास्त्र लेखक के विचार के माध्यम से अपने मर्म को नये सिरे से देखता है।

मुकुंद जी ने अपने इस निबन्ध का नाम 'धर्म' नहीं रखकर 'धर्म-संकट' रखा है। 'धर्म-संकट' का अर्थ 'कर्त्तव्य-कर्म' के निर्णय को लेकर दुविधा उपस्थित हो जाना है–'किं कर्म किमकर्मेति?' यह दुविधा दो प्रकार से उपस्थित हो सकती है : कर्म की बाह्य परिस्थिति को लेकर – जैसे अपराधी को दंड देने में। दंड देते हैं तो उसके निरपराध बच्चे और पत्नी भी दंड के भागी हो जाते हैं और दंड नहीं देते हैं तो दंडनीय अदंडित रह जाता है। इसी प्रकार कई बार सत्य कहने में–सत्य कहूँ या नहीं? सत्य कहता हूँ तो अशुभ परिणाम होगा, नहीं कहता हूँ तो वचन की हानि होगी! दूसरे प्रकार की दुविधा कर्म के अपने तत्त्व को लेकर होती है। जैसे, क्या मैं दंड देने का अधिकारी हूँ? दंड देने का अधिकारी होने के लिए दंड-धर के चित्त में जो निर्मलता होनी चाहिए क्या मेरे चित्त में वह है? दूसरे, दंड-दाता को सकरुण होना चाहिए या निष्करुण? जो होना चाहिए क्या मैं वैसा हूँ? उससे पहले, हम यह जानें कैसे कि अमुक व्यक्ति दंडनीय है या नहीं? कर्त्तव्य-निर्धारण में यह सब ऐसा गुह्य पक्ष है कि इसके सत्य को पाना असंभव जैसा होता है। इस पर मुकुंद जी ने बहुत विस्तार से विचार किया है। इसके लिए **जैमिनीय ब्राह्मण** में 'यज्ञ में आहुति क्या दें' इस प्रश्न पर याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद को आधार बनाया गया है। जनक वैदेह याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि यज्ञ में आहुति किस सामग्री की दी जाय? यदि दूध, अन्न, अरण्य की कोई उपज कुछ नहीं हो तो किससे आहुति दी जाय? याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हैं कि ''कुछ भी न हो तो सत्य की श्रद्धा में आहुति दी जाय।'' अब इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ अभिधा से पाना असंभव है, इसका अर्थ केवल व्यंजना से संकेतित ही हो सकता है। मुकुंद जी इसके विवेचन की ओर पुस्तक में बार-बार लौटते हैं। यह ऐसे सत्य के दर्शन की बात है जो चित्त की अन्तर्गुहा के गहनतम तल में निहित होता है और परिणामतः जिसे चित्त के सारे मल धोकर चित्त में ही पाया जा सकता है। यह सत्य चित्त की निर्मलता से अभिन्न है। इस सत्य को तर्जनी के संकेत

से नहीं बताया जा सकता, इसलिए इसे देखने के लिए उतनी ही बार नया प्रयत्न करना पड़ता है जितनी बार देखने के प्रसंग उपस्थित होते हैं। न इसे युक्ति-तर्क से समझा जा सकता है। इसे केवल भाव में गहरे पैठकर ही पाया जा सकता है। संभवतः इसका अर्थ महात्मा कबीर ने एक दोहे में अद्‌भुत सहज भाव से व्यंजित किया है जिसका प्रथम पद है–'राम हमारा जप करे, हम बैठे आराम।' इस सब पर इस पुस्तक में बहुत ही विस्तृत और सूक्ष्म विचार हुआ है।

एक बहुत गहरे अर्थ में हमारी परंपरा में कर्म मात्र को ही संकट के रूप में देखा गया है। माना गया है कि कर्म अनिवार्यतः बंध-कारक होता है इसलिए कर्ममात्र से विरति होनी चाहिए। किन्तु कर्म मात्र की इस संकट-रूपता में 'संकट' शब्द का वाच्य वह नहीं है जो 'धर्म-संकट' में इस शब्द का वाच्य है। दूसरे प्रयोग में इसका वाच्य जबकि 'कर्म में निर्णय की दुविधा' है प्रथम में इसका वाच्य कर्म के होने मात्र की अश्रेयोमयता है। इस प्रकार 'धर्म-संकट' कर्म की स्वीकृति को पूर्वगृहीत करके चलता है। किन्तु ऊपर हमने कर्म के लिए जिस अधिकार की बात की है वह अधिकार कर्म में निष्कामता की, 'सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ' की अतिचैतसिकता की अपेक्षा करता है, जो बहुत कुछ कर्म-सन्न्यास ही है। इस वृत्ति में प्रेयस् के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें धर्म-संकट इस आत्मालोचन के प्रसंग में उपस्थित होता है कि 'क्या मेरी चित्त-स्थिति ऐसी है? यह कर्म करते हुए, यह निर्णय लेते हुए मैं 'वीतराग-भय-क्रोध' हूँ? किन्तु कठिनाई यह है कि लोक-जीवन में राग का अपना मूल्य है, कभी क्रोध भी वांछनीय होता है, भले ही यह राग और क्रोध सात्विक होना अपेक्षित हो! यहां विचारणीय हो सकता है कि सात्विकता राग और क्रोध में होनी चाहिए या कि कर्त्ता में? क्या सीता-विरह में राम का विलाप और रावण के प्रति क्रोध सात्विक थे या कि राम स्वभावतः सात्विक थे इसलिए उनका राग और क्रोध रावण के राग और क्रोध से भिन्न थे यद्यपि उनका राग और क्रोध राजसिक ही थे? द्रष्टव्य है कि तुलसीदास निरन्तर राम के राग और क्रोध को रागातीत और क्रोधातीत के अपने पर स्वैच्छिक आरोप के रूप में ही दिखाते हैं, यही बुद्ध के 'रचना-काय' होने का भी आशय है। काया जैविक और चैत्त दोनों प्रकार की, कोशों की पदावली में कहें तो चार प्रकार या स्तरों की, होती है और सबकी अपनी-अपनी वृत्तियाँ होती हैं। तब इनके अपने-अपने धर्म या वृत्तियां होंगी। इन सब स्तरों की काया का कर्त्ता के अधीन होना, कर्म के कर्तृत्व के लिए यह आदर्श स्थिति है। किन्तु लोक तो ऐसे नहीं चलता, मनुष्य तो अन्न-प्राण-मन और विज्ञान इन चार कोशों में रहता है, अधिकांशतः पहले तीन में ही। क्या इनमें रहते हुए उसका कोई धर्म-सम्बन्ध होता है या नहीं? यहां व्यवहार-लोक का एक व्यावहारिक उदाहरण लें : विवाह एक सामाजिक संस्था है किन्तु व्यक्तिगत राग उसका मूल घटक है। अब, समाज का इसमें कितना और कैसा स्थान हो? राम का विवाह दो परिवारों ने सीता से निश्चित कर दिया था। यदि स्वयंवर की बात ही लें तो स्वयंवर

की शर्त कोई सीता और राम ने तय नहीं की थी। उस शर्त का राम और सीता के परस्पर के प्रति अनुरक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसे में राम यदि सीता के बजाय सीता की किसी दासी में अनुरक्त हो जाते तो क्या होता? ऐसे में 'कर्म का औचित्य' कैसे निर्धारित हो? यहां 'राम की अनुरक्ति' का मूल्य और औचित्य समाज से निरपेक्षतः क्यों नहीं देखा जा सकता? किन्तु राम का रामत्व उनकी अपने को समाज की मर्यादाओं के अधीन कर देने की पराकाष्ठा में ही है। यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या यह उचित है? राम द्वारा सीता को दिये गए वनवास का औचित्य आज तक अनिर्णीत ही है। किन्तु द्रष्टव्य है कि निर्णय राम के विपरीत होने पर भी इससे राम की महत्ता में कोई बाट नहीं लगता, क्योंकि उन्होंने वह यज्ञ साधा था जिसमें सत्य श्रद्धा में आहूत है।

मुकुंद जी ने धर्म-विचार में प्रेय को समान महत्त्व दिया है, निःश्रेयस् के साथ प्रभव को भी तुला के दूसरे पलड़े में रखा है। उनके शब्दों में "श्रेयस् की हमारी साध यह होती है कि धर्म हमारे काम का, हमारे लोक का, हमारे प्रेयस् का निराकरण न करे, हमारी चाह के संसार के भीतर से ही किसी और गहरे औचित्य की प्रेरणा जगा सके–लोक का ही कोई श्रेयस्तर, ऊर्ध्वतर, 'लोकोत्तर' रूप साध सके। दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थ के रूप में धर्म का श्रेयस-बोध काम से युगनद्ध रहता हुआ ही काम करे।" (43) सच पूछा जाय तो धर्म के पुरुषार्थ रूप में अनुसन्धान की यही आत्मा है। यों तो काव्य मात्र, किन्तु विशेष रूप से **रामायण** और **महाभारत**, धर्म के इसी रूप का कथात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हैं। हमारी सांस्कृतिक परंपरा में **रामायण** और **महाभारत** काव्यों से अधिक धर्म-ग्रंथों के रूप में ही प्रथित हैं। **रामायण** में तो फिर भी 'धर्माविरुद्धो कामोऽहम्' की कथा ही है, बल्कि सबको नियंत्रित और गौण करते धर्म की कथा, किन्तु **महाभारत** में काम और अर्थ भी स्वतंत्र पुरुषार्थों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उस में अर्थ और काम से धर्माविरुद्धता की उतनी ही अपेक्षा दिखती है जितनी धर्म से कामाविरुद्धता की।

लोक अपने प्रकृत रूप में शुभाशुभ के विवेक से शून्य है। अपने प्रकृत रूप में यह प्रेयस् का निरपेक्ष अनुसंधान है। लोक में चेतना मानव में पहली बार श्रेयस् का भी साक्षात्कार करती है, जो अपने सहज रूप में लोक से बाहर, उससे ऊपर लक्षित होता है और मानव-चेतना को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस आकर्षण को निरपेक्षतः अनुसरणीय बनाकर भी कुछ व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं, किन्तु अधिकांश धर्म-अर्थ-काम को समन्वित कर ही जीवन का उत्कर्ष साधना चाहते हैं। यह साधना निरन्तर दुविधा को जन्म देती है। बहुत बार अर्थ और काम धर्मानुकूल हुए बिना धर्मानुकूलता की प्रतीति उत्पन्न करते हैं, कभी धर्म अर्थ और काम की स्वकीय श्रेयता को अश्रेयात्मक देखने की भ्रांति का जनक बनता है। यहां भी बहुत बार काव्य और कलाएं हमारी सहायता करती हैं, वे प्रेय के अपने अर्थ के गौरव को प्रकाश में

लाती हैं। उर्दू काव्य में धर्म की इस भ्रांतिजनकता का अत्यन्त विदग्ध निरूपण मिलता है। दर्शन-ग्रंथों में ऐसा प्रायः नहीं मिलता। इस **धर्म-संकट** पुस्तक के माध्यम से धर्म के लोक, या कहें अर्थ और काम, से समन्वित रूप की और लोक के धर्म से सन्तुलित रूप की बहुत गहरी और सुन्दर प्रस्तुति हुई है। कम से कम मेरी जानकारी में, धर्म विषयक इस प्रकार का लोक-जीवन को समेटता विचार अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है।

– यशदेव शल्य

विषय-सूची

आमुख

भूमिका – यशदेव शल्य

धर्म : कर्म का औचित्य 1

यज्ञ, आचार, शिष्टाचार, परम धर्म 14

हमारा मनुष्य-भाव : कथा और रस 39

आनृशंस्य 65

धर्म-विभाग और धर्म-संकट 87

व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म 117

सत्य और आनृशंस्य 149

अनुक्रमणिका 185

धर्म : कर्म का औचित्य

'धर्म-संकट' शब्द का अनुवाद अकसर 'मॉरल डिलेमा' किया जाता है। ऐसा नहीं कहूँगा कि यह अर्थ ठीक नहीं है। पर एक बात कहूँगा। 'धर्म' का अर्थ, मैं समझता हूँ, 'मॉरल' से मेल खाते हुए भी 'मॉरल' से भिन्न है : दोनों के आकलन के क्षेत्र कुछ सम होते हुए भी विषम हैं। धर्म का अर्थ मॉरल से अधिक व्यापक है। उसके अर्थ का प्रसार 'मॉरल' से बढ़ कर ही नहीं, हट कर भी है—'धर्म' जिन-जिन दिशाओं की ओर बढ़ता है उन सबको 'मॉरल' का पसारा नहीं समेट सकता।

एक बात और है। धर्म और मॉरल जैसी धारणाएँ—और सच पूछिए तो चिन्तन की हर धारणा—परम्परा विशेष में आँकी, परखी, उभारी जाती है। परम्परा विशेष के प्रश्न, युक्तियाँ, विवाद, अनुभव, दृष्टियाँ, इनके परस्पर भाव, धारणाओं को रूप देते हैं और रूप लेकर भी धारणाएँ स्थिर नहीं रहतीं—स्थिर हो जाएँ तो शायद चिन्तन के काम की ही न रहें। धारणाओं में रूपान्तर भी आते हैं, ये बहुरूपा भी होती चलती हैं।

पर यह सारा व्यापार परम्परा विशेष के प्रवाह में रह कर ही सम्पन्न होता है। सम्पन्न ही नहीं, सार्थक भी परम्परा विशेष के भीतर ही होता है। मनुष्य के अन्य कर्मों की तरह चिन्तन भी परम्परा-कर्म है, परम्परा-साध्य है। भिन्न होना, बहुरूप होना, परम्परा का स्वभाव, उसका धर्म है। आपत्ति हो सकती है, चिन्तन समष्टि-विशेष का नहीं, सार्वजनिक धर्म है और कोई धारणा अगर सचमुच चिन्तन का प्राण हो तो वह परम्परा से बंधी नहीं कहला सकती। जहाँ तक वह परम्परा विशेष तक सीमित है वहाँ तक वह चिन्तन के सर्व-सामान्य-भाव से बाहर भी है। इस बात से इन्कार नहीं करते हुए भी दो-एक बातों की ओर ध्यान दिलाता हूँ। मानव-जीवन और मानव-साधना में विशेष और सामान्य के बीच एक विलक्षण-सा युगनद्ध भाव होता है जिसमें एक गहरे विरोध का संकेत भी देखा जा सकता है। कला में विरोध का ऐसा आभास कुछ अनायास ही दिख जाता है। कला सामान्य को विशेष में ही साधती है। कला की परम्पराएँ भी स्पष्ट ही विशेष होती हैं। जिसके संस्कार एक परम्परा में दीक्षित हों उसके लिए दूसरी परम्परा में रसबोध के सामान्य तक पहुँचना सहृदय-भाव की एक साधना बन जा सकती है। संगीत जैसी कला में यह बात बिल्कुल उजागर भी है : पश्चिम के संगीत में प्रवेश हमारे लिए दूभर-सा होता है। साधना चाहता है, इसलिए कि उस संगीत का एक नितान्त विशेष रूप है। पर उसमें प्रवेश दुःसाध्य भले हो, असाध्य नहीं है। प्रवेश हो जाए तो उसमें रसबोध का अपनी तरह का सामान्य खुल ही जाता है। संगीत का विशेष पनपता-बढ़ता इसलिए है कि

स्वर और स्वर के सम्बन्ध, जिनसे संगीत बनता है उनकी उधेड़बुन, हर परम्परा की अपनी होती है।

विचार में भी यह बात होती है। परम्परा के प्रत्यय और उनके आपस में बुने गए सम्बन्ध हर विचार-परम्परा के अपने होते हैं। उनकी उधेड़बुन में—या चाहें तो कोई अच्छा शब्द लें, इसे 'ऊहापोह' कह लें—इस ऊहापोह में, इसके विस्तार में, वैसा ही विशेष और सामान्य का मेल होता है जैसा संगीत की परम्परा में। विचार में अगर हम सामान्य की मांग कुछ ज़िद के साथ करते हैं तो इसमें एक कारण स्पष्ट है : कला में विशेष की गरिमा अनुभव-सिद्ध है, जब कि विचार का क्षेत्र विशेष से ऊपर उठ कर ही बनता दीखता है। पर भूलना नहीं चाहिए कि संगीत जैसे स्वरों के सम्बन्ध से बनता है वैसे ही विचार धारणाओं के—प्रत्ययों के—सम्बन्ध से बनता है। प्रत्ययों के स्वरूप और सम्बन्धों में परम्परा-भेद हो सकता है। बल्कि होता ही है। प्रत्यय भाषा में होते हैं और इसलिए उनका एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद सम्भव है। पर 'धर्म' जैसे शब्दों में यह बात सामने आ जाती है कि अनुवाद की सम्भावना सीमित है। विशेष कर जब ऐसी भाषा में अनुवाद हो जिसकी विचार-परम्परा की जड़ें कहीं और हैं और जिसके बरगद का अपना स्वतन्त्र विस्तार है। किसी दूर तक अनुवाद का हो सकना कभी-कभी किसी धारणा को स्वरूप-च्युत ही नहीं विकृत कर देने का भी हेतु हो जाता है। 'धर्म' के साथ ऐसा ही हुआ है : इसे 'रिलिजन' का पर्याय माना जाने लगा है। 'रिलिजन' का क्या अनुवाद हो यह अपने आप में समस्या है। शायद 'मज़हब' ठीक हो—पर जो भी हो, कहना न होगा कि अनुवाद की यह समस्या धारणाओं के परम्परा की डोर से बँधे होने की ही है। हमारे यहाँ इस्लाम या ईसाई-पंथ जैसा कोई 'मज़हब' नहीं पनपा। यह नहीं कि 'धर्म' अनुभव के जिस क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है वह 'रिलिजन' के लिए बिल्कुल बेगाना है या 'रिलिजन' की दिशा में हमारे यहाँ बढ़ा ही नहीं। पर 'धर्म' की कहनी और रहनी के अनुभव ने हमारे यहाँ ठीक वैसी दिशा नहीं ली जो यहूदी परम्पराओं के प्रभाव में 'रिलिजन' और 'मज़हब' ने ली। साथ ही 'धर्म' ने कुछ ऐसी दिशायें भी लीं जिन्हें पश्चिम में 'रिलिजन' से भिन्न रखा गया है : जैसे 'मॉरैलिटी'। 'धर्म' के अर्थ की कुछ और भी दिशायें रही हैं जो इस धारणा को अपना विशिष्ट रूप देती हैं। आशा करता हूँ इस वैशिष्ट्य की झलक कुछ आगे की बातों में आती रहेगी।

विचार में सामान्य की मांग के पीछे आजकल एक बड़ा विचित्र सा विशेषधर्मी आग्रह दिखाई देता है जो हमारे लिए इतना सहज हो गया है कि विचित्र नहीं लगता। इस आग्रह को दुराग्रह ही कहना चाहिए, पर इस आग्रह के हम स्वयं भी ऐसे आग्रही बन बैठे हैं कि ऐसा कहते हिचकिचाते हैं। आज एक विशेष परम्परा अपने विशेष रूपों को ही सामान्य का एकमात्र स्वरूप बता रही है। हम उस परम्परा से अभिभूत ही नहीं, उसके संस्कारों में रंग चुके हैं : इस दावे के हम भी भागीदार हैं। पश्चिम की

परम्परा आज एकमात्र सार्वभौम परम्परा होने का दम भरती है। कहती है कि उसने जो विचार की भाषा साधी है वह विचारलोक की देवभाषा है, संस्कृत है, दूसरी भाषाएँ अपभ्रंश हैं। उनमें कही बात परिनिष्ठित तभी हो सकती है जब वे पश्चिम की 'संस्कृत' क्रा रूप लें।

अभी पिछले दिनों मैं हवाई, अमरीका, से निकलनेवाली **फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट** नाम की मशहूर पत्रिका में एक अमरीकन 'भारतविद्' और दर्शनाचार्य का लिखा रिव्यू पढ़ रहा था। प्रोफेसर शिवजीवन भट्टाचार्य ने प्रसिद्ध नव्य-नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के विख्यात, पर दुरूह, ग्रन्थ, **विषयतावाद** पर एक पुस्तक लिखी है। गदाधर के ग्रन्थ का अंग्रेज़ी में चलती हुई दार्शनिक भाषा में अनुवाद किया है। उस पर एक आधुनिक टीका भी लिखी है और उसके विषय की विशद विवेचना करते हुए गदाधर के विचारों को पश्चिम के कुछ अर्वाचीन विचारकों के साथ रख कर देखा है; गदाधर का वैशिष्ट्य दिखाया है। शिवजीवन भट्टाचार्य की टीका से प्रकट है कि पश्चिम के न्याय या तर्कमार्ग में कुछ ऐसे हाल में उठे प्रश्न हैं जिन पर नव्य-न्याय में पहले विचार हो चुका है। कहा जा सकता है कि उस विचार की सार्वजनीनता के साथ ही विचार की 'आधुनिकता' को दिखाना—यह शिवजीवन जी का प्रयास है। इस प्रयास में उन्होंने नव्य-न्याय के विचार को ऐसे रूप में भी हमारे आगे रखा है कि वह अब एक परम्परा विशेष के बंधन से निकल कर पश्चिम की परम्परा का भी अंग बन सके। पर उनके प्रयास पर और ऐसे दार्शनिक 'अनुवाद' मात्र के विषय में ही, रिव्यू-कर्त्ता अमरीकन आचार्य का आशय अद्भुत है : वे कहते हैं कि बात अब अंग्रेज़ी में आ गई है तो फिलॉसफी की 'मेनस्ट्रीम' में आ गई है, *अब* 'ग्लोबल'—'सार्वभौम'—हो सकती है—अब तक केवल एक परम्परा की बात थी! रिव्यू-कार के कथन में यह भी व्यंजना है कि गदाधर की चर्चा-विशेष अब जा कर 'सामान्य' हुई है क्योंकि अंग्रेज़ी में निबद्ध पश्चिम की उस विशेष परम्परा में आ गई है जो वास्तव में 'सामान्य' परम्परा है। आशय स्पष्ट है : पश्चिम के विशेष संवाद-विवाद का हिस्सा बने बिना कोई चर्चा संस्कृति विशेष में सार्थक हो भी तो मनुष्य-मात्र के लिए सार्थक नहीं हो सकती।

यहाँ इस 'ग्लोबल मेनस्ट्रीम' की धारणा पर कुछ विचार कीजिए। कहना न होगा कि यह धारणा दर्शन से नहीं इतिहास से सम्बन्ध रखती है। पश्चिम में इतिहास की एक प्रबल दृष्टि है जो मानव मात्र के इतिहास में एक प्रधान धारा (मेनस्ट्रीम) का प्रवाह देखती है। और इस प्रवाह को पश्चिम में रखती है। यह दृष्टि पश्चिम की परम्परा में एक विकास-विशेष को उभरता-पनपता देखती है और उसका मानव-मात्र के विकास के लिए एकमात्र कसौटी के रूप में आविष्कार करती है। अपनी इस विकास-धारा को 'ग्लोबल मेनस्ट्रीम' बताती है। इसमें शक नहीं कि अपने आप को सबके लिए कसौटी के रूप में देखने की बातें सभी परम्पराओं में किसी दूर तक होती

रही हैं। इन बातों को अहंकार-निष्ठ मोह-दृष्टि का सहज प्रपंच कह कर टाल दिया जाता है। क्योंकि कोई शक्ति और ऐश्वर्य के मद से भावित हो कर ऐसा सोचे-कहे तो अचम्भे की बात नहीं है—एक सीमा तक क्षम्य ही है। पर पश्चिम में आज यह भावना की नहीं ज्ञान की बात मानी जाती है। पश्चिम अपने दावे के पीछे विज्ञान का विवेक देखता है, मोह नहीं। पश्चिम ने जब से साम्राज्य-लाभ किया है और साइंस के बल पर ऐश्वर्य कमाना शुरू किया है तब से वहाँ जगत् को आँकने-समझने के लिए इतिहास के महत्त्व को भी चरम शिखर पर पहुँचा देने की प्रवृत्ति रही है। साथ ही इतिहास की उस दृष्टि का महत्त्व भी आज साइंस का भेस पहन कर आता है जो दृष्टि पश्चिम की संस्कृति और इतिहास को 'मेनस्ट्रीम' ठहराती है। यों तो अपनी नदी को कौन गंगा नहीं कहता, पर पश्चिम की गंगा इस दृष्टि के अनुसार कहने की नहीं वास्तव की गंगा है। विभिन्न संस्कृतियों के नदी-नालों से अलग, इतिहास की प्रमुख धारा है। अन्य धाराएँ इसी में समा कर इतिहास के सार्थक प्रवाह में प्रवेश पा सकती हैं। आज के 'आधुनिक' युग में पश्चिम अपनी बुद्धि और शक्ति के बल से एक तरह से साक्षात् ही 'ग्लोबल' हो भी गया है—पर, स्पष्ट ही, यह किसी प्रमुख धारा का प्रमाण नहीं हो सकता।

कहना न होगा कि इस दृष्टि का विरोध भी हुआ है। इसमें जो दम्भ की बू है उस की निन्दा की गई है। पर बात बार-बार उठ-उठ कर आती ही रहती है। पश्चिम में ही नहीं, पश्चिम से हावी हमारे मन में भी यह बात कहीं गहरी समा चुकी है। तमाशे की बात यह है कि दर्शन के वे आचार्य जो अपनी सत्य-सम्बन्धी विद्या, अर्थात् दर्शन में आज कहीं भी सत्य का संकेत ढूँढ़ नहीं पाते हैं, वे भी इतिहास जैसी, दर्शन से कहीं अधिक संशय-के-सौ-जाल-में-घिरी, सहज ही अनेकान्त विद्या में अनायास ही सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं। उनके लिए 'सत्यमेव जयते' जैसी बात तो मात्र आस्था और श्रद्धा की एक संदिग्ध सी बात है पर 'यज्जयते तत्सत्यम्' : जो जीतता है वह सत्य है : यह बात संदेह से अछूती, अपौरुषेय श्रुति हो गई है। मैंने एक ही आचार्य का यहाँ उदाहरण दिया है। पर इतिहास के बल पर पश्चिम को दर्शन की मेनस्ट्रीम समझना और अंग्रेज़ी को दर्शनलोक की सर्वसिद्ध भाषा मानना आज देश-विदेश के अधिकतर आचार्यों के चिन्तन का सहज विश्वास है। वे दूसरे सिद्धान्त मानें या न मानें, इसे मानते हैं। पहले यह स्वर था कि भारत में दर्शन है ही नहीं। आज उसी स्वर का लगाव कुछ बदल गया है। कहते हैं कि भारतीय दर्शन मेनस्ट्रीम के बाहर है—यह विचार की एक 'विशेष' परम्परा है जो 'सामान्य' बनने के लिए पश्चिम का पारस स्पर्श चाहती है।

हम भी इस दृष्टि के शिकार हैं, चाहे इसका तिरस्कार करें। विचार की किसी मुद्रा में इससे इनकार करते हुए भी हमारा मन इससे बंधा है। इसलिए भी कि विचार की हमारी अपनी भाषा नहीं बन पाई है। हम जब अंग्रेज़ी में नहीं सोचते हैं तो अंग्रेज़ी

के अनुवादजीवी से हो कर रह जाते हैं। पर अगर सामान्य की सृष्टि परम्परा मात्र का धर्म है तो हो सकता है कि अपनी परम्परा के विशेष का कुछ मंथन करने पर हम सामान्य के किसी सार्थक रूप को उभार सकें जो हमारा अपना भी हो।

फिर से 'धर्म' की धारणा पर आता हूँ। इस निबंध में मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि धर्म के स्वरूप में–या क्षेत्र में–एक आधारगत विरोध है जो धर्म-संकट के रूप में उभरता है। 'धर्म-संकट' शब्द हमारा परिचित शब्द है, पर इसका धर्म के मर्म से ही सम्बन्ध चर्चा का विस्तार चाहता है।

'धर्म' के अर्थ को दृष्टि में रख कर ही चर्चा में उतरा जा सकता है। मैं परम्परा में 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति और उसकी विशेष ध्वनि को पकड़ने के लिए यहाँ अर्थ-विचार करते हुए 'धर्म-संकट' में प्रयुक्त 'धर्म' के तात्पर्य को व्यावृत्त करने की ओर अपनी तरह से बढ़ूंगा। अपोह का सा मार्ग लेकर 'धर्म' का अर्थ आँकें तो शायद अर्थ की गति को कुछ सहज भाँप सकेंगे। इस शब्द का एक प्रयोग हमने अभी दो एक पैराग्राफ़ पीछे ही देखा : 'परम्परा का धर्म'; या पीछे प्रयुक्त शब्दों को यों का यों उद्धृत करें तो 'परम्परा मात्र का धर्म'। इस प्रयोग में 'धर्म' का अर्थ 'धर्म-संकट' के 'धर्म' से बिल्कुल अलग-सा लगता है। परम्परा के 'धर्म' की हम बात करते हैं तो संकेत परम्परा के 'स्वभाव' की ओर होता है, या उसके उस प्रवाह की ओर जिसे 'स्वाभाविक' कह सकते हैं। 'धर्म-संकट' में 'धर्म' का अर्थ 'स्वभाव' नहीं है। क्योंकि हम कह सकते हैं कि परम्परा *में* 'धर्म-संकट' उठे हैं, उठते हैं, और आगे उठेंगे ही। यों हम कह सकते हैं कि बहुरूप होने की तरह ही धर्म-संकट-मय होना भी परम्परा का *स्वभाव* है। इसी बात को 'परम्परा का धर्म' भी कह सकते हैं। 'धर्म' कहने का तात्पर्य यहां यह है कि हम किसी वस्तु के गुण विशेष की बात कर रहे हैं और उसको वस्तु के स्वरूप का अभिन्न अंग बता रहे हैं–कह रहे हैं कि वह वस्तु में निहित है, उसके होने का 'स्वभाव', उसका स्पन्द है। 'स्पन्द' से संकेत है कि परम्परा को वस्तु न कह कर व्यापार कहना अधिक ठीक है। तो 'धर्म' यहां परम्परा-रूपी व्यापार का स्वभाव-लक्षण है, ऐसा गुण जो उसके रूप को विशेषित करता है। 'व्यापार' या 'क्रिया' भी स्वभाव का विशेषण या लक्षण हो सकता है। क्रिया को इसी अर्थ में हम लेते हुए हम 'धर्म' के ऐसे प्रयोग करते हैं जैसे, "नीचे की ओर बहना पानी का धर्म है" या "मृत्यु प्राणी मात्र का धर्म है"। मरना क्रिया है या नहीं यह प्रश्न उठ सकता है–प्रश्न तो यह भी उठ सकता है कि परम्परा को क्रिया कहना ठीक है क्या? पर यह प्रश्न नहीं उठाऊंगा। मरने को क्रिया कहना वैसा असंगत नहीं

लगता। मरना प्राण की क्रिया का अवसान है; हाँ, यह विवादास्पद हो सकता है कि क्या क्रिया के अवसान को क्रिया कहा भी जा सकता है? पर क्रिया के अवसान का भी क्रिया से सम्बन्ध होता ही है। "मरना प्राणी मात्र की 'गति' (नियति) है" ऐसा भी कह सकते थे।

पर जो भी हो, 'धर्म' शब्द के इस अर्थ में 'धर्म-संकट' की बात अटपटी, बेतुकी सी लगती है। 'धर्म-संकट' की बात को वैसी किसी क्रिया या व्यापार की बात में नहीं ढाला जा सकता जिस अर्थ में पानी के, या प्राण के, या परम्परा जैसे व्यापार के धर्म की बात की जा सकती है। धर्म-संकट हमारे बोध को, चेतना को होता है, बुद्धि या विवेक को होता है। इसे स्वभाव के अर्थ में धर्म कहना हो तो चेतन वस्तु का स्वभाव कह सकते हैं–पर मनुष्य जैसी ऐसी चेतन 'वस्तु' का जिसे वस्तु कहने में ही संकोच होता है। धर्म-संकट को स्वभाव से जोड़ें तो यह ऐसे 'जीव' का ही स्वभाव हो सकता है जिसमें विवेक होता है, जो द्रष्टा-भाव में स्थित हो सकता है, स्वसंवेद से अपने-आप को देख-परख सकता है। ऐसे जीव के व्यापार को हम साधारण क्रिया से अलग करते हुए, 'आचरण' भी कहते हैं। वस्तुओं की तरह जीव की एक आकृति, एक कलेवर होता है जिसके कई व्यापार होते हैं। इन्हीं में आचरण एक विशेष 'व्यापार' है। आचरण जैसा व्यापार मनुष्य का स्वभाव-धर्म है–उसके मनुष्य होने का व्यापार है, बल्कि उसके स्वभाव-धर्म का व्यावर्तक लक्षण है। अन्य जीवों और वस्तुओं के व्यापार से उसे पृथक् करता है। आचरण स्वतन्त्र व्यापार है, 'उचित' प्रयत्न से होता है। उसका स्वातन्त्र्य यह है कि वह जो कुछ है उससे और प्रकार का भी किया जा सकता है। यह अन्यथा-करणीय व्यापार है। यह किसी जड़ वस्तु के निसर्ग, प्रकृति-सिद्ध व्यापार या क्रिया की बात नहीं है। यह *कर्म* की बात है, जिसका कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। और कर्म *साध्य* होता है इसलिए औचित्य की मांग करता है। धर्म औचित्य का तत्त्व है, उसे कर्म का साध्य भी कहा गया है या निकष या मार्ग। धर्म-संकट कर्म में होता है, क्रिया में नहीं।

कर्म और क्रिया का अन्तर और तरह से भी किया जा सकता है। अभी हमने जड़ वस्तु के स्वभाव या 'धर्म' के लिए 'प्रकृति-सिद्ध' शब्द सामने रखा। यहाँ 'सिद्ध' शब्द काम का है। क्रिया और कर्म के अन्तर का एक सूत्र इसमें ढूँढ़ा जा सकता है–इस रास्ते विचार किया भी गया है। क्रिया सिद्ध-धर्म है, यह वस्तु के स्वभाव में सहज समाविष्ट होती है। उसके होने के लिए कुछ करना नहीं होता जबकि कर्म में धर्म-संकट की बात उठती ही इसलिए है कि कर्म कुछ सिद्ध करने की क्रिया होती है–उसका लक्ष्य *साध्य* होता है। हमारे किए ही होता है। हमारे भीतर सहज ही प्रश्न जगाता है कि मैं क्या करूँ? क्या करना उचित होगा? कर्म से धर्म ही नहीं अधर्म भी किया जा सकता है। क्रिया में धर्म-अधर्म की बात ही वृथा है।

पर एक प्रश्न हो सकता है यहां। जड़ वस्तु के व्यापार से मनुष्य जैसे स्वचेतन जीव के व्यापार को अलग करने के लिए हमने उसे क्रिया न कह कर कर्म कहा, और कर्म से धर्म या अधर्म साधने की बात की। पर साथ ही कर्म को मनुष्य का स्वभाव भी बतलाया—स्वभाव के अर्थ में भी कर्म को मनुष्य का स्वभाव-धर्म कहा। पर धर्म अगर कर्म से साधा जाता है तो उसे मनुष्य का स्वभाव कहने का क्या अर्थ? स्वभाव तो सिद्ध होता है। हमारे कर्म द्वारा साधा नहीं जाता। क्या अर्थ है हमारा यहां 'स्वभाव' से? और धर्म अगर मनुष्य में स्वभाव-सिद्ध है तो क्या अंतर है धर्म के सिद्ध और साध्य रूप में? क्या सम्बन्ध है धर्म और कर्म में? ऐसे प्रश्नों को इस तरह से परम्परा में उठाया गया है या नहीं, नहीं जानता। पर इन प्रश्नों के सहारे हम अपनी तरह से परम्परा में कुछ पैठ पा सकते हैं। मनुष्य के स्वभाव को यहां एक सामर्थ्य कह सकते हैं—मनुष्य का कर्म करने में समर्थ होना उसमें सिद्ध है; यों उसका स्वभाव-धर्म है। पर जड़ वस्तु के 'सिद्ध' स्वभाव-धर्म से मनुष्य के इस 'सिद्ध' स्वभाव-धर्म में एक मर्म का भेद है। मनुष्य का कर्म कर पाना उसका सिद्ध स्वभाव-धर्म तो है, पर यही धर्म वे प्रश्न भी जगाता है जिन्हें 'साध्य' के प्रश्न कहा जा सकता है : कर्म क्या है? कर्म का औचित्य क्या है? इति-कर्त्तव्यता क्या है? इस औचित्य के स्वरूप या स्वभाव और इति-कर्त्तव्यता को भी धर्म कहा गया है, क्योंकि इनके बिना कर्म को कर्म ही नहीं कह सकते। तात्पर्य यह उभरता है कि धर्म और कर्म इन दोनों का स्वरूप ऐसा है कि वह सिद्ध ही नहीं साध्य भी होता है। कर्म और धर्म के सिद्ध होने का अर्थ ही यह है कि वह 'होता' ही इस अर्थ में है कि साध्य रहता है। और धर्म अगर मनुष्य के स्वभाव का निहित लक्षण है तो उसका स्वभाव भी किसी गहरे अर्थ में साध्य की कोटि में आता है। तभी मनुष्य को स्वतन्त्र कहा जाता है। जो चेतन जीव अपने व्यापार में जितनी दूर तक स्वतन्त्र है उसे सिद्ध नहीं कहा जा सकता। यहाँ और भी प्रश्न उठ सकते हैं। आगे के विवेचन में आशा करता हूँ कुछ प्रश्न खुलेंगे, बात बढ़ेगी।

धर्म में सिद्ध और साध्य का यह अविना-भाव या युगनद्ध-भाव क्रिया और कर्म के अन्तर का भी मर्म कहा जा सकता है। अन्तर यों भी मार्मिक है क्योंकि यह हमारे जगत्-बोध और आत्म-बोध के मर्म में स्थित है। मनुष्य को मनुष्येतर से अलग करता है। ग्रीस में अगर मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण रीज़न या बुद्धि किया गया है तो हम कह सकते हैं कि भारत की मनीषा के लिए मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही धर्म है : मनुष्य वह है जो धर्म साधता है। शेष जगत् के लिए धर्म किसी भी तरह की साधना नहीं होता।

साध्य के अर्थ में धर्म का लक्षण यों किया गया है : किं मया कर्त्तव्यम्?—मैं क्या करूँ?—इस प्रश्न का उत्तर है 'धर्म'। कर्म का औचित्य, उसकी इति-कर्त्तव्यता, बताता है धर्म। यहाँ एक बात और भी जोड़ दूं। धर्म 'मैं क्या करूँ' के प्रश्न का ही

नहीं, 'हम क्या करें' के प्रश्न का भी उत्तर ढूँढता है। व्यष्टि का ही नहीं समष्टि का भी धर्म होता है और दोनों में अन्तर भी होता हैं, सम्बन्ध भी। समाज के कर्म का औचित्य–लोकयात्रा का, लोक-व्यवहार का औचित्य–यह भी धर्म का ही प्रश्न है। बल्कि धर्मसूत्रों में, स्मृति, पुराणों में, जिस अर्थ में 'धर्म' आया है उसमें धर्म प्रधानत: लोकयात्रा और लोक-व्यवहार का ही धर्म है। व्यष्टि को वहाँ समष्टि में रखकर ही देखा गया है। तभी स्मृति-धर्म का एक प्रमुख अंग है संस्कार। संस्कार की धरती के बिना मनुष्य मनुष्य ही नहीं हो सकता, प्राणी भर रह जाता है। और फिर धर्म क्या?–यह प्रश्न ही उसके लिए नहीं उठ सकता। संस्कार मनुष्य को समाज में रह कर ही मिलता है। संस्कार क्या दिए जायें, यह समष्टि के धर्म का प्रश्न है। संस्कार पहले हमें दूसरे देते हैं फिर व्यष्टि के रूप में चाहे हम अपने-आप को भी संस्कृत बनाने की साधना करते रहें। समाज के बिना संस्कार की बात अर्थ नहीं रखती।

एक और पैठ का प्रश्न धर्म के विषय में उठाया गया है–या स्पष्ट ही ऊह्य रहा है–वह है धर्म एक है या अनेक? प्रश्न उठता ही धर्म को एक नहीं अनेक मान कर है। 'धर्म क्या है' के साथ ही हम पूछते हैं, 'धर्म क्या क्या हैं?' धर्म अगर मनुष्य का लक्षण है तो प्रश्न स्वाभाविक भी है, क्योंकि मनुष्य के कर्म का क्षेत्र एक नहीं अनेक हैं। अभी हमने संस्कार की बात की। संस्कार भी एक नहीं अनेक होते हैं। संस्कार क्या क्या हों? क्या क्या संस्कार उचित हैं? क्या कैसे दिए जाने चाहिएँ? संस्कारों का यों साध्य होना ही संस्कार को धर्म की कोटि में रखता है। पर यह भी स्पष्ट है कि संस्कार धर्म का सर्वस्व नहीं हो सकता। संस्कार तो एक तरह से धर्म की पहल है। संस्कार की धरती पर खड़ा होने के बाद ही मनुष्य स्वतन्त्र हो कर पूछता है कि वह क्या करे? फिर इति-कर्त्तव्यता के दूसरे क्षेत्र स्वत: आगे आ जाते हैं। परम्परा में इन क्षेत्रों को धर्म के भिन्न क्षेत्रों के रूप में आँका-परखा भी गया है। राज्य कैसे चले? राजधर्म का यह प्रश्न उठा है। कानून क्या हो? इस प्रश्न को 'व्यवहार-धर्म' के नाम से आँका गया है। इन प्रश्नों के ऊपर भी प्रश्न उठ सकते हैं, उठे भी हैं। क्या राजधर्म और व्यवहार-धर्म का एक ही आधार नहीं है? इन धर्मों में भेद है तो क्या है? बात राजधर्म की ही नहीं, राजनीति की भी हुई है। राजधर्म और राजनीति में अन्तर है क्या? यों तो दोनों कर्म के एक ही क्षेत्र से सम्बद्ध लगते हैं। तो क्या नीति और धर्म में भेद है? भेद है तो क्या भेद है? इन प्रश्नों के उत्तर हम परम्परा में ही नहीं, अपने चिन्तन में भी ढूँढ सकते हैं, क्योंकि प्रश्न आज भी सार्थक हैं। पर ध्यान देने की बात यह भी है कि ये प्रश्न अभी जिस रूप में मैंने उठाये हैं वे इस रूप में उठते इसलिए हैं कि 'धर्म' के विचार का एक संदर्भ हमारे यहाँ बन चुका है। उसका अपना एक विशेष विस्तार है। और तभी उस परिप्रेक्ष्य में उठाये गए प्रश्न एक विशेष दिशा की ओर अनायास मुड़ते हैं।

एक बात और लक्ष्य कीजिये। 'धर्म' शब्द का जो अर्थ ऊपर उभरता है वह उससे नितान्त भिन्न है जो 'सेक्यूलर' के अनुवाद में किए गए 'धर्म निरपेक्ष' शब्द में 'धर्म' का तात्पर्य बनता है। 'धर्म-निरपेक्ष' में स्पष्ट ही 'धर्म' 'रिलिजन' या 'मज़हब' का अनुवाद है। हम जिस परिप्रेक्ष्य की अभी चर्चा कर रहे हैं उस परिप्रेक्ष्य में यह अर्थ बेमेल है। हमारे परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' का अर्थ स्पष्ट ही 'मॉरैलिटी' के अधिक निकट है–पर उससे अधिक विस्तृत भी है : संस्कार-धर्म, राज-धर्म, व्यवहार-धर्म जैसे समष्टि-धर्म 'मॉरैलिटी' के संकेत से बाहर ठहरते हैं। पर 'घर्म-निरपेक्ष' के 'धर्म' से भी इन धर्मों का सम्बन्ध नहीं–बल्कि ये उसी क्षेत्र में आते हैं जो 'सेक्यूलर' का भी क्षेत्र है और जिस क्षेत्र में कर्म की बात सेक्यूलज़्म के लिए भी औचित्य के प्रश्न खड़े करती है। फिर एक बात और है। मनुष्य का लक्षण ही अगर धर्मशील होना है–जैसा कि हमारे यहां चिन्तन में गहराई से उभर कर आता है–तो मनुष्य धर्म-निरपेक्ष हो ही नहीं सकता; हाँ, वह धर्म के अनैक्य की, भिन्न क्षेत्रों की, बात कर सकता है, जैसी कि की गई है। 'सेक्यूलर' शब्द कर्म के किसी ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत नहीं करता जो उस कोटि से बाहर हो जिसे मनुष्य के लक्षण के रूप में 'धर्म' कहा गया है। धर्म का यह व्यापक अर्थ रिलिजन को भी व्याप्त करता है; रिलिजन में भी मैं क्या करूं?, हम क्या करें?, ये प्रश्न उठते ही हैं। रिलिजन को हम तभी धर्म के व्यापक पसारे के बाहर समझ सकते हैं अगर 'धर्म' का अर्थ ही सीमित कर दें, और उसे इतिकर्त्तव्यता के कुछ ही क्षेत्रों में घेर रखें। हमारी विचार-परम्परा में ढालकर 'सेक्यूलर' को समझना चाहें तो विचार एक नई दिशा ले सकता है। प्रश्न हो सकता है कि 'सेक्यूलर' की कोटि धर्म के किस विशेष क्षेत्र की ओर इंगित करती है? उसका विशेष लक्षण क्या है? अन्य धर्मों से उसका भेद क्या है? हम अपनी परम्परा में 'सेक्यूलर' को 'रिलिजस से भिन्न' के रूप में समझना चाहें, जैसा कि पश्चिम के प्रभाव से आज चलन है, तो समस्या ही होगी–'धर्म' को लेकर भ्रान्तियां बढ़ेंगी, जैसी बढ़ ही रही हैं। 'रिलिजस' की कोटि हमारे यहां नहीं बनती। उस दिशा में बढ़ना ही चाहें तो शायद मोक्षधर्म या आगम-धर्म की बात कर सकते हैं। पूछ सकते हैं इनसे संस्कार-धर्म, राजधर्म, व्यवहार-धर्म जैसे दूसरे धर्मों का क्या अन्तर है? विशेषकर आगम से अंतर की बात कर सकते हैं। आगम की भिन्न परम्परायें रिलिजन से लगती हुई सी दिशा लेती हैं। और भी प्रश्न उठते हैं, जो मैं समझता हूँ उठाये भी जाने चाहिएँ : सेक्यूलर में क्या राजधर्म और व्यवहार-धर्म जैसा कोई अन्तर है या नहीं है? है तो उसका रूप क्या? आधार क्या? क्या मूल रूप से धर्म का–कर्म के औचित्य का–क्षेत्र ही द्विविध–द्विस्वभाव–है?–'रिलिजस'-धर्म और 'सेक्यूलर'-धर्म? क्या दोनों में ऐसा स्वरूपगत भेद है कि दोनों को अलग ही रखना चाहिए? ऐसा मानने की युक्ति क्या? क्या मोक्षधर्म रिलिजन में समा जाता है, जैसा कि 'सेक्यूलर' के अर्थ में अभिप्रेत है? मोक्षधर्म व्यक्ति का धर्म है, पर रिलिजन को

व्यक्ति का धर्म कैसे कह सकते हैं?–उसके कर्म समष्टि के लिए विहित होते हैं, तभी सेक्यूलर मनीषा यह कहती है कि रिलिजिन को व्यक्ति का ही धर्म होना चाहिए, समष्टि का नहीं। इन उलझनों के पीछे उसी गहरी उलझन का संकेत है : 'सेक्यूलर' और 'रिलिजस' धर्म क्या सचमुच धर्म के दो भिन्न क्षेत्र कहे जा सकते हैं? 'सेक्यूलर' की बात 'रिलिजस' के विरोध में उठी है। पश्चिम में 'रिलिजस' धर्म, धर्म के सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व का दावा करता रहा है। उसके विपरीत उदय हुआ 'सेक्यूलर' भी अब वैसा ही दावा करता है। धर्म के स्वरूप और साध्य को भिन्न रूप से देखता है। धर्म का आधार ईश्वर के स्थान पर बुद्धि में ढूँढता है। पर दावा यही करता है कि मनुष्य की सारी इतिकर्त्तव्यता का वही आधार है। रिलिजन के लिए कोई स्वतन्त्र क्षेत्र वह छोड़ता भी है तो उसे भ्रांत मानता हुआ ही छोड़ता है। रिलिजन के लिए छूट सचमुच की छूट नहीं है, न धर्म के अनेक होने का सच्चा स्वीकार है। और भी प्रश्न उठ सकते हैं यहां, पर मैंने जो संस्कार-धर्म, राजधर्म, व्यवहार-धर्म, मोक्षधर्म की बात की है उसे कुछ आगे बढ़ाता हूँ।

संस्कार, राज्य और व्यवहार ये तो साफ ही समष्टि के धर्म हैं। पर समष्टि-धर्म व्यष्टि के बिना भी रूप नहीं लेते। क्या व्यष्टि का अपने प्रति कोई धर्म नहीं है? व्यष्टि अगर स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र होना ही अगर उसे धर्म के द्वार पर ला खड़ा करता है तो क्या धर्म उसे अपने प्रति भी कर्त्तव्य के प्रश्न से बाँध नहीं देता? धर्म स्वतन्त्र हो कर किया गया कर्म है, पर कर्म, चाहे जैसा भी कर्म हो, स्वतन्त्र-भाव की उन्मुक्त, 'निष्कर्म' स्थिति नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि स्वातन्त्र्य कर्म से भी क्यों बंधा हो? कर्म हमारा विशुद्ध स्वतन्त्र भाव नहीं हो सकता। है उससे इतर ही। अपने स्वतन्त्र-भाव में यों स्थित हो जाना कि स्वातंत्र्य अपने हर इतर से मुक्त हो जाए–संस्कार से, समाज से, जगत् से, और धर्म के भी औचित्य चुनने के दायित्व से निर्बाध हो जाए–क्या यही वास्तव स्वतन्त्रता नहीं है? यही साध्य नहीं है? हमारे यहाँ यह साध्य प्रबल रहा है, सर्वथा स्वतन्त्र हो जाने की साधना व्यापक और प्रखर रही है। इस चरम स्वतन्त्र भाव को, इस 'मुक्ति' को, 'परम' साध्य माना गया है–सब साध्यों का साध्य। धर्म के जो विभिन्न क्षेत्र आँके गए हैं, उनको देखें तो उनमें एक सोपान दिखाई दे सकता है जो मुक्ति की ओर बढ़ता है। संस्कार को हम स्वतन्त्र होने की यात्रा का 'अथ' कह सकते हैं और मोक्ष को उसकी 'इति'। संस्कार हमें मनुष्य के स्वभाव-धर्म में ला खड़ा कर स्वतन्त्र कर्म का अधिकारी बनाता है। 'धर्म' के साध्य रूप का द्वार खोलता है, पथ प्रशस्त करता है। कर्म के कई मार्गों में हमें ले जाता है–हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र-भाव की परिधि बढ़ाता है। पर साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि उसके बंधन का ही विस्तार करता है–जिससे निकलने की प्रेरणा भी हममें जगाता है। लग सकता है कि स्वातन्त्र्य की गति अगर धर्म है तो उसकी स्थिति, उसका आत्मस्थ होना मोक्ष है। यही स्वातन्त्र्य का परम साध्य हो सकता है।

पर इसे व्यक्ति की ही साधना माना गया है, समष्टि की नहीं। और जहाँ तक यह साधना है, यह भी एक कर्म है, इसकी भी एक इति-कर्त्तव्यता है। इसी की चर्चा मोक्षधर्म में होती है। स्पष्ट ही राजधर्म आदि से यह मूलतः भिन्न धर्म है।

धर्म के साध्य में यह मूलस्पर्शी भेद कुछ और प्रश्नों की ओर भी हमें बढ़ाता है। संस्कारधर्म, राजधर्म जैसे विभिन्न धर्मों में इतिकर्त्तव्यता का भेद क्या है? औचित्य का भेद क्या है? भेद का आधार क्या है? उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है? ये प्रश्न उठते हैं। उठे भी हैं। नये प्रश्न भी उठाये जा सकते हैं—जैसे, धर्म-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो जाता है क्या? और अगर हाँ, तो सभी को 'धर्म' कहने का क्या औचित्य होगा? हमारे यहां 'परम-धर्म' की भी बात की गई है। धर्म के अनेक में किसी परम एक आधार की जिज्ञासा के कारण ही 'परम-धर्म' की बात की गई है। पर यह भी कुतूहल की बात है कि **महाभारत** में जहाँ परम धर्म का प्रश्न एक परम प्रश्न बन कर आता है, वहां परम धर्म एक नहीं अनेक गिनाये गए हैं : अहिंसा, आनृशंस्य, आचार...। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' कहा गया है।

ऊपर के हमारे विमर्श ने धर्म पर विचार के जो सूत्र उभार कर आगे बढ़ाये हैं उनको अब कुछ विस्तार से, कुछ इतिहास को भी सामने रखते हुए, आपके आगे रखने की चेष्टा करूँगा। या यों कहना ज्यादा ठीक होगा कि इस विषय में विचार की जिन गतिविधियों को मैं सार्थक समझता हूँ, जिनसे मेरे अपने विचार को उन्मेष मिला है, उनको आपके भी आगे रखना चाहूँगा।

मैंने अब तक जो कहा उसमें यही ध्वनि है कि धर्म का द्वार स्वातन्त्र्य का द्वार है। हमारा स्वभाव-धर्म हमें स्वतन्त्र करता है और हम स्वतन्त्र होकर उस धर्म की साधना करते हैं जो कर्म का औचित्य है। पर धर्म क्या सचमुच स्वतन्त्र साधना है? स्वतन्त्र होने की बात सुनने में तो भली लगती है, पर क्या भारत में धर्म का काम बिल्कुल उल्टा नहीं रहा है? क्या हमें बाँध कर जकड़ देने का काम नहीं किया है धर्म ने? लगता तो यही है कि उसने द्वार खोलने की जगह हमें द्वारहीन रूढियों में कसने का काम ही किया है। हमारे यहाँ के विचार और कर्म में अगर 'मैं क्या करूँ?' और 'हम क्या करें?' ये प्रश्न उठे भी हैं तो क्या इन्हें उठते ही चुप नहीं कर दिया जाता रहा है? ये सिर उठा ही कहाँ पाये हैं? धर्म हमारे यहाँ प्रश्न नहीं उत्तर जगाता रहा है। प्रश्न केवल प्रश्न-से-अस्पृश्य उत्तर के प्रवचन का सहारा बन कर रहा है।

बात एक हद तक सही है। पर धर्म को प्रश्न की चोट से बचाने की प्रवृत्ति भारत की ही नहीं संस्कृति मात्र की एक प्रधान प्रवृत्ति है। इसके बिना व्यवहार का चलना ही बाधा की चपेट में फँस कर अचल हो जा सकता है। लोकयात्रा को कोई ऐसा आधार चाहिए जिसमें स्थायी भाव हो, रूढ़ि की रीढ़ हो, नहीं तो लोकयात्रा पंगु हो जाएगी। हर संस्कृति, हर व्यवस्था इतिकर्त्तव्यता के एक ढाँचे को, एक वलय को,

संशय से परे हटा कर बुद्धि के निरन्तर ऊहापोह के वार से बचा लेना चाहती है। संस्कार का एक यह भी काम है। और इसीलिए धर्म को बुद्धि के प्रपंच से हटा कर किसी ऐसी प्रज्ञा में स्थापित कर देने की भी प्रवृत्ति सहज है जिस प्रज्ञा में धर्म के एक अटल, ध्रुव तत्त्व का अ-प्रश्न-दिग्ध प्रत्यक्ष हो सके। इसी दृष्टि से ईश्वर को धर्म का प्रवक्ता बनाया जाता है : बाइबल जैसी आचार-संहिता का रचयिता। या वेद को धर्म का प्रमाण कहते हुए उसे किसी ऐसी 'अपौरुषेय' वाक् में स्थिर कर दिया जाता है जो पुरुष मात्र के अज्ञान और अहंकार से, मोह से अछूती है–'पुरुष' से यहाँ तात्पर्य बुद्ध या महावीर जैसे 'सिद्ध', पहुँचे हुए, पुरुषों से भी होता है, साथ ही ईश्वर से भी है जिसे 'परम' पुरुष कहा जाता है। ये मनुष्य के सहज अनेकान्त से धर्म को बचा रखने के जाने-माने मार्ग हैं। इन्हीं मार्गों को आज रिलिजन के अर्थ में धर्म कहा जाता है। भारत में ऐसे एक नहीं अनेक मार्ग रहे हैं। रूढ़ि रही है, पर रूढ़ि में अनेक की स्वीकृति भी रही है। कहते हैं कि रीज़न से उपजे हुए धर्म, जैसे कि आज के सेक्यूलर कहलाने वाले धर्म हैं, ऐसे धर्म प्रश्न का द्वार खुला रखते हैं। पर सेक्यूलर की भी रूढ़ियां हैं ही। सच पूछिए तो धर्म में प्रश्न के द्वार को बन्द किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि धर्म के स्वरूप में ही धर्म-संकट निहित है। धर्म-संकट की बात प्रश्न की तो बात है ही। पर बुद्धि के प्रश्न से कहीं तीखा, कसैला प्रश्न होता है धर्म-संकट का प्रश्न। धर्म-संकट प्रश्न तो उठाता ही है पर और गहरे उतर जाता है। हमारे मर्म में दुविधा जगाता है। हमें अन्दर से किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देता है। प्रश्न अगर केवल बुद्धि की पहेली होती तो उसे निरन्तर बूझते रहा जा सकता था। पर बात मनुष्य की साँस के साथ उलझी होती है।

हमारे स्वतन्त्र होने का अर्थ ही है साध्य का अनेकान्त होना। नहीं तो स्वातन्त्र्य कैसा? साध्य के अनेकान्त में ही जिज्ञासा कचोटती है–धर्म क्या है? पर प्रश्न के अंत्र में साध्य की इतिकर्त्तव्यता अनेकान्त से हट कर किसी *एक* अध्यवसाय पर आ खड़ी होना चाहती है। नहीं तो कर्म संभव नहीं। तभी धर्म में हम यह भी खोजते हैं कि उसका वह स्वरूप क्या है जो प्रश्न से परे है? एक और अनेक के इस विरोध से कोई छुटकारा नहीं। पर विरोध से छूटे बिना व्यवहार ही सम्भव नहीं होता। माना, धर्म का स्वरूप ही ऐसा है कि वह सदा साध्य ही रहता है, उसमें अन्यथा होने की सम्भावना बनी रहती है, यों वह बँध नहीं सकता, पर विडम्बना यह भी है कि किसी 'सिद्ध' धर्म की धरती पर खड़े हुए बिना जीना ही सम्भव नहीं। धर्म के किसी सिद्ध रूप का आग्रह इसीलिए इतना तीव्र है। मनुष्य का रहना–या रहनी कहना चाहिए–वही इस पर निर्भर है।

यहाँ विचार के लिए एक बड़ा संकट और भी उभरता है। एक उलझन है जो आज पश्चिम में एक नया और टेढ़ा सवाल जगाती है–जिसे धर्म-जिज्ञासा की नई पकड भी कहा जाता है। वैसे 'पकड' की यह बात भारत में मीमांसकों के साथ ही.

उनकी 'धर्म-जिज्ञासा' में (धर्म क्या है?—या क्या हो? इस प्रश्न के विचार में) बहुत पहले ही उठ चुकी है। हमने ऊपर कहा था कि धर्म को बुद्धि के घेर से हटा कर उसे 'अपौरुषेय' कहा गया है : धर्म का प्रमाण वेद हैं और वेद किसी 'पुरुष' की रचना नहीं है। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है। पर मीमांसक इसके पक्ष में बुद्धि का भी सहारा लेते हैं। युक्ति-विचार से इसकी पुष्टि करते हैं। बुद्धि के बल पर ही धर्म को बुद्धि के ऊहापोह से परे रख देने की बात करता है मीमांसक। अपौरुषेय वेद को धर्म का प्रमाण बताने के लिए मीमांसा का एक गहरा तर्क है : मैं क्या करूँ, मेरे लिए क्या करना उचित होगा? इस प्रश्न का उत्तर बुद्धि के प्रमाणों से मिल ही नहीं सकता। बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और उस पर आधारित अनुमान का आश्रय ले कर प्रमाण-अप्रमाण, सत्य-असत्य की बात करती है। वस्तु क्या है? उसका स्वरूप, व्यापार, गुण-धर्म क्या है? वस्तुओं के सम्बन्ध क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर साधती है। उसकी यह साधना वस्तु के स्वरूप को बना-बनाया, पहले से सिद्ध मान कर चलती है। वस्तु है—जैसी है वैसी ही है। उसके सम्बन्ध भी पूर्वसिद्ध हैं। बुद्धि का काम प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा उसके बने-बनाए रूप को परख लेना है। पर धर्म क्या है? इसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा हो ही नहीं सकता। 'क्या है'?, इस प्रश्न के किसी भी उत्तर से 'मैं क्या करूँ'?, 'क्या होना चाहिए'?, ऐसे प्रश्नों के उत्तर नहीं मिल सकते। उसके लिए कोई दूसरा प्रमाण चाहिए जो क्या करना चाहिए, इसके विधि-निषेध बतलाये। और शब्द-मय हो—क्योंकि विधि-निषेध भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। यह प्रमाण वेद है।

❐

यज्ञ, आचार, शिष्टाचार, परम-धर्म

मीमांसा की युक्ति में गहराई हो पर वहाँ धर्म का स्वरूप बड़ा संकीर्ण है। कर्म को मनुष्य के जीवन और आचरण के बृहत् प्रांगण से निकाल कर कर्मकाण्ड के छोटे से घेरे में बाँध दिया गया है—क्योंकि मीमांसा के लिए 'वेद' जिस कर्म का आदेश-उपदेश देता है वह प्रधानतः यज्ञ का कर्मकाण्ड है। जैसे कर्म बस एक अनुष्ठान हो। यज्ञ का अनुष्ठान। अन्य कर्मों का भी कुछ विधान है। पर एक तो इनका वलय यज्ञ करने वाले गृहस्थ के अन्य कर्मों तक सीमित-सा है, और फिर ये कर्मकाण्ड के अंग से ठहरा दिए गए हैं। यज्ञ के आनुषंगिक हैं। मनुष्य का एक-दूसरे के प्रति आचरण, व्यवहार क्या हो, व्यक्ति के जीवन का, समाज के कर्म का, कर्म की व्यवस्था का औचित्य क्या हो?—धर्म के ये मार्मिक प्रश्न वहाँ प्रश्न ही नहीं हैं।

यह सम्भव था कि यज्ञ की धारणा को ही व्यापक रूप दिया जाता—हम जो कुछ करते हैं सब यज्ञ है। **गीता** में यह बात बहुत उभर कर आई भी है। पर मीमांसा की मनीषा के लिए यह बात पराई है। **गीता** को तो चलिए बाद का ग्रन्थ ठहराया जा सकता है और माना जा सकता है कि **गीता** जब तक हमारे मानस पर छाई तब तक मीमांसा की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि इतनी जड़ पकड़ चुकी थी कि **गीता** का प्रभाव उस पर कम ही पड़ा। पड़ा भी तो मीमांसक ने **गीता** को अपने ही साँचे में ढाल कर देखा।

गीता बाद की रचना हो सकती है, पर वेद तो बाद के नहीं हैं : वेद की ही मीमांसा करते हुए मीमांसा अपने को मीमांसा कहती है। वेद के अन्तर्गत भी वेद का ब्राह्मण-भाग मीमांसा के लिए वेद का प्राण और प्रमाण है। ब्राह्मणों का एक प्रधान काम यज्ञ-क्रिया का वर्णन है। लक्ष्य करने की बात यहां यह है कि ब्राह्मणों में यज्ञ किया कैसे जाए, यह प्रश्न दुविधा का भी प्रश्न होता है—बार-बार उठता है, भिन्न उत्तर दिए जाते हैं, और उत्तर को 'मीमांसा' का ही नाम दिया गया है : 'अत्र मीमांसते', यह वाक्य **जैमिनीय ब्राह्मण** के कई प्रसंगों में आया है। इन्हीं वर्णनों को सुसंगत करना परवर्ती मीमांसा अपना काम समझती है। इन वर्णनों में जो परस्पर विरोध है, असंगतियाँ हैं, उनके समाधान का, समन्वय का बीड़ा मीमांसा ने उठाया है और इसमें वह अपने-आप को प्रमाण मानती है। मीमांसा में जो और विचार हैं, दर्शन का जो अपना अलग मार्ग है, वह समाधान, समन्वय के इस प्रधान कर्म का ही पसारा है। पर ब्राह्मणों में यज्ञकर्म का वर्णन ही नहीं है, यज्ञ के मर्म पर भी अपनी तरह का विचार है, जिसका प्रकाश प्रतीक, लक्षणा या व्यंजना की भाषा में हुआ हो पर इस विचार का तात्पर्य इतना ओझल सा भी नहीं है कि कुछ पकड़ में ही न आ सके।

मीमांसा यज्ञ को देवता के नाम पर द्रव्य-त्याग कहती है। द्रव्य का त्याग अग्नि में करने का विधान है और जिन द्रव्यों के त्याग का विधान है वे ऐसे ही द्रव्य हैं जिन्हें हम आम भाषा में भी द्रव्य कह सकें—खाने-पीने के, आठ पहर के उपयोग के द्रव्य। जैसे घी, दूध, जौ, पानी...। कौन सा द्रव्य कब कैसे किस यज्ञ में त्याग के काम आएगा, इसका ब्राह्मणों में विधान है, विधान-भेद भी है, और ऐसे ही विधानों की मीमांसा मीमांसक करते हैं।

पर **जैमिनीय ब्राह्मण** का पहला ही वाक्य लीजिए—यह ब्राह्मण पीछे का भी नहीं बहुत प्राचीन माना जाता है। दूसरे ब्राह्मणों की तरह इस ब्राह्मण में भी यज्ञ का वर्णन है। ब्राह्मण का पहला ही वाक्य 'द्रव्य' और उसके 'त्याग' के बारे में है—प्रसंग अग्निहोत्र का है जो 'नित्य' यज्ञ माना जाता है, अधिकारी गृहस्थ मात्र के लिए नित्य-प्रति अवश्य-करणीय। **जैमिनीय ब्राह्मण** का आरंभ है : "*तद् आहुः केन जुहोति कस्मिन् हूयत इति। प्राणेनैव जुहोति प्राणे हूयते* —पूछा जाता है कि आहुति किस से दी जाती है और किस में दी जाती है? आहुति प्राण की दी जाती है, और प्राण में ही दी जाती है।" आगे बात को समझाते हुए ब्राह्मण यज्ञ को एक गम्भीरतर सृष्टि और जीवन कर्म के प्रतीक के रूप में लेता है : "याज्ञिक अरणि का मथन करता हुआ अग्नि का समिन्धन करता है—यों यजमान के प्राणों को जन्म देता है। अरणि जल कर भस्म रह जाती है। यह उसके (यजमान के) अन्न का उपजना है। इस (भस्म ने) मेरा अन्न उत्पन्न किया, यों जानना चाहिए। अन्न (की आहुति) से धूम उत्पन्न होता है। यह (यजमान के) मन की उत्पत्ति है। इससे मेरा मन उत्पन्न हुआ, यों जानना चाहिए। अंगारे बन जाते हैं। इस से (यजमान की) चक्षु उत्पन्न होती है। इससे मेरी चक्षु उत्पन्न हुई, यों जानना चाहिए। यह अंगार भस्म के ढेर का ग्रास करता है। जैसे शिशु जन्म लेकर स्तन की ओर बढ़ता है, यों तिरछा ऊपर की ओर उठता है। यह (यजमान के) श्रोत्र की ही उत्पत्ति है। इस से मेरा श्रोत्र उत्पन्न हुआ, यों जानना चाहिए। प्रभा उद्दीप्त होती है। यह (यजमान की) वाक् का ही उत्पन्न होना है। यह मेरी वाक् उत्पन्न हुई, यों जानना चाहिए। (यों) वह पाँच प्राणों को जन्म देता है। उन को तीन (अग्नियों) में सजा कर (उन्हें) देवता बनाए, उनमें आहुति देता रहे। (ये) देवता ही उसके देवता हो जाते हैं। वे ही उसके देवता होते हैं जिनमें आहुति देता रहता है। इसीलिए यह जो कहा जाता है : किस की आहुति देता है, किस में आहुति देता है, (तो) प्राणों की ही प्राणों में ही आहुति देता है। इस अन्न की प्राण में आहुति देता है। अन्न की कामना करता हुआ वह इन प्राणों की पुष्टि करता है, उनमें आहुति देता रहता है। यह जो हवि है यही ब्राह्मण का स्वर (उस का स्वर्ग, उस की चरम आहुति) है। (इस आहुति को) वह आत्म में डालता है, इन अमृतमय प्राणों में। उसकी आत्मा में यों दी गई (आहुति) का नाप-तौल नहीं होता (न प्रमीयते)। जब मन उत्क्रमण करता है, जब प्राण (उत्क्रमण करता है), जब श्रोत्र,

वाक् (ये उत्क्रमण करते हैं), इन अग्नियों की ओर ही बढ़ते हैं। इस शरीर को इन अग्नियों में फिर से बींध देते हैं। (मन्त्र है) : इससे तुम्हारा जन्म हुआ है, तुम से इस का जन्म हो, स्वाहा। यों वह आहुतिमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, वाक्-मय, ऋक्-मय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय, हिरण्मय, अमृत हो जाता है। उसके प्राण अमृत हो जाते हैं। शरीर को अमृत करते हैं। वह अमृत को प्राप्त होता है जो यों जानता हुआ अग्निहोत्र करता है।" (**जैमिनीय ब्राह्मण**, आचार्य रघुवीर और लोकेशचन्द्र सम्पादित, विक्रमाब्द 2011, प्रथम काण्ड का पहला अनुवाक्, पृ. 1-2)

यहाँ यज्ञ की धारणा में एक सर्वांगीण, जीवन-में-सर्वव्याप्त भाव है जिसकी छाया भी मीमांसा में कहीं दिखाई नहीं देती। माना कि ऐसे प्रतीक और ध्वनिमय प्रसंगों का अर्थ करना दूभर होता है—दृष्टि की ठोस पकड़, बात बिल्कुल हाथ में आ गई, ऐसी पकड़ के बाहर ही रहता है। पर ठोस को ही हाथ में थामना हो तो मीमांसा का फिर काम ही क्या है? ठोस वह ठोस ही क्या जो अपने आप ही दृष्टि को घेर कर खड़ा न हो जाए! और फिर यह भी देखिये कि कोई भी मीमांसा एक बार शुरु हो ले तो फिर ठोस से ठोस बात को विचार की हवा में उड़ते देर कहाँ लगती है—यह बात भी किसी मीमांसक से छुपी नहीं रहती। यों भी बात यहां ठोस और बेठोस की नहीं, प्रवृत्ति और प्रेरणा की बात है। हमारी प्रवृत्तियाँ अगर स्थूल हैं तो सूक्ष्म भी हैं। और फिर जहाँ बात ही यह हो रही है कि प्रवृत्ति क्या है, उसका औचित्य क्या है, वहाँ मनुष्य की सूक्ष्म वृत्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रश्न ही सूक्ष्म की ओर ले जाता है। मीमांसा सूक्ष्म से कतराती है। अभी हमने जैसे प्रसंग की चर्चा की उसके बारे में मीमांसा का पैंतरा यह होता है कि मीमांसक ऐसे प्रसंगों को 'अर्थवाद' कह देते हैं—कहते हैं कि ऐसी बातों का यज्ञ के वास्तव, 'ठोस' स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, इन से यज्ञ का *अनुष्ठान* कैसे किया जाए इसका कोई विधि-निषेध सामने नहीं आता; ये सुनने में बड़ी सार्थक सी लगती हों पर इन का अर्थ करो तो बातों के जंजाल के सिवा मुट्ठी में कुछ नहीं बचता। ये बातें लुभाती हैं—और बस यही इन का काम है। यज्ञ को लुभावना रूप दे कर ये हमें यज्ञ की ओर प्रवृत्त कर देती हैं। पर यज्ञ क्या है, कैसे होता है, इस का उत्तर ऐसे अर्थवादों में नहीं, वेद में अन्यत्र मिलता है जहाँ ठोस, पकड़ में आने वाले द्रव्य और उसके त्याग के साक्षात् किए जा सकने वाले तरीके बताये गए हैं।

पर मीमांसा न सही, ऐसे प्रसंगों पर हम तो विचार कर ही सकते हैं। इसमें निहित अर्थ का हम अपना-सा विस्तार कर सकते हैं। ऐसा भी नहीं कि ऐसे विस्तार का परम्परा में आदर नहीं। आदर न होता तो उपनिषद् और गीता का भी आदर न होता। पर प्रसंग पर विचार करने से पहले इस प्रसंग के कुछ ही बाद आने वाला, इसी भाव को आगे बढ़ाने वाला एक और प्रसंग आपके आगे रखता हूँ। यह प्रसंग यज्ञ के स्वरूप की 'मीमांसा' का ही है, हालांकि मीमांसकों की मीमांसा से बहुत दूर

है—और फिर 'अत्र मीमांसते' जैसा कोई वाक्य भी यहाँ नहीं आया है, जैसा ब्राह्मण में अन्यत्र मिल जाता है। प्रसंग पर आता हूँ।

"जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा : अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्क्य? जानता हूँ, याज्ञवल्क्य ने कहा। क्या है? दूध है। पर दूध न हो तो किस से आहुति दी जाए? जौ और धान से। जौ और धान न हों तो किस से आहुति दी जाए? किसी और अन्न से। कोई और अन्न न हो तो किस से आहुति दी जाए? अरण्य की उपज से। अरण्य की उपज न हो तो किस से आहुति दी जाए? पानी से। पानी न हो तो किस से आहुति दी जाए? अगर यहाँ आहुति देने के लिए कुछ भी न हो तो सत्य की श्रद्धा में आहुति दे। (जनक ने) कहा : तुम अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्क्य। तुम्हें नमस्कार है। भगवन्, सहस्र तुम्हें दूँगा।" (**जैमिनीय ब्राह्मण**, वही, 1, 19, पृ. 10)।

पहले प्रसंग में जीवन को ही यज्ञ समझा गया है। प्राण-धारण यज्ञ-मय है। या यों कहना चाहिए कि यज्ञ-मय हो सकता है। ब्राह्मण की बात में एक यह ध्वनि है कि प्राण-धारण प्रकृति की क्रिया से अपने आप ही होता है, इसमें 'करने' की कोई बात नहीं। पर इस क्रिया को ही यज्ञ बनाया जा सकता है। ब्राह्मण कहता है कि प्राण-धारण यज्ञ तब बनता है जब जीवन की प्राकृत क्रिया को संस्कृत किया जाए। क्रिया को कर्म बनाया जाए। बोध में जागृत रहते हुए आत्म-चेतन भाव से क्रिया को यज्ञ-भावना से किया जाए। तभी यज्ञ को प्राण-यापन का प्रतीक बनाते हुए उस में होने वाली हर क्रिया के साथ ब्राह्मण में यह भी निर्देश है : इस से ऐसा हुआ, यह जाने। मनुष्य में स्वतन्त्र होने के साथ आत्मचेतना भी सहज है—दोनों में एक परस्पर-भाव का सा सम्बन्ध है—पर आत्मचेतना को जगाये भी रखना पड़ता है। और बात केवल जो कुछ अपने-आप क्रिया की तरह शरीर-मन-प्राण में हो रहा हो उसको द्रष्टा-भाव से जानते ही रहने की नहीं है। प्रयत्न की, चेष्टा की, 'करने' की भी बात है। इसीलिए प्राण-यापन भी मनुष्य के लिए कर्म बन सकता है। यह कर्म तब सम्यक् भाव से सम्पन्न होता है जब इसे यज्ञ का रूप दिया जाए। और इस कर्म को यज्ञ का रूप तब मिलता है जब कोई प्राणों को द्रष्टा-भाव के बोध में अपने से अलग करता हुआ उन्हें देवता बनाता है और देवता बने प्राण में अपने सहज प्राकृत प्राण की आहुति देता है। यही चरम आहुति है—परम पुरुषार्थ है। यही स्वर्ग का द्वार है—देवत्व का पथ। इससे हमारे प्राण, हमारी इन्द्रियां, हमारी वृत्तियां : मन, चक्षु, श्रोत्र, वाक् : उत्क्रमण करते हैं। देवता बने अग्नि-बीज प्राणों की ओर बढ़ते हैं। हमारा शरीर इन अग्नि-बीज प्राणों के देवत्व से बिंध जाता है—देवता का घर बन जाता है।

यहाँ ब्राह्मण एक मन्त्र कहता है—किस संहिता से है पता नहीं। सम्भव है किसी संहिता से न हो, जिस परम्परा में ब्राह्मण की रचना हुई है उसका अपना संकल्प हो। मन्त्र मूल में देता हूँ : "*अस्माद् वै त्वम् अजायथा एष त्वज् जायतां स्वाहा*—इस से तुम्हारा जन्म हुआ था, अब तुम से इसका जन्म हो, स्वाहा।" जिन अग्नि-बीज प्राणों

की, जिस देवता की बात हो रही है उसे ही यहाँ दूसरे शब्दों में परम ऋत कहा जा रहा है—सत्य का चरम, ध्रुव छंद, जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है—जो हमारा जनक है। इस छंद को कर्म से जगाये रखना ही यज्ञ है। ब्राह्मण में ध्वनि यह जान पड़ती है कि ऋत का छंद हमारा जनक होता हुआ भी, अपनी गति से, अपने स्वभाव से सहज चलता हुआ भी, ऐसा छंद है जो हमारे स्वतन्त्र प्रयत्न की भी मांग करता है। हम स्वतन्त्र हैं, ऋत के उस छंद से अपने को अलग भी रख सकते हैं, पर तब हमारा जीवन सार्थक नहीं होगा—यज्ञ नहीं होगा। हमें अपने-आप को ऋत में ढालते हुए उसके स्पन्द में चलना चाहिए। यही हमारा यज्ञ है—कर्त्तव्य है, धर्म है। इसी से हम ऋत के नित्य अमृत-स्वरूप में अवगाहन कर सकते हैं। प्रश्न उठ सकता है : हम अगर स्वतन्त्र हैं, यज्ञ से मुँह मोड़ सकते हैं—जानबूझ कर अपनी स्वायत्त बुद्धि के विवेक में जागते हुए भी मुँह मोड़ सकते हैं—तो फिर हममें वह क्या है जो हमें इस ओर प्रवृत्त करता है? हम ऐसे यज्ञ को अपने जीवन का आदर्श क्यों बनायें? बुद्धि तो और भी आदर्श दिखाती-बनाती ही है : हमारी सहज कामना के—प्रेयस् के—मार्ग में हमें कामना-पूर्ति के उपाय-कौशल सुझाती है। फिर हम ऐसे यज्ञ की ओर क्यों मुड़ें जो परोक्ष है, सहज-बुद्धि-सिद्ध नहीं है? यह प्रश्न, जैसा हम इंगित कर भी आए हैं, श्रेयस् के किसी भी आदर्श के प्रति सहज है जो प्रत्यक्ष और अनुमान की पकड़ में न आ सके, और श्रेयस् का ऐसा कोई भी आदर्श ढूँढना कठिन है जो अपने 'आदर्श' रूप में सर्वथा प्रत्यक्ष और अनुमान की पकड़ में आ जाए। कहा जाता है कि कामना के प्रेयस् का आदर्श ऐसा है जो हमारे लिए प्रत्यक्ष है—स्वत:सिद्ध है—अनुमान से उसकी पुष्टि और जीने में उसकी आत्मचेतन प्रतिष्ठा की जा सकती है। अनुकूल व्यवस्था की साधना की जा सकती है। और यही कर्म की अनायास इतिकर्त्तव्यता है। इसके आगे धर्म के किसी परोक्ष रूप को ढूंढ़ने की कोई जरूरत नहीं। यह बात ठीक लग सकती है, पर एक हद तक ही ठीक है। विचार करें तो प्रेयस् भी एक चेष्टा-साध्य आदर्श ही ठहरता है। उसे भी परम पुरुषार्थ बना लेना, जीवन-यापन का सर्वांगीण ध्येय मान लेना—यही हमारी सहज या स्वत:सिद्ध प्रवृत्ति नहीं है। अगर प्रेयस् की ओर हमारी वृत्ति सहज है तो प्रेयस् से हट कर हम जिसे श्रेयस् कह सकें, जिसमें अकाम धर्मबुद्धि रख सकें, जिसमें कर्म का, इति-कर्त्तव्यता का अपना स्वतन्त्र औचित्य देख सकें, कर्म की ऐसी दिशा की ओर भी हमारी वृत्ति सहज है। नहीं तो धर्म का प्रश्न केवल नीति का प्रश्न होता। पर हमारे कर्म में उस दिशा की ओर भी सहज प्रेरणा जागती है जिस दिशा में हमें कामना और उसका साधक प्रत्यक्ष और अनुमान से घिरा बुद्धि का व्यापार प्रेरित नहीं करता।

तो फिर क्या प्रेरित करता है?

याज्ञवल्क्य के प्रसंग में इसका एक उत्तर ढूँढा जा सकता है। हमारी वृत्तियों में एक वृत्ति है श्रद्धा। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि श्रद्धा ही हमें यज्ञ के आदर्श की ओर

मोड़ती है। उनकी बात को सामान्य रूप में लें तो कह सकते हैं कि श्रद्धा हमें परोक्ष आदर्श-मात्र की ओर मोड़ती है। पर याज्ञवल्क्य परम्परा विशेष में यह बात कह रहे थे और किसी भी परम्परा में रहते हुए श्रद्धा हमें परम्परा में उपलब्ध आदर्श या आदर्शों की ओर ही मोड़ती है। याज्ञवल्क्य के सामने यज्ञ का आदर्श था, जिसे उन्होंने अपनी तरह के अन्तरंग भाव से समझा। वे कहते हैं कि श्रद्धा में सत्य की आहुति ही यज्ञ है। यज्ञ का मर्म पहले प्रसंग में ऋत–दूसरे शब्दों में सत्य–के रूप में देखा गया लगता है। फिर जनक के अग्निहोत्र के बारे में प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य की बात में एक नया मोड़ आ जाता है, या यों कहें कि एक नया जोड़ आ जाता है। एक बार तो देखते ही याज्ञवल्क्य की बात बड़ी अटपटी लग सकती है। लग सकता है कि श्रद्धा और सत्य के संबंध की बात हो तो सत्य को प्रधान होना चाहिए–सत्य तो अपने आप में होता है, और श्रद्धा को सत्य पर निर्भर होना चाहिए, न कि श्रद्धा पर सत्य को–जैसा कि याज्ञवल्क्य की बात का प्रकट तात्पर्य है : 'श्रद्धा में सत्य की आहुति दो'। अपने आप में श्रद्धा मिथ्या भी हो सकती है; सत्य का आधार पा कर ही वह सत्य हो सकती है। याज्ञवल्क्य रूपक की भाषा में बात कहते हैं, पर उलटी बात कहते भी लगते हैं। वे श्रद्धा में सत्य की आहुति की बात करते हैं। उन्हें सत्य में श्रद्धा की आहुति की बात करनी चाहिए थी, न कि श्रद्धा में सत्य की : श्रद्धा को सत्य के प्रति समर्पित होना चाहिए, न कि सत्य को श्रद्धा के प्रति। और यह बात स्वतःस्पष्ट सी जान पड़ती है।

फिर याज्ञवल्क्य इसे उलटी तरह से क्यों कहते हैं? उनका आशय क्या? उनकी बात को भ्रान्त कह कर टाल नहीं देना चाहिए। मुझे बात में गहराई लगती है। मुझे लगता है कि याज्ञवल्क्य यह कह रहे हैं कि श्रद्धा के बिना सत्य की बात ही नहीं हो सकती। श्रद्धा ही सत्य की जिज्ञासा की लौ है। हमारा सत्य से सम्बन्ध श्रद्धा के माध्यम से बनता है। पर श्रद्धा भी सत्य की अपेक्षा रखती है–सत्य के बिना अपने आप में अधूरी है, सत्य से विहीन-विलग भी हो सकती है। श्रद्धा में ज्योति जगाये रखने के लिए हमें चाहिए कि हम उसे सत्य की आहुति से प्रज्वलित रखें। 'सत्य' से जुड़ने के लिए श्रद्धा की लौ चाहिए–पर श्रद्धा की लौ को भी सत्य से जुड़ने के लिए सत्य का ही 'स्नेह' चाहिए। सत्य ही वह आहुति है जिससे हमारी श्रद्धा सत्य में स्थिर रहे। याज्ञवल्क्य बात यज्ञ की कर रहे हैं। यह कहते जान पड़ते हैं कि कर्म का सत्य हो, पर उस सत्य को श्रद्धा के साथ न जोड़ा जाए तो यज्ञ नहीं होगा। यज्ञ, अयज्ञ में भेद यही है कि यज्ञ में श्रद्धा की अग्नि–श्रद्धा की साधना–सत्य से दीप्त रहती है।

जैमिनीय ब्राह्मण में यज्ञ की जो धारणा हमारे सामने आती है उस में एक और बात ध्यान देने की है। धारणा केवल कर्म तक सीमित नहीं है। जीवन के सारे पसारे पर व्याप्त है। हमारी सभी वृत्तियां, प्रवृत्तियां यज्ञमय हों, यह आदर्श है यहाँ। ब्राह्मण कहता भी है : "*सो अतः* (यज्ञ करने वाला उस यज्ञ के करने से) *आहुतिमयो*

मनोमयः प्राणमयश् चक्षुर्मयश् श्रोत्रमयो वाङ्मय ऋङ्मयो यजुर्मयस् साममयो ब्रह्ममयो हिरण्मयो अमृतस् स भवति ।'' दूसरे शब्दों में यज्ञ का अर्थ है हमारे ज्ञान, भाव, कर्म इन सभी वृत्तियों का किसी आदर्श 'अमृत' में स्थित होना।

पर हमने बात धर्म की उठाई है। उसका वलय कर्म तक सीमित है। यह बात और है कि यहाँ जिस यज्ञ की धारणा से हमारा सामना है उसमें ज्ञान और भाव भी कर्म के ही पेटे में बैठे दिखाई देते हैं : कर्म की वृत्ति की तरह ज्ञान और भाव की वृत्तियाँ भी यज्ञ का ही अंग हैं, और यज्ञ एक व्यापार है, कर्म है, उसमें कुछ करना ही प्रधान है—आहुति 'दी' जाती है—इस अर्थ में यहाँ ज्ञान और भाव को भी कर्म के ही रूप में देखा गया जान पड़ता है। इससे एक जटिल प्रश्न खड़ा हो सकता है कि कर्म क्या है? उसका ज्ञान और भावना से भेद क्या है? क्या हम कर्म, ज्ञान और भावना इन तीनों के बीच किसी भी तरह की कोई लक्ष्मण-रेखा वास्तव में खींच भी सकते हैं? इस प्रश्न में यहाँ जाना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रसंग से हम बहुत दूर छिटक जाएंगे। हमारी परम्परा में ज्ञान, भाव और कर्म को नितान्त भिन्न मानने की भी एक दृढ़ परम्परा रही है : शंकर को ही लीजिए जो ज्ञान को कर्म से बिल्कुल अछूता मानते हैं। और रस-चिन्तन के कुछ विचार-सूत्रों को लीजिए, ये भाव को कर्म और ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता देते जान पड़ते हैं। हम इस परम्परा की दुहाई यहाँ नहीं देना चाहते, भेद-अभेद की गुत्थी से किनारा-सा करते हुए कर्म के क्षेत्र को वही मान कर चल रहे हैं जो क्षेत्र आचरण, व्यवहार, शील के अर्थ में 'धर्म' का माना गया है। 'संकट'—संकट के एक दुस्तर, दूभर, साँस के साथ फँसी पीड़ा के अर्थ में 'संकट'—कर्म के क्षेत्र में ही खड़ा होता है, जिसका संबंध धर्म से है। ज्ञान और भाव में भी औचित्य-विचार की गहरी समस्याएँ उठती हैं, पर उनमें धर्म-संकट का सा हमारी नस में ही उतर जाने वाला काँटा नहीं होता।

पर **जैमिनीय ब्राह्मण** की गहराई में उतारती दृष्टि को हृदयंगम कर भी लें तो भी एक कठिन प्रश्न उठता है—हम चाहें तो इसे धर्म के मर्म में ही बिंधा एक मूल 'संकट' कह सकते हैं। एक दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि मीमांसा इस संकट को टालने का एक विचित्र सा प्रयास करती है। यहाँ ब्राह्मण में यज्ञ के प्रति जो दृष्टि है वह धर्म को बृहत्, हमारी हर चेष्टा में अनुविद्ध साधना का रूप देने की मांग करती है। पर हम मान भी लें और श्रद्धा के साथ मान लें कि हमें इसी भाव से कर्म करने की साधना करनी चाहिए, तो भी वही सवाल फिर रह जाता है कि हम करें क्या? हमारा आचरण, व्यवहार कैसा हो? इतिकर्तव्यता क्या हो? किस विधि-निषेध का हम पालन करें? धर्म को जीवन में कैसे उतारें, रूप क्या दें? यह कहना तो ठीक है कि हम जो भी करें यज्ञ की तरह करें, पर वह यज्ञ हो कैसा? किया कैसे जाए? मीमांसा के पास इसका बना-बनाया, तैयार सा जवाब है। यज्ञ में किए गए छोटे से छोटे 'कर्म' की 'इतिकर्त्तव्यता' को वहाँ स्पष्ट, सांगोपांग विधियों में उतार दिया गया है।

हम ऊपर एक प्रश्न दुहराते आए हैं, जिसे हमने धर्म की मूल जिज्ञासा कहा है : 'किं मया कर्त्तव्यम्?'—मुझे करना क्या चाहिए, मेरा कर्त्तव्य क्या है? इसी प्रश्न को हम धर्म-संकट के बीज के रूप में भी देख सकते हैं। यह प्रश्न, 'किं मया कर्त्तव्यम्' इसी रूप में मीमांसा में भी जिज्ञासा के बिल्कुल आरम्भ में उठता भी है। और वहाँ भी इसे धर्म के मूल प्रश्न के रूप में ही उठाया गया है। उत्तर भी इसका वही है जो अभी हमने **जैमिनीय ब्राह्मण** में पाया : 'हमें चाहिए कि हम यज्ञ करें'। फिर यज्ञ के स्वरूप पर विचार है, विस्तार से यज्ञ में होने वाली क्रियाओं का वर्णन है, प्रश्न है, उलझनें हैं, पूर्वपक्ष हैं, विवाद हैं, पर ऐसा कुछ नहीं जिसे हम किसी भी तरह कर्म के उस जीवन-व्याप्त रूप से जोड़ सकें जिसमें धर्म-संकट की बात उठती है। मीमांसा के प्रवर्तक भी कोई जैमिनी माने गए हैं, पर मीमांसा के इन जैमिनी का **धर्म-सूत्र**, **जैमिनीय ब्राह्मण** से बिल्कुल उल्टी दिशा लेते हुए यज्ञ को जीवन की समग्रता से हटा कर एक अलग-थलग से कर्मकाण्ड में समेट कर रख देना चाहता है—कर्म को क्रिया बना कर। वहाँ किसी वास्तव संकट की बात हो ही नहीं सकती कि हम किंकर्त्तव्यविमूढ रह जायें—हाँ, ऐसे प्रश्न बार-बार उठते हैं कि जौ के जिन दानों से आहुति दी जाए उन्हें कूट कर छिलकों से बाहर किया जाए या नाखून से? साम गाता हुआ याज्ञिक किस पेड़ को छूता हुआ गाये? छुए तो किस अंग से पेड़ के किस अंग को?

यों धर्म और यज्ञ का हम वह अर्थ लें जो मीमांसा लेती है तो न धर्म-संकट होगा और न यज्ञ कैसे किया जाए इस प्रश्न के उत्तर में कोई टेढ़ी, झकझोर देने वाली गुत्थी रहेगी। हमें जो कुछ करना है वह अगर एक-एक क्रिया के रूप में बिल्कुल साफ है तो संकट कैसा? यहां **जैमिनीय ब्राह्मण** के जैमिनी की दिशा मीमांसा के जैमिनी से बिल्कुल उल्टी है। पर उसके साथ भी एक जटिल समस्या है : मीमांसा कर्म को क्रिया बना देती है तो **जैमिनीय ब्राह्मण** कर्म को क्रिया से बिल्कुल विच्छिन्न कर देता है। वह धर्म और यज्ञ को जीवन के साथ तो जोड़ता है पर धर्म के तत्त्व को ऐसे सूक्ष्म शिखर पर ले जाकर बैठा देता है जहाँ किसी 'करने' से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह सवाल सताता है कि माना धर्म यज्ञ ही सही, पर उसे किया कैसे जाए? इसी बात को यों भी रखा जा सकता है : कर्म का प्रश्न माना कर्मकाण्ड का नहीं, आचरण, व्यवहार के औचित्य का प्रश्न है, पर फिर भी यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि आचरण कैसा हो? व्यवहार का रूप क्या हो?

जीवन-यापन के साथ जुड़े हुए आचरण और व्यवहार के औचित्य का प्रश्न ब्राह्मणों में नहीं धर्म-सूत्रों में, स्मृतियों में और उन पर लिखी गई टीकाओं में मिलता है। और अपनी तरह की पैठ के साथ इतिहास और पुराण में। यह धर्मशास्त्र की मीमांसा से अलग परम्परा है। इस परम्परा का एक बहुत बड़ा साहित्य है जिसकी धारा लगभग आज तक चली आती है। धर्मशास्त्र की परम्परा का एक विस्तृत और व्यवस्थित रूप हमें पण्डित लक्ष्मण शास्त्री जोशी सम्पादित **धर्मकोश** में देखने को

मिलता है। **धर्मकोश** में इस परम्परा के ग्रन्थ और विचार एक बृहत् कोश की तरह ही नहीं सजाए गए हैं, इस सजावट में काल-क्रम का भी ध्यान रखा गया है। 'कोश' में धर्मशास्त्र के विचार का इतिहास-सा भी सामने आता रहता है। हम आगे की चर्चा में इस 'कोश' का सहारा लेते रहेंगे।

आचरण और व्यवहार का औचित्य कैसे तय हो इसमें जो आधारगत उलझन है, संकट-बना प्रश्न है, प्रत्यक्ष और अनुमान में जिसका उत्तर नहीं मिलता, वह अपनी तरह से धर्मशास्त्र की परम्परा के आरम्भ में ही एक प्राचीन धर्मसूत्र में उभर कर आता है। सूत्र **आपस्तम्ब का धर्मसूत्र** है जो धर्मशास्त्र की परम्परा के आदि ग्रन्थों में से है।

'धर्म क्या हैं', इस प्रश्न की कसक को उभारते हुए, इसके उत्तर की खोज में जो अदृश्य और अनजान का, धर्म के गुहा में ओझल रहने का 'संकट' है, उसे मीमांसा से बिल्कुल भिन्न भाव से जगाते हुए आपस्तम्ब कहते हैं : "धर्म और अधर्म यह कहते हुए नहीं घूमते रहते कि यह देखो ये हम हैं। न देव न गन्धर्व न पितर, कोई आ कर नहीं बताता कि यह धर्म है, यह अधर्म।–*न धर्माधर्मौ चरत आवं स्व इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षते अयं धर्मो अयमधर्म इति।*" (**आपस्तम्ब धर्मसूत्र**, 1.20.4। **'धर्मकोश' खण्ड 5, भाग 1**, प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई, 1988, पृष्ठ 429 पर उद्धृत)।

पते की बात यह है कि यहाँ धर्म के प्रत्यक्ष–और यों अनुमानगम्य -होने से ही नहीं इन्कार किया गया है, यह भी कहा गया है कि उसकी कोई आकाशवाणी भी नहीं होती–कोई दैवी शक्ति उसके स्वरूप का हमें उपदेश नहीं देती। तात्पर्य यह बनता है कि वह श्रुतिगम्य भी नहीं है। श्रुति-निष्ठ वैदिक परम्परा में यह बड़ी चौंका देने वाली बात है। साहस की बात है। पर प्रश्न का उत्तर उतना चौंका देने वाला नहीं है। उलटे बड़ा लीक पर चलता हुआ सा उत्तर जान पड़ सकता है। मीमांसा धर्म को प्रत्यक्ष और अनुमान से परोक्ष बताती है। उसे 'अदृष्ट' के क्षेत्र में रखती है। किस अर्थ में अदृष्ट, इस पर हम आगे विचार करेंगे। पर एक बात यहीं कह रखूं : मीमांसा ने किसी अगाध की ओर आँख उठा देने वाले इस 'अदृष्ट' शब्द में भी 'दृष्ट' का सा ही मामूलीपन देखा है। परोक्ष को प्रत्यक्ष की ही छाया बना दिया है। आपस्तम्ब के उत्तर में भी कुछ ऐसी ही बात लग सकती है। ऐसा इंगित दे कर कि धर्म किसी अदृष्ट का वासी है आपस्तम्ब उसका रूप दृष्ट में ही ढूँढ निकालना चाहते हैं। कहते हैं कि हमें करना वही चाहिए जो परम्परा में होता चला आया है। पर इतना और जोड़ देते हैं कि हमें परम्परा के 'अच्छे', 'भले' लोगों का चलन अपनाना चाहिए। ऊपर उनके जिस सूत्र का हम उद्धरण दे आए हैं उसके ठीक बाद, अपने प्रश्न का उत्तर देते हुए आपस्तम्ब कहते हैं : "जिसके किए जाने पर आर्य प्रशंसा करते हैं वह धर्म है, जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म" (**आपस्तम्ब धर्मसूत्र**, 1.20.7)। दूसरे शब्दों में धर्म का आधार शिष्टाचार है।

सच पूछें तो **आपस्तम्ब** को पढ़ने वाले के लिए यह उत्तर कोई अचम्भे की बात नहीं लगती। जिस प्रश्न का यह उत्तर है वह उनके ग्रन्थ के आरम्भ में नहीं बीच में उठाया गया है। आरम्भ से ही वे धर्म को परिनिष्ठित आचार के रूप में देखते हुए आगे बढ़ते हैं। बल्कि अचानक ऐसी बात का पहेली बन कर उठ जाना कि 'धर्म क्या है' यह हमें कौन बतायेगा, यही अचम्भे की बात लगती है। क्योंकि **आपस्तम्ब** का पहला ही सूत्र है : "अब हम उन धर्मों की व्याख्या करेंगे जो समय रूप हैं–जो चलती आई स्वीकृत प्रथा से एक व्यवस्था खड़ी करते हैं–और जिनका आचार में पालन होता है।" अगला है : "धर्म को जानने वालों ने जो व्यवस्था खड़ी की है (कर्म के औचित्य के लिए) वही प्रमाण है–"धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्"। तीसरा है : "और वेद प्रमाण हैं"। तो आपस्तम्ब परम्परावादी ही थे। उनका प्रश्न लीक से हटने का इशारा नहीं है।

पर आपस्तम्ब से उदासीन हो जाने के पहले एक बात सोचिए : एक अनिवार्य अर्थ में आचार का आद्य आधार परम्परा ही हो सकती है। और ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि आपस्तम्ब का–या किसी और स्मृतिकार का–परम्परावाद किसी रूढ़ि की टेक की दुहाई भर है। 'परम्परा' के अर्थ में वहाँ गहराई भी है, विवेक का सम्बल साथ रखने का पुरुषार्थ है। ऊपर हमें प्रश्न के ठीक बाद के सूत्र, 1.20.7, जिसका हमने अभी उद्धरण दिया है, उससे लग सकता है कि कहाँ आकाश में उठा कर धरती पर ला गिराया–पर उसके बाद ही के सूत्र, 1.20.8, को देखिये : "सभी जनपदों में हमें चाहिए कि ऐसे आर्य जो नितान्त समाहित हैं–आत्मस्थ हैं, जितेन्द्रिय हैं–हम उनके आचरण-वृत्त को अपनायें। जो अच्छी तरह विनीत हैं–विवेक के वश में हैं–वृद्ध हैं, आत्मवान् हैं, अलोलुप हैं, दम्भरहित हैं, हम ऐसों के आचरण के सदृश आचरण करें।" यों तो बात यहाँ चले-आते शिष्टाचार को ही व्यवहार का आदर्श मानने की वही पुरानी बात लगती है जो स्मृति-साहित्य में स्तम्भ की तरह गाड़ कर कही गई है, पर शिष्ट–जिसे यहाँ ठीक पहले ही के सूत्र की तरह 'आर्य' कहा गया है–उसकी पहचान की गहराई देखिये। उसकी पहचान किसी बाहरी प्रत्यक्ष गुण से नहीं है, उसके अन्तरंग आत्मगुणों से है; किसी लकीर की फकीरी से नहीं। हमें जब शिष्ट के सदृश आचरण करने के लिए कहा गया है–उसका 'अनुकरण' करने की देशना दी गई है–तो यह अनुकरण कैसा हो, इस प्रश्न का उत्तर केवल बहिरंग व्यवहार के सादृश्य पर ही आ कर ठहर नहीं जाता। ऐसा बहिरंग अनुकरण मीमांसा के विधि-निषेध से बंधे यज्ञ पर ही पूरा उतर सकता है। हालांकि वहाँ 'अनुकरण' की बात कही नहीं गई है : पर वहाँ विधि-निषेध के समूचे पसारे का उद्देश्य ही यह है कि किसी मूल, बिल्कुल ठीक किए गए यज्ञ की हर क्रिया का यों का यों अनुकरण किया जा सके–वहाँ विधि-निषेध वैसे ही हैं जैसे किसी यन्त्र के साथ आने वाली पुस्तिका में होते हैं, जिनके आधार पर यन्त्र को अपने ठीक मूल रूप में फिट किया जा सकता

है। आपस्तम्ब के समाहित, अलोलुप, आत्मवान् आर्य के व्यवहार को मीमांसा के यज्ञ जैसे विधि-विधान में बाँधने का अर्थ ही क्या होगा अगर अनुकरण करने वाला इन गुणों का भी 'अनुकरण' न करे? पर ऐसे गुणों के 'अनुकरण' का क्या अर्थ होगा? यह प्रश्न स्मृति की परम्परा में नहीं नाट्य की परम्परा में उठा है। नाट्य का लक्षण ही अनुकरण कहा गया है पर नाट्य किसी बहिरंग का नहीं अंतरंग का ही अनुकरण होता है–भाव का, कर्म का अनुकरण–जैसे शोक का या किसी के संकल्प का। शोक के अनुकरण को अनुकरण कहा जाए या नहीं, कहा जाए तो किस अर्थ में, ये प्रश्न अभिनवगुप्त ने उठाये हैं। कहा भी है कि ऐसा 'अनुकरण' किसी बाहरी क्रिया की प्रतिकृति तो नहीं होगा।

पर स्मृति की परम्परा में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसे प्रश्न नहीं उठे हैं। उठाये जायें तो एक बात पहले ही सामने आएगी : नाट्य और आचरण दोनों के अनुकरण में अंतरंग होने का भाव तो स्पष्ट है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि दोनों का अन्तरंग होने का भाव एक-सा नहीं हो सकता–नाट्य में जो अनुकरण करता है, नट, उसमें शोक जैसा भाव, या कुछ करने का संकल्प तो होता है पर सचमुच नहीं होता। सचमुच हो तो नाट्य ही बिखर जाएगा। लेकिन आचरण में लोभ और दम्भ का अभाव और आत्मवान् होने का भाव सचमुच न हो तो आचरण ही झूठा कहलायेगा। हम कहेंगे, 'नाटक कर रहा है'।

जहाँ किसी अंतरंग भाव या तत्त्व–या संकल्प–का 'अनुकरण' करना हो, उसे सार्थक बहिरंग रूप देना हो, वहाँ यह प्रश्न सहज है कि अनुकरण कैसा हो, कैसे हो? नाटक में भी प्रश्न सताता ही है–चाहे भाव 'सचमुच' का न हो। अभिनय में शोक का सही निभाव कैसे हो यह प्रश्न नट के लिए बड़ा प्रश्न है। पर आचरण में तो यह प्रश्न संकट का रूप भी ले लेता है। इसलिए कि वहाँ अनुकरण सचमुच का होना चाहिए! बल्कि उसे अनुकरण कहना ठीक भी है या नहीं, यह प्रश्न भी उठ सकता है।

ऊपर आपस्तम्ब के वचन में एक उत्तर मिल सकता है जो यहाँ दिशा देता दिखाई देता है। अगर हम अलोलुप हैं, दम्भ-रहित हैं और साथ ही समाहित हैं–बाहर की ओर नहीं, अपने भीतर के तत्त्व की ओर देख रहे हैं–आत्मवान् हैं–अपने बस में हैं, राग-द्वेष, काम के बस में नहीं–तो हमारा आचरण धर्म का आचरण होगा। हमारे आचरण में धर्म अपने-आप रूप लेगा। गहराई का उत्तर है। पर फिर बात 'अनुकरण' की रह ही नहीं जाती। आपस्तम्ब का यह निर्देश कि शिष्ट के सदृश बनो, उसका अनुकरण करो, यह बात बेबात सी हो जाती है।

पर मुझे लगता है कि धर्म के ऐसे 'आत्मस्थ' स्वरूप में ही धर्म-संकट का भी मूल बीज भी है। धर्म को यों आत्मस्थ बना देने पर बात 'अनुकरण' के घेरे से निकल जाती है। अनुकरण कैसा हो यह प्रश्न ही नहीं उठता, अप्रश्न हो जाता है। बात अंतरंग की ऐसी भीतर गुफा में जा पहुँचती है जहाँ बहिरंग कहीं रहता ही नहीं। पर

फिर भी अंतरंग को बहिरंग में क्या और कैसे रूप दिया जाए, धर्म का यह प्रश्न निरन्तर बना रहता है। क्या आत्मस्थ, अलोलुप, दम्भ-रहित होने पर आचरण और व्यवहार की समस्या का स्वतः समाधान हो जाएगा? हो सकता है व्यक्ति विशेष के आचरण में हो भी जाए, पर समस्या यह है कि हम, जो उस स्थिति में नहीं हैं या अधूरे से ही हैं, हम क्या करें? समष्टि का क्या आचरण हो, क्या इसका भी समाधान हो जाएगा? हमारे धर्म-चिन्तन के मूल में ही एक बात मान कर चली गई दिखाई देती है : हम क्या करें, धर्म का यह प्रश्न, यह संकट उठता ही तब है जब लोभ, मोह, राग, द्वेष...आत्म-च्युति के लक्षण, मनुष्य को आ घेरते हैं। सत्-युग में जब ये लक्षण नहीं थे तब 'धर्म क्या हो'? यह प्रश्न भी नहीं था। इन्हीं लक्षणों के कारण नाट्यशास्त्र का जन्म हुआ है और धर्मशास्त्र का भी; और दोनों में अपनी अपनी तरह से अनुकरण की समस्या आ खड़ी होती है। एक गहरे अर्थ में धर्म का प्रश्न अनुकरण ही का प्रश्न कहला भी सकता है। बात कुछ खुलासा चाहती है। उसे बढ़ाता हूँ। बढ़ाने के लिए **महाभारत** के उस प्रसिद्ध श्लोक का सहारा लेता हूँ जो हमारी बातों में अनकहे भी झाँक चुका है, जहाँ धर्म के तत्त्व को गुहा-निहित बताया गया है :

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना...
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

इस श्लोक के सहारे बात बढ़ाने से पहले एक बात उठाना चाहता हूँ जो प्रसंग से हट कर है पर जिस से मुझे उद्वेग हुआ। जैसा आप जानते ही होंगे, यह श्लोक आरण्यक पर्व के उस उपाख्यान में आता है जहाँ चार पाण्डवों के प्राणों को अपनी मुट्ठी में कर के यक्ष-रूपी यम युधिष्ठर से कई प्रश्न पूछता है। यह श्लोक उस प्रश्नोत्तरी के अन्त में यक्ष के वचन में आता है। मैंने **महाभारत** का सुखथंकर वाला 'संशोधित' संस्करण उठा कर देखा तो श्लोक वहाँ नहीं था। संशोधित संस्करण के दो रूप हैं, एक छोटा और एक बड़ा—जो सचमुच बृहत्काय है। छोटे में वे श्लोक जो प्रक्षिप्त माने गए हैं; नहीं दिए गए हैं। बड़े में खिल के रूप में दिए गए हैं। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में एक बड़ा सा खिल का भाग है जो बड़े संस्करण में ही है। वहीं यह श्लोक है। अर्थात् 'संशोधित' संस्करण इस श्लोक को मूल और शुद्ध **महाभारत** का अंग नहीं मानता। इसी बात पर एक प्रश्न मेरी तरह आपके मन में भी उठ सकता है—ऐसे सभी के मन में उठना चाहिए जिन्हें इस श्लोक ने उकसाया है, कचोटा है। प्रश्न है : अगर यह श्लोक भी **महाभारत** से हमें निकालना पड़े तो फिर '**महाभारत**' से हम क्या समझते हैं? **महाभारत** के ऐसे विशुद्ध कहलाने वाले मूल का क्या अर्थ जहाँ ऐसे श्लोक जो हमारे लिए उस ग्रन्थ के प्राण में प्रतिष्ठित हैं उन्हें भी प्रक्षिप्त मानना पड़े? यह सही भी हो कि मूल का संधान एक विशेष प्रकार की साधना है जो साक्ष्यों

के आधार पर एक विशेष रीति और पद्धति से की जाती है और जहाँ "हमें क्या लगता है, और हम अपने अन्तर की किसी 'सब्जेक्टिव' परख से **महाभारत** के किसी मूल 'भाव' या 'आत्मा' को किस रूप में भाँपते हैं" इन बातों के लिए कोई स्थान नहीं। और फिर, जो लोग अन्तर की परख से **महाभारत** के भाव को पकड़ते आए हैं वे भी मूल के बारे में एकमत कहाँ हैं? उन्हीं की परम्परा में तो प्रक्षेप हुए हैं! ये बातें सही भी हों तो भी मन में एक बेचैनी सी रह ही जाती है कि अगर यह श्लोक भी प्रक्षेप है तो फिर प्रक्षेप का ही अर्थ क्या? क्या 'प्रक्षेप' के तात्पर्य को उसी तरह परखना ठीक भी होगा जैसा मूल के आधुनिक संधानी परखते हैं? क्या जिस रीति-नीति से हम प्रक्षेप को तोलते हैं वह भी हमारे 'विशुद्धि' के आदर्श-विशेष और आग्रह-विशेष का प्रक्षेप तो नहीं?

पर चलिए प्रक्षेप ही सही, फिर भी इस बात से कम लोग इन्कार करेंगे कि इस श्लोक ने हमारे विचार में आलोड़न का भी प्रक्षेप किया है। और चाहे यह **महाभारत** में पीछे से आया हो, इसके भाव में आपस्तम्ब की स्पष्ट प्राचीन छाया है। आपस्तम्ब ही की तरह यह धर्म को दुर्बोध बताता हुआ शिष्टाचार में उसके पदचिह्न ढूँढता है। अन्तर यह है कि यहाँ शिष्ट कोई परम्परा-निष्ठ व्यक्ति या समूह नहीं, असाधारण व्यक्ति-विशेष हैं--'महाजन' हैं : महाजन का आचरण ही हमें धर्म का सही रास्ता दिखाता है, हमारे लिए प्रमाण है।

करनी और कथनी को लेकर भी इस श्लोक के गर्भ में एक प्रश्न है, धर्म को पहचानने में उभरता एक संकट है, जिसको आपस्तम्ब ने और स्पष्ट मुखर किया है और जिस पर उनके पीछे आई स्मृतियों में काफी चर्चा रही है। प्रश्न है : क्या हमें शिष्ट या महाजन की करनी का अनुकरण करना चाहिए या उसकी कथनी का? **महाभारत** के श्लोक में कथनी अप्रमाण ठहरती है--किसी का मत प्रमाण नहीं है। यों भी हम कह ही सकते हैं कि अगर हम कर्म की इति-*कर्तव्यता* को पाना चाहते हैं तो इसके लिए कर्म या करनी ही का आदर्श होना स्वाभाविक और उचित है, कथनी का नहीं। कथनी के अप्रमाण को गम्भीरतर बनाता हुआ श्लोक कहता है कि ऋषि की भी कथनी का कोई भरोसा नहीं : *नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्*--एक भी ऐसा ऋषि नहीं है जिसका प्रतिपादन, जिसका 'कहा' धर्म को जानने में प्रमाण का काम कर सके। ऋषि का मत--उसका विचार, उसकी देशना--उसकी कथनी--इन के दो आधार हो सकते हैं : तर्क या कोई अपौरुषेय प्रज्ञा-दृष्टि जो श्रुति के रूप में उतरती है। तर्क अपने आप में किसी निष्कर्ष तक नहीं ले जा सकता--प्रति-तर्क से सदा बिँधा रहता है; वह प्रमाण नहीं हो सकता। तर्क का अर्थ अनुमान लें तो अनुमान प्रत्यक्ष की मांग करता है। पर प्रत्यक्ष और अनुमान को मीमांसा की युक्ति ने पहले ही धर्म के क्षेत्र में निष्प्रज्ञ ठहरा दिया है। '*तर्कः अप्रतिष्ठः*', इस कथन में **महाभारत** बादरायण के एक सूत्र को भी दुहराता हुआ प्रतीत होता है। कहता लगता है कि जैसे तर्क के बेसहारा,

अप्रतिष्ठ मार्ग से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता वैसे ही धर्म को भी नहीं जाना जा सकता। तर्क में प्रति-तर्क हो सकता ही नहीं, होता ही है—हम तर्क-बुद्धि के भीतर रहते हुए जानते रहते हैं कि तर्क का प्रति-तर्क है, चाहे तत्काल सूझे नहीं—और फिर तर्क-प्रति-तर्क का प्रवाह अनन्त है, किसी निश्चय पर आ कर टिक नहीं सकता। टिकना उसके लिए सम्भव ही नहीं। पर लक्ष्य करने की बात यहां यह भी है कि बादरायण तर्क को अप्रतिष्ठ कह कर ब्रह्म को श्रुति में प्रतिष्ठ कहते हैं। **महाभारत** यहां धर्म के लिए श्रुति को भी प्रमाण नहीं मानना चाहता।

बादरायण की तरह मीमांसा भी धर्म के लिए श्रुति को प्रमाण मानती है। पर स्पष्ट ही इस श्लोक की अपूर्व उक्ति मीमांसा और बादरायण दोनों से हट कर है। दोनों के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है—चाहे श्रुति क्या है, यह प्रश्न दोनों को भिन्न उत्तरों की ओर ले जाता हो। पर **महाभारत** में इस श्लोक के वक्ता यम तर्क को ही नहीं श्रुति को भी धर्म का आधार बन सकने में सक्षम नहीं पाते। कहते प्रतीत होते हैं कि ऋषि की दृष्टि जिन श्रुतियों में प्रकट होती है वे भिन्न ही नहीं, विरोधी बातें कहती हैं, उनमें वह 'एकवाक्यता' हो ही नहीं सकती जो मीमांसक और वेदान्ती अपने अपने तर्क से अपनी अपनी तरह साधते हैं। श्रुतयो विभिन्ना: हों तो यों भी इतिकर्त्तव्यता का एक मार्ग कैसे दिखा सकती हैं? पर इस भेद को दूर करने के लिए मीमांसा और वेदान्त दोनों जो अपनी तरह से श्रुति के तात्पर्य में अभेद, अविरोध साधते हैं उनमें ही गहरा विरोध है, जो हमारे यहाँ के चिन्तन में कर्म और ज्ञान के अभेद-से-अछूते, 'परम' विरोध के रूप में आज भी हमारी मनीषा को कचोटता है। जो दृष्टि इन दोनों के इस परस्पर-असंश्लेष्य विरोध को देख रही हो—जैसा इस श्लोक के अभिप्राय में हम देख सकते हैं—उसके लिए तो दोनों का विरोध श्रुतियों के परस्पर विभेद को और गहरा, और मर्म-स्पर्शी, ही कर देता है।

एक बात और है जो इस श्लोक के अभिप्राय में न भी हो तो भी श्लोक की ध्वनि से हम में जाग सकती है। हमने ऊपर देखा कि मीमांसा में कर्म का जो रूप उभर कर आता है वह इस श्लोक के धर्म-संकट का उत्तर हो ही नहीं सकता : क्योंकि यहाँ प्रश्न यह नहीं कि यज्ञ की क्रियाओं को कैसे करें, प्रश्न है हमारा आचरण क्या हो? यह प्रश्न नहीं होता तो महाजन के चले मार्ग पर चलने की बात ही नहीं उठती। पर क्या बादरायण की वेदान्त परम्परा का ज्ञान मार्ग इसका उत्तर हो सकता है? सम्भव नहीं लगता। वेदान्त निवृत्ति का मार्ग है, कर्म से हट जाने का मार्ग, जब कि प्रश्न प्रवृत्ति का है—प्रवृत्ति के औचित्य का। निवृत्ति में इसका उत्तर नहीं ढूँढा जा सकता। फिर भी हम निवृत्ति का पक्ष ले सकते हैं और यहाँ उत्तर में परम्परा का आश्रय ले कर कह सकते हैं कि प्रवृत्ति का धर्म तो हमें निवृत्ति की ओर झुकाना ही है। निवृत्ति और निवृत्ति से ही साधा जाने वाला ज्ञान, वही हमारा साध्य है, परम पुरुषार्थ है, जीवन का चरम ध्येय है। यह ठीक है कि हम जीते-जी प्रवृत्ति से बच नहीं

सकते, पर प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर मोड़ सकते हैं, और इसके लिए जो आचरण, जो चर्या आवश्यक है, वही हमें अपनानी चाहिए। इस चर्या का काफी खुलासा किया जा सकता है, इसे विधि-निषेध में बाँधा जा सकता है, और ऐसा किया भी जाता रहा है। यही चर्या धर्म के लिए प्रमाण है। इसमें धर्म के अंतरंग और बहिरंग दोनों का जैसा सांगोपांग रूप हम चाहते हैं वह भी मिल ही जाता है। ऐसे आदर्श महाजन भी मिल जाते हैं जिनका इस निवृत्ति-मार्ग में अनुकरण किया जा सकता है।

आचरण के इस निवृत्ति-मुखी आदर्श को टाल देना उतना आसान नहीं जान पड़ता जितना मीमांसा की बात से किनारा कर लेना लगता है। पर एक बात देखिए। यहाँ मूल में ही एक गम्भीर धर्म-संकट उभर कर आता है जो हमारे धर्म-चिन्तन में बार-बार उभरता रहा है : क्या हम प्रवृत्ति का अपना औचित्य ढूँढ़ें या निवृत्ति में ही प्रवृत्ति का भी औचित्य देखें? प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो नितान्त भिन्न मार्ग हमारे यहाँ सदियों से यह धर्म-संकट जगाते आए हैं। इस बात से और भी जो प्रश्न निकल कर आते हैं उन पर हम कुछ आगे विचार करेंगे। पर एक बात, मैं समझता हूँ, प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रश्न के मूल में भी स्पष्ट है। प्रश्न हमारे लिए तो *प्रवृत्ति* के ही भीतर से उठता है, हम प्रवृत्त होते हुए ही प्रश्न करते हैं कि क्या करें? हो सकता है कि निवृत्ति में प्रश्न का पूरा समाधान मिल जाए, पर वहाँ फिर प्रश्न-चेतना से ही हम निवृत्त हो जायेंगे। धर्म-संकट तो यहाँ, अभी, प्रवृत्ति में रहते हुए ही होता है, और यहां निवृत्ति के बारे में भी यह प्रश्न जागता है कि निवृत्ति क्या सचमुच साध्य है? दूसरे और भी साध्य हो सकते हैं! हम निवृत्ति की ओर ही क्यों झुकें? मीमांसा भी तो एक साध्य बताती है—स्वर्ग—जो वेदान्त की तरह ही श्रुति के प्रमाण पर आधारित है। यों श्रुति में विभेद का बोध और असमाधेय हो जाता है।

पर विभेद का अभाव ही पाना हो तो क्या महाजन की करनी में सचमुच उत्तर ढूँढा जा सकता है? फिर महाजन एक नहीं होता—चाहे **महाभारत** के श्लोक में एकवचन का ही प्रयोग हो। श्रुति की तरह महाजनों का विभेद भी प्रकट ही है। किस महाजन का हम अनुकरण करें? गुत्थी में एक गाँठ और भी है : महाजन के पथ पर चलना—उसका अनुकरण करना—यह धर्म का करणीय मार्ग नहीं बन सकता—क्योंकि 'अनुकरण' का अर्थ ही धुँधलके में रहता है। सच्चा मार्ग महाजन की स्थिति को ही पा लेना लगता है। पर इसका अर्थ क्या? महाजन की ऐसी पहचान क्या जो सब महाजनों में 'साधारण' हो? महाजन मात्र में मिलती हो? महाजन अगर उसे कहें जो आत्मस्थ, अलोलुप, दम्भ-रहित होने के साथ धर्म की अंतरंग गुफा में धर्म के तत्त्व में स्थित होता है, तो फिर क्या वैसी स्थिति तक पहुँचना हमारे प्रश्न का उत्तर होगा? होगा भी तो भी वह कैसा उत्तर होगा? किसके लिए उत्तर होगा? जो उस स्थिति में न हो वह तो श्रुति-भेद की तरह ही महाजनों के चरित में भी भेद ही देखेगा।

यहां आपस्तम्ब की बात से हम एक दूसरा सुझाव ले सकते हैं : आप जिस जनपद में रहते हैं वहाँ के महाजनों के पथ पर चलें। आपस्तम्ब का कथन है—"सभी

जनपदों में हमें चाहिए कि जो आर्य समाहित हैं, आत्मवान् हैं, हम ऐसों के आचरण के सदृश आचरण करें'' (पूरा उद्धरण ऊपर आ चुका है)। पर यहाँ भी बात 'महाजनों' की है 'महाजन' की नहीं। इससे बात में एक आधार-गत अन्तर आ जाता है : अवधेय है कि हमारे लिए तो आदर्श एक ही हो सकता है। उसे 'महाजनों' में ढूंढ़ें तो बात किसी व्यक्ति-विशेष की न हो कर महाजनों की किसी विशेष परम्परा की ही हो सकती है। यही ठीक भी लगता है। आचरण करते हुए हम अपने सहज स्वभाव-विवेक से चाहते यही हैं कि जिस परम्परा में हैं उसी के भीतर उसके औचित्य के 'मर्म' को उचित लोगों में पा लें। परम्परा समूह की होती है, उसका मर्म हमें किसी एक व्यक्ति में नहीं, किसी समूह-विशेष में ही मिल सकता है; किसी एक का आचरण परम्परा का प्रमाण नहीं होता। यहां प्रश्न हो सकता है–उचित लोगों के समूह-विशेष को हम कैसे पहचानें? उत्तर का सूत्र भी आपस्तम्ब में मिलता है। परम्परा के भीतर ही महाजनों के उस विशेष समूह को पहचानने के लिए, दूसरे शब्दों में 'आर्यों' को पृथग्जनों से अलग करने के लिए, आपस्तम्ब अलोलुपता, आत्मस्थता जैसे गुणों की ओर संकेत करते हैं जिससे सही लोग जाने जा सकें।

पर इतना सोच लेने के बाद भी लग सकता है कि माना महाजनों की कोई एक परम्परा पहचानी भी जा सकती है, तो भी क्या बात उनके 'अनुकरण' की ही नहीं रह जाती? सच पूछें तो ऐसा है नहीं। महाजनों का अनैक्य यहां अनुकरण के प्रश्न को अनायास ही बहिरंग से हटा कर अंतरंग की ओर ले जाता है : क्योंकि जहां बात व्यक्ति-विशेष की हो ही नहीं वहां अनुकरण के बहिरंग का भी कोई अर्थ नहीं। या चलिए, अनुकरण ही धर्म सही, पर अनुकरण अब किसी मर्म का ही हो सकता है। यह मर्म किसी भी विशेष महाजन या किन्हीं भी महाजनों के समूह में अधूरा ही दिखाई दे सकता है। बड़े से बड़े के चरित में–उसकी करनी में–कहीं न कहीं तो हमें लगता है कि यहाँ बात धर्म की नहीं हुई। यही बात स्मृतियों में कथनी और करनी के विरोध के रूप में उभारी गई है। स्मृतियाँ साफ साफ कहती हैं कि महाजन की कथनी पर चलो उनकी करनी पर नहीं–करनी में दोष हो सकता है। महाजनों के प्रति हमारी श्रद्धा बनाए रखने के लिए उनकी सफाई में स्मृति एक विचित्र सी युक्ति देती है। कहती है कि महाजन में एक विशेष तेज होता है जो उसके किए-गए अधर्म को भस्म कर देता है। हममें वह बात नहीं है, तभी हमें तो महाजन की कथनी पर ही चलना चाहिए। हारीत और बौधायन दोनों के प्राचीन धर्मसूत्रों में एक श्लोक आया है जिसका आशय बाद की स्मृतियों में कई बार दुहराया गया है : ''*अनुष्ठितं तु यद्देवैमुनिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तु तदुक्तं कर्म आचरेत् ।।*–देवता और मुनि जिस कर्म का आचरण करते हैं, उसका आचरण मनुष्य न करे, उनके कहे का आचरण करे।'' (**धर्मकोश**, वही, पृष्ठ 51 और 53)

पर कथनी की समस्या हम ऊपर देख ही आए हैं : महाजन महाजन की कथनी में बड़ा भेद होता है तभी करनी की बात उठी थी : श्रुतयो विभिन्नाः, नैको ऋषिर्यस्य

मतं प्रमाणम्। फिर धर्म के मर्म को कहाँ ढूँढें? यहाँ दो रास्ते लिए जा सकते हैं और लिए गए दिखते भी हैं। एक मार्ग धर्म को सर्वथा अंतरंग की ओर ले जाता है। पर निवृत्ति के नहीं प्रवृत्ति के ही अंतरंग की ओर : यह कहता हुआ कि धर्म अन्तर की, संकल्प की शुद्धि में है, उसे किसी के आचरण में नहीं पाया जा सकता। संकल्प शुद्ध हो, राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ हो तो कर्म सम्यक् ही होगा। तात्पर्य यह कि धर्म धर्म के लिए किया जाना चाहिए, कुछ पाने के लिए या किसी इच्छा की पूर्ति के लिए नहीं। विचार की यह दिशा आपस्तम्ब में भी मिल जाती है जहाँ विचार की कई दिशाओं का मेल है। आपस्तम्ब कहते हैं कि कोई भी धर्म किसी लौकिक अर्थ की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए : "*नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मश्चरेत्।*" (**आपस्तम्ब धर्मसूत्र**, 1.20.1, **धर्मकोश**, वही, पृ. 429) पर यह कह कर आगे की बात में एक बार तो बात बदलते से लगते हैं। आगे के दो सूत्रों में कहते हैं कि ऐसे शुद्ध 'अलौकिक' मनोभाव से धर्म न किया जाए तो अभ्युदय रूप फल–कल्याण–नहीं मिलेगा : "*निष्फला हि अभ्युदये भवन्ति।*" यहां 'फल' में यही ध्वनित है कि 'अभ्युदय' लोक में कुछ 'पा लेने' की बात है। स्वार्थ की बात है। फिर आगे इस बात से एक डग हटते हुए, फल-अफल दोनों को मिलाते हुए आपस्तम्ब कहते हैं कि धर्म धर्म के लिए किया जाए तो लौकिक फल आपको अपने आप मिल जाता है, जैसे आम को फल के लिए बोने पर भी छाया और सुगन्ध अपने आप मिल जाते हैं: "*तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणेर्था अनूत्पद्यन्ते।*" अब बात स्पष्ट ही 'धर्म धर्म के लिए' से हट कर लौकिक स्वार्थ की ओर बढ़ने लगती है। पर आगे आपस्तम्ब बात फिर पलट देते हैं और धर्म को अपने आप में स्वतन्त्र बताते हुए कहते हैं कि धर्म से किसी और अर्थ की सिद्धि न भी हो तो भी धर्म की कोई हानि नहीं होती : "*नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति।*" (**धर्मकोश**, उसी पृष्ठ पर, यहाँ एक टीका, **उज्ज्वला**, कहती भी है कि धर्म स्वतन्त्र पुरुषार्थ है उससे किसी और अर्थ की सिद्धि क्यों चाहिए : *स च स्वतन्त्रः पुरुषार्थः, किमन्यैरर्थैः।*)

यों धर्म को इच्छा, अभ्युदय-कल्याण के नाम पर स्वार्थ या लौकिक फल-सिद्धि, इन से हटा कर स्वतन्त्र पुरुषार्थ बना लेने पर लग सकता है कि धर्म क्या हो, इसका उत्तर आप ही मिल जाएगा। पर आपस्तम्ब बात को इस रूप में नहीं देखते। कोई भी धर्मशास्त्री नहीं देख सकता। धर्म क्या हो, यह प्रश्न उनके लिए संकल्प का ही नहीं आचरण का भी प्रश्न है। तभी उनका उत्तर है : शिष्टाचार धर्म है। धर्म को धर्म के लिए करने की अंतरंग बात का उनके लिए 'धर्म के आचरण का रूप क्या हो' इस बहिरंग प्रश्न से भी गहरा सम्बन्ध है। उनका मत यह लगता है कि हमें चाहिए कि हम धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानते हुए अपनी परम्परा में स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलते रहें, पर इसलिए नहीं कि इससे कुछ और पाया जा सके।

ऐसे भी विचारक हैं जो किसी भी आचरण विशेष से बात को हटा कर संकल्प की शुद्धि में ही धर्म की विशुद्ध स्थिति देखते हैं। यह बात कुछ वैसी ही है जैसी याज्ञवल्क्य-दृष्ट यज्ञ को कर्म का आदर्श बनाने की : ऋत के छन्द पर चलो, सत्य की श्रद्धा में आहुति देते चलो। पर इन विचारकों में बात यहीं नहीं रुक जाती, कुछ आगे भी बढ़ती है। आत्म में सीमित नहीं रह कर पर की ओर उन्मुख होती है, संकल्प की शुद्धि के साथ ये कहते प्रतीत होते हैं, आत्मवत् सर्वभूतेषु—दूसरे के प्रति वैसा ही आचरण-व्यवहार करो जैसा अपने प्रति चाहते हो। या गहरे अर्थ में देखें तो कह सकते हैं कि आचरण ऐसा हो जैसा उसके प्रति किया जाए जिसमें 'आत्म' हो, जो जड़ न हो कर चेतन हो, अपनी ही तरह स्वतन्त्र हो, धर्म का कर्त्ता हो या धर्म में प्रवृत्त हो सकता हो। कांट, मुझे लगता है, कुछ-कुछ ऐसी ही बात करते हैं। उनके लिए शुद्ध संकल्प वह है जो राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त हो, और जिसके बारे में हम कह सकें कि यह सबका संकल्प बने, स्वतन्त्र कर्त्ता मात्र का सार्वजनीन संकल्प बने। संकल्प ऐसा हो कि हम दूसरे को—दूसरे मनुष्य को—अपने किसी स्वार्थ का उपाय या साधन न मानें, उसे उपेय मान कर कर्म करें। पुराने शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि धर्म कर्म का स्वतन्त्र पुरुषार्थ है तो नीति से भिन्न है—नीति उपाय-कौशल है, और कोई भी वस्तु, चाहे जड़ हो या चेतन, चाहे मनुष्य ही क्यों न हो, सभी उसके लिए उपाय बन सकते हैं। धर्म में पर को उपेय समझना चाहिए, उपाय नहीं।

यह आपस्तम्ब से मिलती-जुलती, आत्मवान् और समाहित हो कर धर्म के लिए धर्म करने की सी भी बात है। पर आपस्तम्ब से एक अन्तर है—और बड़ा अन्तर है। अंतर इस बात में है कि क्या करें, आचरण का रूप क्या हो, ऐसे प्रश्न का कोई खुल कर उत्तर नहीं मिलता यहां। धर्म के नेति-नेति, निराकार-से स्वरूप का ही विवरण मिलता है : धर्म क्या न हो यही प्रकट होता दिखता है, जब कि आपस्तम्ब में धर्म का एक साकार रूप भी है। संकल्प-शुद्धि के निदिध्यासन के साथ यह भी देशना दी गई है कि शिष्टों के आचरण का अनुकरण करो। कांट धर्म का जो अंतरंग विवरण देते हैं उसे वे धर्म का फॉर्म बताते हैं। इसे हम धर्म की अरूप आकृति कह सकते हैं जो धर्म के कन्टेन्ट मात्र को परिभाषित करती है पर जिसका अपना कोई कन्टेन्ट नहीं होता : आचरण में धर्म कोई भी रूप ले वह आकृति उसके मर्म का स्वरूप लक्षित करेगी, पर धर्म *रूप* क्या ले इसका इंगित वह नहीं करती। पर धर्म केवल फॉर्म तक सीमित नहीं रहता, हमें उसे अनिवार्यतः कन्टेन्ट भी देना ही पड़ता है।

यही धर्म-संकट का भी बीज हो जा सकता है। धर्म का निराकार, अंतरंग रूप—चाहें तो कांट की तरह उसे धर्म का फॉर्म या अरूप आकृति कह लें—यह बात धर्म को एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ बना कर बस ठहर सी जाती है। व्यवहार के लिए धर्म का कोई रूप नहीं दिखाती। लग सकता है कि धर्म की गुफा में धर्म का तत्त्व मिल गया, जहाँ धर्म-संकट की भी कोई बात नहीं। पर हम यहीं आसीन रह कर आचरण

से किनारा तो नहीं कर सकते। यहीं ठहरे रह पाते तो धर्म-संकट से—अब करें क्या? इस प्रश्न के प्रपंच से—सचमुच उबर जाते। धर्म को साकार भी करना ही पड़ता है, व्यवहार में उतारना ही पड़ता है, कन्टेन्ट देना पड़ता है उसे। और जैसे ही हम धर्म को कोई रूप देते हैं, धर्म-संकट के जाल में आ ही फँसते हैं। अब इस परिस्थिति विशेष में क्या करना चाहिए? यह दुविधा उभरती रहती है।

शिष्टाचार की बात लीजिए। प्रश्न उठता रह सकता कि शिष्ट कौन है? क्या उसका सभी आचार ठीक है? और यह भी हमने देखा कि यहाँ यह प्रश्न भी उठे बिना नहीं रहता कि शिष्ट के जैसा होने का, उसके 'अनुकरण' का क्या मर्म है? हम कहें कि शिष्ट की तरह आत्मस्थ, समाहित और संकल्प में शुद्ध हो जाना, यही उसके जैसा होने का मर्म है, तो भी बात ठीक बनती नहीं दिखती। हम किसी भी संकल्प से आचरण करें, हमें आचार विशेष में दोष दिखता ही रहेगा। प्रश्न बना ही रहेगा, क्या यह आचार ठीक भी है? इस प्रश्न से बचा नहीं जा सकता, और इसका उत्तर संकल्प का 'निराचार' नहीं हो सकता, कोई अन्य आचार ही हो सकता है। हम यहां आचार और अनाचार में विवेक करने की कसौटी चाहते हैं और वह आचार से हट कर केवल संकल्प की शुद्धि में नहीं मिलती दिखती।

किसी भी परम्परा के बारे में, या किसी भी महाजन-विशेष या महाजन-समूह के आचार के बारे में दोष-दृष्टि सहज है। माना परम्परा ऐसा करती है, पर हम ऐसा करें या न करें यह प्रश्न सनातन है। ऐसी परिस्थिति में संकल्प की शुद्धि में समाहित हो कर भी क्या उत्तर मिल सकता है? यहाँ इस प्रश्न पर सीधा विचार नहीं कर के एक और दिशा लेकर विमर्श करता हूँ। पर एक बात शायद आगे बढ़ने से पहले ही कही जा सकती है : संकल्प की शुद्धि में निदिध्यासन की बात उठती तभी है जब धर्म-संकट आता है, नहीं तो हम सहज प्रवृत्ति में चलते ही रहते हैं और किसी न किसी परम्परा में रह कर ही आचरण करते ही रहते हैं।

धर्म के मर्म का उद्‌घाटन केवल संकल्प-शुद्धि की दिशा में ही नहीं किया गया है। संकल्प की शुद्धि धर्म को आत्मस्थ हो कर देखती है, आत्मा की अन्तर्गुफा में धर्म के तत्त्व की ओर समाहित होती है। पर मर्म के उद्‌घाटन की एक दिशा और भी है जिसे पर-उन्मुख भाव से, 'परस्थ' हो कर, धर्म के मर्म का उद्‌घाटन कह सकते हैं। आचरण पर-उन्मुख ही होता है और यह ठीक ही लगता है कि आचरण के औचित्य का मर्म भी परस्थ-भाव में ही स्थित होना चाहिए। 'महाजनों' में धर्म का तत्त्व ढूँढने की बात का भी अभिप्राय परस्थ-भाव ही जान पड़ता है।

पर परस्थ-भाव से यहां तात्पर्य क्या? जिन्हें धर्म-चिन्तन में साधारण धर्म कहा जाता है उन्हें हम परस्थ धर्म का मर्म या अंतरंग कह सकते हैं। साधारण धर्मों में एक सार्वजनीन भाव है। इसीलिए ये 'साधारण' हैं, मनुष्य मात्र के लिए हैं। और इनका मर्म प्रत्यक्-मुख न हो कर पराक्-मुख है—अंतरंग-भाव को बनाए रखते हुए ये धर्म

का द्वार बाहर की ओर खोलते हैं। साधारण धर्म क्या है–या क्या हों?–धर्म के क्षेत्र में सार्वजनीन औचित्य का आधार क्या हो?–यह प्रश्न स्वाभाविक ही नहीं सार्वत्रिक है। हमारी परम्परा में साधारण धर्मों की कई तालिकाएँ मिलती हैं। इनमें कुछ धर्म शायद सभी तालिकाओं में मिल जायेंगे, जैसे अहिंसा, सत्य, दया, दान। पर एक बात इन धर्मों में समान रूप से है। इनका सम्बन्ध आचरण से है, ये आचरण की कसौटी के रूप में हमारे सामने रखे गए हैं। माना संकल्प की शुद्धि हो, माना संकल्प ऐसा हो जो सबका संकल्प हो सके, पर यह संकल्प हो क्या जो व्यवहार में उतारा जा सके, जिसको बरता जा सके, साकार रूप दिया जा सके? मानो इस प्रश्न के उत्तर में ही कहा गया है कि सत्य, अहिंसा, दया, दान ऐसे साधारण धर्मों का पालन करो। इन्हें अपने आचरण की कसौटी बनाओ। इनकी तुला पर जो सही उतरे वही आचरण सही है। ये धर्म धर्म-संकट में पंथ दिखाने वाले धर्म भी कहे जा सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि महाजनो येन गतः–बल्कि महाजनाः येन गताः–वे यही साधारण धर्मों के 'पंथ' हैं–जिन्हें परम्परा-विशेष की सीमा से हटा कर सार्वत्रिक-भाव दे दिया गया है। इन्हीं धर्मों में शिष्ट होना सच्ची शिष्टता का सार्वजनीन मर्म है। नहीं है तो होना चाहिए। आचरण में जहाँ औचित्य का प्रश्न उठ खड़ा हो, हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायें, धर्म में कोई संकट आ जाए, वहाँ इन्हीं से धर्म की परख करनी चाहिए। आप कह सकते हैं, परख करने में समस्याएँ उठेंगी, अनेकान्त होगा–एक स्थिर मार्ग नहीं दिखाई देगा, अनेक के जंजाल में एक को ढूँढने की समस्या से मुक्ति नहीं मिलेगी। यह बात सही है। पर ऐसी कोई मुक्ति शायद है ही नहीं। है तो फिर आत्मस्थ होने की ऐसी परमार्थ गति में ही हो सकती है जहाँ व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। पर अनेकान्त की यह समस्या तो हमारी जिज्ञासा के, 'सत्य' की खोज के किसी भी क्षेत्र में बनी रहती है। बुद्धि के क्षेत्र में 'प्रमाण' को लीजिए। हम कहते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं। इनसे ज्ञान मिलता है और इनसे ज्ञान की परख होती है। प्रमाण क्या हो? क्या ये ही प्रमाण हैं? इन प्रश्नों को उठाते उठाते भी हम कहते हैं कि ये प्रमाण हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान ये प्रमाण का एक भरोसेमंद, साकार, प्रयोग में लाया जा सकने वाला रूप हमारे आगे रखते हैं। कहना न होगा कि इससे प्रमाण की या सत्य की समस्या मिट नहीं जाती। इन प्रमाणों का स्वरूप क्या है, इनका प्रयोग कैसे हो, क्या कोई ज्ञान इनकी तुला पर सचमुच खरा उतरा है? ये प्रश्न तो बने ही रहते हैं। फिर भी एक प्रयोग में ला सकने वाली साकार तुला तो हैं ही ये प्रमाण। ऐसे भी हैं कि प्रयोग में ही इनका निरन्तर परिष्कार भी किया जा सके। इनसे अनेकान्त मिटता नहीं, बनता ही है, पर जो बनता है कुछ साकार बनता है। आगे दिशा खुलती रहती है। साधारण धर्मों को कुछ इन प्रमाणों का समानधर्मा कहा जा सकता है। वे धर्म के ऐसे से प्रमाण हैं। उन्हीं की तरह परस्थ भी हैं–किसी एक में स्वगत और सीमित नहीं, सत्य के 'महाजनों' में साधारण, सार्वजनीन रूप से स्थिर हैं।

पर ये जहाँ धर्म का रास्ता दिखाते हैं उसके खरेपन को साकार रूप और तुला देते दीखते हैं, वहीं ये धर्म-संकट की सबसे गहरी जड़ भी हैं। धर्म-संकट यह नहीं होता कि मैं धर्म को धर्म की तरह एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में करूँ या न करूँ? दूसरे को उपाय बना कर उसके प्रति कर्म करूँ या उसे उपेय रखूं? जो कुछ करूँ संकल्प की शुद्धि में करूँ या न करूँ? मेरा कर्म सब का धर्म हो सके या न हो सके? ये प्रश्न वास्तव में धर्म-संकट नहीं जगाते। जहाँ तक हम धर्म करते हैं, कर पाते हैं, धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ मान कर संकल्प-शुद्धि के भाव से ही करते हैं, पर को आत्मवत् उपेय ही मानने का आदर्श भी सामने रखते हैं। ऐसा ही धर्म करना चाहते हैं जो सार्वजनीन हो। 'साधारण'-धर्म ऐसा ही धर्म होता है। यह भी ठीक ही लगता है कि साधारण धर्म को सत्य, अहिंसा, दया, दान...ऐसे ही रूपों में साकार किया जा सकता है। पर यहीं धर्म-संकट का दुस्तर द्वार भी खुल जाता है। साधारण-धर्म एक नहीं अनेक होते हैं। इतिकर्त्तव्यता की तुला पर सब बराबर भी ठहराए जाते हैं। पर धर्म-संकट गहराता ही तब है जब दो साधारण धर्मों में एक को चुनना पड़े और हम चाहे कोई सा धर्म अपनायें, धर्म के मर्म की हानि से नहीं बच सकें। क्योंकि जिसको हम नहीं अपनायेंगे उससे च्युत हो कर अधर्म की ओर बढ़ेंगे।

बुद्धि के क्षेत्र में भी प्रमाणों का अनेकान्त होता है। कब, कहां, कौन सा प्रमाण काम में लें, यह विचार-संकट सदा खड़ा हो सकता है। पर वहाँ पहेलियाँ ही उभरती हैं, जीवन में उतर जाता संकट नहीं। प्रत्यक्ष और तर्क के असमंजस को देखने के लिए ज़ीनो का मशहूर पैरेडॉक्स लीजिए। गति का होना, समय का बीतना, ये ऐसे प्रत्यक्ष हैं कि इन पर संशय लाना कठिन है। पर ज़ीनो तर्क का आश्रय ले कर दिखाते हैं कि न गति सम्भव है न समय का बीतना। प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान यहां बुद्धि-संकट नहीं टाल सकता। अनुमान का प्राण तर्क होता है—सच पूछिए तो विचार का ही प्राण तर्क होता है। ज़ीनो प्रत्यक्ष और तर्क के विरोध की बड़ी विषम सी समस्या खड़ी कर देते हैं जिससे फिलॉसफर सदियों से जूझते चले आ रहे हैं। पर है यह पहेली ही। बुद्धि का भी कौतुक ही जगाती है; उसके लिए कोई गहरे संकट की सी बात नहीं है। हाँ, बात यहाँ से और घोर दुविधा की ओर मुड़ सकती है अगर यह प्रश्न खड़ा हो कि : क्या हम जगत् के ज्ञान के लिए बुद्धि पर—अनुमान और तर्क पर—भरोसा कर भी सकते हैं? क्योंकि न करने में भी गति नहीं दिखाई देती : जगत् का ऐसा ज्ञान जिसमें अनुमान और तर्क का स्थान ही न हो क्या उसे हम ज्ञान कह सकेंगे? ज्ञान के लिए यह टेढ़ा प्रश्न हो सकता है। बुद्धि के लिए गहरे उलझन की बात हो सकती है; पर बुद्धि पलती ही ऐसी उलझनों पर है। ऐसे विरोधों को पचा भी लेती है, या इन्हें अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति या माया कह देती है और विमर्श या आत्म-चेतना के द्रष्टा-भाव में अपने से अलग खड़ी हो जाती है। विमर्श की एक और ऊर्ध्वतर भूमि पर जा बैठती है, टूट कर बिखर नहीं जाती। बुद्धि के विरोध में

धर्म-संकट जैसा तोड़ देने वाला संकट नहीं है जहाँ धर्म का कोई सा द्वार हम चुनें श्रेयस् की–धर्म के सत्य की–हानि फिर भी होगी ही। बुद्धि के लिए विरोध में किसी न किसी समन्वय का मार्ग खुला रहता है जब कि धर्म-संकट में धर्म-च्युति से बच निकलना असम्भव लगता है। बुद्धि के लिए समन्वय न भी सम्भव हो तो भी ऐसा मोड़ नहीं आता कि जो भी दिशा लें सत्य की हानि होगी ही।

कहा जा सकता है कि धर्म में भी हम व्यवहार को भ्रान्ति कह कर संकल्प-शुद्धि की, या कर्म से निवृत्ति की ऊर्ध्वतर भूमि की शरण ले सकते हैं। ऐसा करने की परम्परा भी है। पर धर्म के क्षेत्र में–कुरुक्षेत्र के बीच खड़े होकर–धर्मों ही के बीच उठे युद्ध के संकट को भ्रान्ति समझ लेना हमारे बोध के बस में नहीं होता। हम न्याय चाहें तो न्याय के लिए लड़ना भी होता है; लेकिन तब अहिंसा नहीं रहती, दूसरे और भी सत्यों का हनन होता है–धर्म-चेतना से यह काँटा निकलता नहीं है। **महाभारत** की गवाही को मानें तो इस शल्य का बोध भी परम्परा में तीखा है।

पर **महाभारत** में ही–और मुझे लगता है कि शायद वहीं–धर्मों के बीच के अनिवार्य विरोध से उठते धर्म-संकट के समाधान का भी मार्ग ढूँढने का एक विलक्षण प्रयत्न है। यह मार्ग संकल्प-शुद्धि का या निवृत्ति का मार्ग नहीं है–हालांकि **महाभारत** में, **गीता** के उपदेश में, युद्ध-क्षेत्र पर ही, उस दिशा में भी मार्ग ढूँढे गए हैं। पर मैं यहाँ चर्चा 'परम धर्म' की कर रहा हूँ। **गीता** में इसकी बात नहीं है। पर **महाभारत** में अन्यत्र परम धर्म की चर्चा बार-बार आई है। बराबर के धर्मों के बीच चयन करना हो, धर्मों के अनेक को ही एक कसौटी पर कसना हो कि धर्मों का धर्म क्या है? तो 'परम धर्म' एक तुला देता है। यक्ष-प्रश्न का प्रसंग तो प्रसिद्ध ही है जहाँ आनृशंस्य को परम धर्म कहा गया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' भी **महाभारत** का ही वाक्य है। अन्यत्र आचार या शिष्टाचार को भी परम धर्म कहा गया है। यहाँ प्रश्न सहज है कि जब इतने धर्मों को परम कहा गया है तो परम फिर क्या हुआ? **महाभारत** में इस प्रश्न की कोई व्यवस्थित या विशेष विमर्श के साथ चर्चा नहीं है, जैसी **गीता** में संकल्प या निवृत्ति-मूलक धर्मों की है। पर एक प्रच्छन्न सी चर्चा देखी भी जा सकती है–एक अन्तःसलिल सा विवाद है जिसके भीतर से परम धर्म की धारणा उभर कर आती दिखाई देती है। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में भी एक विमर्श-सा किया गया लगता है, हालांकि प्रश्न की कोई स्पष्ट *विवेचना* नहीं है। फिर भी एक सोच का आधा प्रकट सा रूप आगे आता है। धर्म क्या है? यह प्रश्न **महाभारत** में सदा जागृत रहता है–पूरे कथानक में और उसमें आते उपाख्यानों में इस पर विचार के अपनी तरह के सूत्र उभरते रहते हैं।

जिस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर आनृशस्यं परो धर्मः कहते हैं उस प्रश्न में धर्म के विषय में दो भिन्न प्रश्न हैं। यक्ष के रूप में यम–धर्म–स्वयं पूछते हैं : लोक में परम धर्म क्या है? और, वह कौन सा धर्म है जो सदा फलवान् होता है?–कश्च धर्मः परो

लोके कश्च धर्म सदाफल:? पहले का उत्तर है आनृशंस्य और दूसरे का त्रयी धर्म या वैदिक धर्म। भेद पते का है। अब की हमारी अपनी चर्चा को ध्यान में रखें तो धर्म-विषयक चिन्तन के दो सूत्र जिन्हें हम उभार चुके हैं, उन सूत्रों की यहाँ छाया दिखाई देती है। लक्षणीय है कि आनृशंस्य को यहाँ 'लोक' का–आचरण-व्यवहार का परम धर्म बताया गया है। त्रयी धर्म को उससे अलग किया गया है। पर त्रयी धर्म भी यहां आचार या शिष्टाचार से जुड़ता लगता है। त्रयी वेद को कहते हैं और त्रयी धर्म यहाँ वही धर्म है जिसके लिए वेद को, अर्थत: वैदिक आचार को, प्रमाण माना जाता है। यह भी, जैसा हमने ऊपर आपस्तम्ब में देखा, धर्मशास्त्र की परम्परा में 'लोक' के लिए–व्यवहार के लिए–धर्म का आधार कहा गया है–**महाभारत** में अन्यत्र इसे इसी अर्थ में परम धर्म का नाम दिया भी गया है। स्पष्ट है कि युधिष्ठिर इस त्रयी धर्म को परम धर्म नहीं कहना चाहते। आपस्तम्ब के **धर्म-सूत्र** में हमने देखा कि धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में देखने की बात तो है पर वहाँ यही स्वर ऊँचा है कि धर्म से इहलोक और परलोक दोनों में मीठा फल मिलता है। यह भी एक कारण लगता है कि युधिष्ठिर त्रयी धर्म को 'परम' नहीं कहना चाहते। तभी उसे 'सदाफल' देने वाला धर्म कहते हैं, और परम धर्म से उसका अन्तर करते हैं। उनके मन में यह बात है कि फल के लिए किया गया धर्म परम धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। पर धर्म के लिए धर्म करें तो उचित आचरण का प्रमाण शिष्टाचार मात्र भी नहीं हो सकता। उसकी परम्परा विशेष से बँधी सीमा स्पष्ट है तभी साधारण धर्म की बात उठाई गई है। और फिर साधारण धर्मों के ही अनेकान्त में परम धर्म की बात उठती है। धर्मों को तुला पर तोल कर उनमें से किसी एक को धर्मों की कसौटी के रूप में ठहराना हो तो किसे चुनना चाहिए? यह प्रश्न कचोटने लगता है। परम धर्म की जिज्ञासा करते हुए यक्ष के मन में यही प्रश्न है। उनके प्रश्न का हम यों खुलासा कर सकते हैं : 'व्यवहार के लिए धर्म के स्वतन्त्र पुरुषार्थ का क्या परम आधार हो? धर्मों के अनेकान्त में कौन सा धर्म सब धर्मों का निकष हो?' इसी के उत्तर में वैदिक धर्म से इन्कार करते हुए–उसे धर्म के स्वतन्त्र पुरुषार्थ के क्षेत्र से बाहर करते हुए–क्योंकि वह फल के लिए किया जाता है–युधिष्ठिर उत्तर देते हैं : आनृशंस्य परम धर्म है। अन्यत्र अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में अगर हम उस श्लोक को भी प्रसंगगत मानें जिसे आधुनिक विद्वान प्रक्षेप ठहराते हैं तो इसी प्रश्न का एक और उत्तर मिलता है : *महाजनो येन गत: स पंथा:।* महाजन की धारणा किसी शिष्टाचार विशेष से जुड़ी नहीं होती, साधारण, सार्वजनीन हो सकती है। जैसे बुद्ध का धर्म या गांधी का धर्म। या कृष्ण का धर्म–जिसकी हम आगे चर्चा भी करेंगे।

यक्ष-प्रसंग की थोड़ी और थाह लें तो कुछ और भी साफ देख पायेंगे कि युधिष्ठिर के आगे धर्म के और भी आदर्श थे जिनमें से वे आनृशंस्य को चुनते हैं। यक्ष के पहले के ही कुछ प्रश्नों में एक प्रश्न है : जो सत् होते हैं उनका धर्म क्या है?–*कश्च धर्म: सतामिव?* 'सत्' के साथ मगर एक विशेषण जुड़ा हुआ है जो 'सत्' को

एक वर्ण विशेष के साथ जोड़ता है और दूसरे दो प्रश्नों की अपेक्षा इस प्रश्न के सार्वजनीन भाव को संकीर्ण कर देता है। प्रश्न है कि जो सत्-*ब्राह्मण* हैं उनका धर्म क्या है? पर एक तरह से देखें तो 'सत्' के साथ जुड़े 'ब्राह्मण' विशेषण को अलग भी कर दिया जा सकता है। प्राचीन धारणाओं में सार्वजनीन धर्मों की चर्चा भी अक्सर समूह विशेष के नाम पर हुई है। यह बात भारत में ही नहीं अन्य संस्कृतियों में भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए अरस्तू की धर्म-चर्चा ग्रीक लोगों को ही धर्म का अधिकारी मान कर चलती है, दूसरों को नहीं, दूसरे तो दास होने के ही पात्र हैं। पर अरस्तू की चर्चा में जैसा सार्वजनीन भाव है वैसा यहाँ इस प्रश्न और इसके उत्तर में भी देखा जा सकता है। यहाँ भी तात्पर्य में धर्म के 'साधारण' भाव का ही संकेत है। यों भी प्रश्न जिस संदर्भ में उठा है उसके संकीर्ण भाव को हटा देने पर 'सत्' का अर्थ ब्राह्मण होने की सीमा से निकल जाता है और प्रश्न यही ठहरता है कि धर्म क्या है, क्योंकि सत्-जन का धर्म और साधारण रूप से मनुष्य मात्र का धर्म, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। पर प्रश्न के उत्तर को देखें तो पहली दृष्टि में यह वर्ण विशेष के अभिप्राय से ही दिया गया लग सकता है। प्रश्न का उत्तर है : यज्ञ। परम्परा में यज्ञ को सवर्णों का और उनमें भी विशेष कर ब्राह्मणों का धर्म कहा ही गया है। पर हम यह भी देख आए हैं कि यज्ञ को जिस रूप में देखा जा सकता है उसमें वर्ण-विशेष की केंचुल विलीन सी भी हो जाती है।

फिर भी कहा जा सकता है कि यज्ञ करना तो ब्राह्मण के लिए ही विशेष धर्म है। इसलिए यज्ञ को यहां सत् ब्राह्मण का विशेष धर्म ही मानना चाहिए। 'सत्' को यहां 'ब्राह्मण' से अलग नहीं किया जा सकता - जैसा कि हम चाह रहे हैं। पर यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में और थोड़ा उतर कर देखें तो स्पष्ट होने लगता है कि यहाँ यज्ञ से तात्पर्य यज्ञ के फल से नहीं यज्ञ के एक ऐसे अंतरंग रूप से है जो **जैमिनीय ब्राह्मण** के यज्ञ से साम्य रखता है। यज्ञ के बारे में यक्ष पूछते हैं : यज्ञ का वह साम कौन सा है जिसे 'एक' साम कहा जा सके, वह यजु कौन सा है जिसे 'एक' यजु कहा जा सके, वह क्या है जो पूरे यज्ञ पर छाया रहता है, जिसका यज्ञ कभी अतिक्रमण नहीं करता? उत्तर है : प्राण यज्ञ का साम है, मन यजु है और वाक् यज्ञ पर छाई रहती है, यज्ञ उसका अतिक्रमण नहीं करता। प्रतीक योजना का **जैमिनीय ब्राह्मण** से साम्य यहां सामने ही है, हालांकि यहां प्रतीकों के सम्बन्ध **जैमिनीय** की अपेक्षा अस्पष्ट हैं। पर इतना तो स्पष्ट है कि यह यज्ञ अन्तर-यज्ञ है। वैसा यज्ञ नहीं जिसका फल से सम्बन्ध जोड़ा गया है। सत् ब्राह्मण को यही यज्ञ करना चाहिए। और कहना न होगा कि यह सत्-जन मात्र का अन्तर-यज्ञ हो सकता है। इस यज्ञ के स्वरूप के बारे में एक और इंगित मिलता है। यक्ष युधिष्ठिर से सत् ब्राह्मण का ही नहीं असत् ब्राह्मण का भी धर्म पूछते हैं : इस प्रयोग में 'धर्म' 'स्वभाव' के अर्थ में आया है, इतिकर्त्तव्यता के अर्थ में नहीं, या यों कहें, इस अर्थ में आया है कि 'जो नहीं करना चाहिए वह करना' ही असत् का 'धर्म' है : तात्पर्य यह कि ब्राह्मण को क्या *नहीं* करना चाहिए? परित्याग

को असत् का धर्म कहा है। परित्याग का आशय यहां स्पष्ट नहीं है। किस का परित्याग? सन्दर्भ से लगता है, यज्ञ का परित्याग, यज्ञ न करना। आशय हो सकता है, यज्ञ-मार्ग का अस्वीकार, निवृत्ति की ओर झुकना या यज्ञ-भिन्न किसी और आदर्श की ओर प्रवृत्त होना। या फिर धर्म के अंतरंग यज्ञ-भाव को छोड़ते हुए केवल फल के लिए यज्ञ में प्रवृत्त होना। यह असत् ब्राह्मण का धर्म है।

पर आनृशंस्य पर आता हूं। यज्ञ की बात हो रही थी। हम चाहें तो आनृशंस्य के परिप्रेक्ष्य में भी 'यज्ञ' को एक अंतरंग प्रतीक रूप में देख सकते हैं। हम कह सकते हैं कि आनृशंस्य धर्म का व्यवहार है, और यज्ञ–ऋत, या सत्य-गर्भ श्रद्धा–उसका अंतरंग परमार्थ।

पर यहाँ कई नये प्रश्न उठ खड़े होंगे।

हमारे लिए पहला प्रश्न है, आनृशंस्य है क्या? नया सा शब्द है, उसे **महाभारत** में किस अर्थ में लिया गया है? उसे परम धर्म कहने का तात्पर्य क्या? क्या आनृशंस्य या दूसरा कोई परम धर्म धर्म-संकट में सचमुच रास्ता दिखा सकता है? तो फिर **गीता** में आनृशंस्य या किसी और परम धर्म का उपदेश क्यों नहीं है? फिर ऊपर की चर्चा से यह भी दिखता है कि परम धर्म की धारणा अगर कर्म के औचित्य में धर्मों के अनेकान्त को हटाना चाहती है तो ऐसा कर नहीं पाती। **महाभारत** ही कई परम धर्मों को स्वीकार करता लगता है। धर्म-संकट में जहाँ एक धर्म दूसरे समतुल्य धर्म से टकरा रहा हो वहाँ किसी धर्म को परम कह देने से बात कैसे बन जाएगी? परम धर्म ही अनेक हैं तो विरोधी धर्मों में निकष कैसे बनेंगे?

फिर एक बात और है। परम धर्म अपने मर्म में व्यवहार का धर्म होना चाहिए। आनृशंस्य को परम धर्म कहते हुए यक्ष प्रसंग में ही उसका 'लोक' से, लोक-व्यवहार से, सम्बन्ध जोड़ा ही गया है। उसका सम्बन्ध केवल धर्म के किसी स्वतन्त्र, आत्मस्थ संकल्प-शुद्धि के पुरुषार्थ से नहीं है। यों भी हमारे यहाँ धर्म का संबंध व्यवहार से रखा गया है। लोक-व्यवहार को ही ध्यान में रखते हुए धर्म-अर्थ-काम को एक परस्पर-नद्ध त्रिपुटी के रूप में देखा गया है। जब व्यवहार के परम धर्म की बात हो रही हो तो धर्म को अर्थ और काम के संदर्भ में ही समझने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा करें तो कई समस्याएँ सामने आयेंगी। व्यवहार तो मानो स्वरूप से ही अनेक धर्मों की मांग करता है; वहाँ परम धर्म का क्या तात्पर्य हो सकता है या होना चाहिए?

आगे इन प्रश्नों को भी ध्यान में रखते हुए आनृशंस्य पर आता हूँ।

❐

हमारा मनुष्य-भाव : कथा और रस

आनृशंस्य की धारणा को पहले कुछ समझने और समझाने की चेष्टा करता हूँ, क्योंकि **महाभारत** में चाहे उसे परम धर्म कह कर गरिमा के शिखर पर रखा गया हो पर उसका प्रयोग भी **महाभारत** तक ही सीमित सा जान पड़ता है। 'आनृशंस्य' यह शब्द साधारण प्रयोग में तो अनजाना सा है ही, साहित्य में भी, यहाँ तक कि धर्मशास्त्र के लम्बे और विशाल साहित्य तक में, जहाँ उसके प्रयोग का परिचय मिलना स्वाभाविक लगता है, वहाँ भी वह अपरिचित सा ही है। परम धर्म के नाम से तो क्या, धर्मशास्त्र में आनृशंस्य की कहीं साधारण धर्मों में भी मैंने गिनती नहीं देखी है।

तो, आनृशंस्य को **महाभारत** से ही समझना होगा। या यों कहें कि आनृशंस्य के अर्थ के सार को **महाभारत** के मंथन से बाहर निकालने की चेष्टा करनी होगी। **महाभारत** दर्शन-ग्रन्थों की तरह लक्षण, युक्ति-विचार और विवरण-विवेचना के सहारे बात को खोलने-बढ़ाने वाला ग्रन्थ नहीं है। इतिहास-पुराण है। स्मृति भी है, पर इतिहास में पिरोई हुई, इतिहास-गर्भित स्मृति है। किस अर्थ में इतिहास है, यह प्रश्न उठ सकता है। पर यहाँ नहीं उठाऊँगा। मैं समझता हूँ कि एक बात फिर भी आपके सामने निर्विचार रख सकता हूँ, इस भरोसे के साथ कि आप उससे इन्कार नहीं करेंगे। **महाभारत** इस अर्थ में तो इतिहास है ही कि कथा है, विगत की कथा। अपनी बात कथा के रूप में, कथा के गर्भ से कहता है। उसकी बात से कथा को निकाल दीजिए तो भी कहने को कुछ बच तो रहेगा, या यह भी मान लें कि थोड़ा ही कुछ नहीं, कई बातें बच रहेंगी जो अपने आप में अवधेय होंगी, धर्म के स्वरूप पर गहराई से मनन करती हुई होंगी; लेकिन फिर भी हमें लगेगा कि मर्म कहीं ओझल सा हो गया है। बात पूरी बन नहीं रही है। इसका एक कारण है कि **महाभारत** का विचार ही कथा-धर्मी है। और कथा-धर्मी ही नहीं, कथा-मर्मी है। 'कथा-मर्मी' इसलिए कह रहा हूँ कि एक मार्मिक अर्थ में धर्म की बात, खासकर जब धर्म को संकट-मय देखा जा रहा हो, तो धर्म के स्वरूप की ऐसी अंतरंग बात, कथा में ही सही-सही कही जा सकती है। धर्म में संकट अगर साँस की तरह बसा हुआ है, और हमारे कर्म के प्राण-प्रवाह का अन्तरंग है, तो उसके स्वरूप को प्रकट करने का प्रकार—दूसरे शब्दों में, उस पर 'विचार'—वह भी जीवन की गति के साथ गुँथा हुआ-सा, जीवन-वृत्त से एकरस सा होना चाहिए। यह बात कथा में ही बन सकती है। इसीलिए **महाभारत** स्मृति होते हुए भी—और उसे स्मृति कहा ही गया है—वह इतिहास-रूपी

स्मृति ही है : इतिहास के रूप में -इतिवृत्त-धर्मी कथा के रूप में–ही स्मृति है। दूसरी स्मृतियों से उसका यह भेद सदा स्पष्ट रहा है।

आनृशंस्य को 'परम' धर्म मानने का भी जो इतर स्मृतियों से भेद है वह भी **महाभारत** की कथामयता या वृत्त-मयता से जुड़ा हुआ है। तभी हम पाते हैं कि आनृशंस्य का जो रूप वहाँ उभरता है, कथा में ही उभरता है। **महाभारत** का जिसे विशुद्ध स्मृति अंश कह सकते हैं वह नितान्त धर्मशास्त्र का हिस्सा सा लगता है, उस हिस्से में जो धर्म पर विचार है वहाँ अन्य धर्म-ग्रन्थों की तरह ही आनृशंस्य को भी कोई खास हिस्सा नहीं दिया गया दिखाई देता है। कथा-भाग में ही आनृशंस्य की 'कथा' उभरती है। यों एक 'कथा-मर्मी' रूप में ही आनृशंस्य के अर्थ और भाव को उभारा गया है वहां।

हम यह भी पाते हैं कि आनृशंस्य की कथाएँ धर्म-संकट के प्रसग से भी जुड़ती हैं और इसमें भी एक गम्भीर अभिप्राय देखा जा सकता है। धर्म-संकट का मर्म ही ऐसा है कि जीवन के किसी कठिन मोड़ पर स्पन्दित होता है, साँस की साँसत बन जाता है, कहानी के जीवन-स्पन्द में ही उसकी आकृति स्पन्द बन कर जाग सकती है, प्राण-प्रतिष्ठा पा सकती है।

एक बात और है जो मैं समझता हूँ आनृशंस्य को समझने के लिए ध्यान में रखने की है। आनृशंस्य प्रवृत्ति का धर्म है। आचरण का, व्यवहार का, शील का धर्म है। वह जीवन के श्रेयस् ही नहीं प्रेयस् को भी अंगीकार करता है। पुरुषार्थ की पुरानी, पर जानी-मानी और सार्थक कोटियों में कहें तो कह सकते हैं कि धर्म यहाँ काम से युगनद्ध है। यह नहीं कि अर्थ से नहीं जुड़ा है। अर्थ से तो यह विच्छिन्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसे अर्थ कहा गया है वह समाज, राज्य, उत्पादन-वितरण की व्यवस्था या तन्त्र का ही दूसरा नाम है। हमारे जीवन का व्यापार–लोक-व्यवहार–अर्थ की धरती पर ही होता है, उसके बिना वह अकल्पनीय है। पर अर्थ का जगत् प्रकृति के जड़-जगत् की तरह ही व्यक्ति रूप में हमारे लिए कुछ पराया-सा, कुछ बाहर का-सा व्यापार है। पर उसे बनाए रखने के लिए, या कोई नया रूप देने के लिए, वह जैसा है उसे और उचित–'धर्म्य'–रूप देने के लिए हमें समष्टि रूप में निरन्तर उद्यम भी करते रहना पड़ता है। और यों अर्थ का जगत् हमारा अपना जगत् भी है, तभी पुरुषार्थ का विषय है, सिद्ध नहीं साध्य है। फिर भी एक तरह से है बहिरंग ही। हमारे पुरुषार्थ का बाहरी रूप : शरीर : है, मन या प्राण नहीं। मन-प्राण तो काम है।

'पुरुषार्थ' के नाम से काम कामना, एषणा का ही दूसरा नाम है। उसे स्त्री-पुरुष-प्रसंग के अर्थ में संकीर्ण कर देने की परम्परा रही है, पर वह परम्परा दृष्टि-दुष्ट ही नहीं, भ्रान्त भी है। काम हमारी चाह, इच्छा, अभीप्सा, आकांक्षा, अभिलाषा,

साध... का नाम है। उसे हमारी जिजीविषा का दूसरा नाम भी कहा जा सकता है। उसके हमारे साथ सौ अन्तरंग सम्बन्ध हैं। यों काम स्त्री-पुरुष-प्रसंग की ही नहीं, जीवन के हर प्रसंग की बात है। तन-मन-प्राण और आत्मा की डोर से बँधे हमारे जितने परस्पर सम्बन्ध हैं, जगत् से सम्बन्ध हैं, सभी सम्बन्धों का उससे सरोकार है। हमारे सम्बन्ध ही नहीं, हमारे प्रयत्नों में भी वह बसा है।

अपने सम्बन्धों और प्रयत्नों को हम श्रेयस् और प्रेयस् इन दो कोटियों में रखते हैं या रख सकते हैं। श्रेयस् के सम्बन्धों और प्रयत्नों को हम काम नहीं कहकर 'काम्य' कह सकते हैं, कहते भी हैं : ये ऐसे हैं जिनकी कामना होनी चाहिए। पर ज़रूरी नहीं कि सचमुच हो ही। मनुष्य के जीवन में 'काम' के साथ 'काम्य' का विचार सहज है : हर काम को हमारा विमर्श-बोध 'यह काम्य है या नहीं' इस परख की कसौटी पर देखने की चाह रखता है। 'काम्य' में 'श्रेयस्' का बोध उभरता है।

पर हमारी चाह श्रेयस् के लिए हो तो काम की कोटि से बाहर भी जाती लगती है। फिर भी एक बात है। चाह चाहे श्रेयस् के लिए भी हो तो भी हम चाहते रहते हैं कि वह सचमुच 'चाह' बन जाए; केवल 'होनी चाहिए' की कोटि में न रहे, यह बात भी हम साधना चाहते हैं। 'धर्मकाम', 'मोक्षकाम', 'श्रेयस्काम'—ऐसे प्रयोगों का यही अभिप्राय है। यहां काम का 'प्रेयस्' अर्थ अनायास ही 'श्रेयस्' की ओर झुक जाता है। व्यंजना यह होती है कि श्रेयस् ही प्रेयस् भी है। 'धर्मकाम' वह है जिसे धर्म की चाह है—सचमुच है, केवल 'होनी चाहिए' की कोटि में नहीं है। हम यों भी कह सकते हैं कि धर्मकामी धर्म में धर्म को प्रेयस् जानकर प्रवृत्त होता है। यह बात और है कि हम उसे श्रेयस् *भी* मानते हों। श्रेयस्काम वह है जिसे श्रेयस् की सहज कामना है, वह नहीं जो श्रेयस् की कामना करना चाहता हो। ऐसे प्रयोगों में 'काम' का अर्थ 'काम्य' को आत्मसात् कर लेता है। जो 'कामना का विषय होना चाहिए' वही कामना का विषय है भी।

पर हम इस बात को मान भी लें तो भी बात कहीं खटकती ही रहेगी। धर्म, श्रेयस्, मोक्ष इनके साथ 'काम' या 'कामना' की बात ठीक-ठीक गले उतरती नहीं जान पड़ती है। इन्हें *कामना* का विषय किसी भी अर्थ में कहना क्लिष्ट-कल्पना सी ही लग सकती है। ये 'काम्य' भी खींचतान कर ही ठहराए जा सकते हैं—क्योंकि 'काम्य' उसे ही कहना चाहिए जो कामना को प्रिय है, प्रेयस् का विषय है, श्रेयस् का नहीं। अगर हम यहां श्रेयस् की बात करना चाहें, औचित्य-साधना की बात, तो जो एषणा किसी तरह उचित ठहरे उसके लिए धर्म जैसा कोई दूसरा उपयुक्त शब्द चाहिए, उसे 'काम' का नाम देना शब्द-व्यायाम ही ठहरता लगता है—बल्कि भ्रान्त, अपप्रयोग, चाहे ऐसे प्रयोग होते ही क्यों न रहे हों। हमारे काम की, चाह की दुनिया ही और है—श्रेयस् का मार्ग इससे अलग ही ठहरता है। जो हम सचमुच चाहते हैं—हमारे पुरुषार्थ के रूप में 'काम'—वह हमारे प्रेयस् का 'काम्य' जगत् है। वह संसार

है जिसमें रहते हुए हम उसे 'सुख का संसार' बनाना चाहते हैं : हमारा, हमारे अपनों का वलय, तन-मन के सम्बन्ध, उसमें उठती इच्छाएँ, प्रिय-बोध–हमारी रहनी के इस संसार को कुछ और अपना-सा, सपनों का-सा, मन के अनुकूल बनाने की चेष्टाएँ, अपने लिए, अपने प्रिय-जनों के लिए, की जाती साध, संघर्ष : 'काम' का सम्बन्ध इन्हीं से बनता लगता है। उसका सम्बन्ध हमारे दैनन्दिन 'मानव' जगत् से है जिसके अपने सौ अभिनिवेश हैं जो हमें लगाये रहते हैं, उसे 'काम्य'–कमनीय–बनाने में हमें उलझाये रखते हैं। हमारे लगन की, 'चाह' की, यही दुनिया है। अर्थ इसी को आधार देता है। पुरुषार्थ के रूप में काम का तार इसी दुनिया से बँध कर बोलता है, चाहे कभी, तार-तार भी क्यों न हो जाता हो। आख़िर 'काम' का ही संसार फिर नाकामी का भी संसार है ही।

धर्म की पुरुषार्थ के रूप में बात हो तो अर्थ और काम के इसी संदर्भ में होनी चाहिए। इसी संदर्भ में धर्म-अर्थ-काम की त्रिपुटी बनाई भी जाती रही है। इस त्रिपुटी को ध्यान में रखें तो 'धर्म' का 'काम' से कहीं भीतर का सम्बन्ध होना चाहिए, नहीं तो त्रिपुटी का कोई अर्थ नहीं। 'धर्म' 'श्रेयस्' है; पर हम यहां धर्म को काम के साथ रखते हुए श्रेयस् की बात करें तो फिर प्रेयस् के साथ घनिष्ठ रहते, प्रेयस् के अनुकूल रहते श्रेयस् की बात होनी चाहिए। अब श्रेयस् को प्रेयस् के अनुकूल यों रखा जा सकता है : हम कह सकते हैं कि हमें अपने प्रेयस्-बोध के भीतर भी केवल अपना ही नहीं, दूसरों के भी प्रेयस् का ध्यान रहता है–मनुष्य के रूप में हमारा प्रेयस् बनता ही दूसरों के साथ है : अन्य-संग्रही होता है प्रेयस्, अन्य प्रिय-जनों के साथ खुलता, खिलता है। हमारी चाह–व्यक्ति-रूप में हमारी चाह–हमसे बाहर दूसरों में विस्तार चाहती रहती है। प्रेयस् के इस विस्तार को, उसकी इस अन्य-संग्रही, दूसरों-का-साथ-चाहती प्रेरणा को, उससे जन्मे प्रयत्न को, हम चाहें तो श्रेयस् कह दे सकते हैं।

पर यहां आधारभूत आपत्ति हो सकती है। सच पूछिए तो हमारे यहां 'श्रेयस्काम' 'मोक्षकाम' को ही कहा गया है–अर्थात् श्रेयस्काम वह है जो 'काम' के इस संसार को दुःख या प्रपंच समझता हो या निरर्थक झाड़ और झंखाड़; इसे भूमा से सर्वथा विहीन मानता–या जानता–हुआ इसको निर्वेद की दृष्टि से देखना चाहता हो। लेकिन श्रेयस्-दृष्टि जब ऐसी दिशा ले तो श्रेयस् और प्रेयस् की उस जुगलबंदी का कोई अर्थ नहीं रहता जिसकी अभी चर्चा की और जहां श्रेयस् का बीज प्रेयस् में ही देखा। 'मोक्षकाम' के लिए श्रेयस्-प्रेयस् का कोई आपसदारी का सम्बन्ध नहीं बनता। सम्बन्ध कोई बनता है तो परस्पर-निषेध का ही बनता है।

'धर्मकाम' को लें। धर्म की प्रेरणा को भी लोकोत्तर मोक्ष की दिशा में समझा जा सकता है। मोक्ष ही परम धर्म है, यह मनोभाव हमारे यहां पुराना है, वांछित माना ही जाता रहा है। पर समस्या यहां यह होगी कि फिर पुरुषार्थ के रूप में 'धर्म' का कोई अलग अर्थ नहीं रहता। 'धर्म' 'मोक्ष' का ही पर्याय-सा हो जाता है। उसका धर्म-

अर्थ-काम की त्रिपुटी में स्थान नहीं रहता। यह ठीक ही है कि मोक्ष-मार्गियों के यहाँ धर्म–या श्रेयस्–वास्तव में है ही वह जो मोक्ष या निर्वाण की ओर ले जाता हो : किसी ऐसी स्थिति की ओर ले जाता हो जो काम के जगत् से अलग रहकर ही निःश्रेयस् बन पाती है–यहां काम के साथ या प्रेयस् के साथ श्रेयस् का कोई मेल नहीं बनता है। इस मोक्ष-मार्गी अर्थ में 'धर्म' को हमारे यहाँ निवृत्ति-धर्म भी कहा गया है, जिसकी हम पहले भी चर्चा कर आए हैं। धर्म का यह मार्ग काम के जगत् को दूर छोड़ता हुआ ही आगे निकलता है। इसका प्रेयस् से कोई मतलब नहीं।

पर धर्म-अर्थ-काम इनको जब साथ रखा जाता है और इन्हें पुरुषार्थ की ऐसी त्रिपुटी कहा जाता है जिसमें तीनों पुरुषार्थ एक-दूसरे में गुँथे हुए हैं : परस्पर नद्ध : तब दृष्टि और विचार की दिशा कुछ और होती है। श्रेयस् को यहां प्रवृत्ति-परक ही होना चाहिए। तभी धर्म-अर्थ-काम को त्रिवर्ग कहते हुए इन्हें चतुर्थ वर्ग, मोक्ष, से अलग ही रखा जाता है। निवृत्ति से अलग करते हुए इसे प्रवृत्ति का मार्ग भी कहा गया है। धर्म की, औचित्य की बात इसमें भी उठती ही है, पर यहाँ 'धर्मकाम' होने का अर्थ जिसे हम काम कहते हैं उसका निराकरण नहीं हो सकता। न 'श्रेयस्काम' का अर्थ यहाँ उस लोक का परित्याग बनता है जहां प्रेयस् घर करता है। हम प्रवृत्ति-धर्म से भी 'धर्मकाम' और 'श्रेयस्काम' का सम्बन्ध जोड़ ही सकते हैं–जैसा कि ऊपर इंगित है। धर्म-अर्थ-काम की त्रिपुटी में धर्म का काम और अर्थ के अनुकूल ही अर्थ होना चाहिए। लोक को ही श्रेयस्मय करने की साध, यह धर्मकामना का सही अर्थ बनता है। अभी हमने प्रेयस् के जगत् के ही एक 'श्रेयस्' की बात की थी। पर श्रेयस् का यह अर्थ उथला भी लग सकता है। एक हलकी सुखवादी प्रवृत्ति के साथ श्रेयस् को मानो प्रेयस् में ही ला उतारना चाहता है। श्रेयस् के लिए अपना स्थान नहीं छोड़ता। प्रवृत्ति-धर्म में हमारा संधान ऐसे श्रेयस् को ढूँढना होता है जो हमारी जिजीविषा से संवेदना रखता हुआ जिजीविषा को और सार्थक बनाए। यह केवल प्रेयस् की ही साध नहीं हो सकती, चाहे प्रेयस् बढ़ता चला जाए और प्रेयस् के संसार में अधिक से अधिक निवासी बढ़ते चले जायें। हमारी साध में प्रेयसं से भिन्न श्रेयस् का बोध सदा बसा रहता है। श्रेयस् की हमारी साध यह होती है कि धर्म हमारे काम का, हमारे लोक का, हमारे प्रेयस् का निराकरण न करे, हमारी चाह के संसार के भीतर से ही किसी और गहरे औचित्य की प्रेरणा जगा सके–लोक का ही कोई श्रेयस्-तर, ऊर्ध्व-तर, 'लोकोत्तर' रूप साध सके। दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ के रूप में धर्म् का श्रेयस्-बोध काम से युगनद्ध रहता हुआ ही काम करे।

पर विचित्र और विरोधी लग सकता है ऐसा युगनद्ध भाव। इस युगनद्ध भाव के रूप को समझा कैसे जाए? मैं समझता हूं इसके लिए मनुष्य-बोध को, मनुष्य की रहनी को, उसके भाव-जगत को समझना पहला काम है। जटिल काम है–क्योंकि मनुष्य की रहनी ही गुत्थिल है–कई अलग वर्णों, सूत्रों, आयामों को समोये रहता है

मनुष्य। पर एक गहरे सम्मिश्र अर्थ में उसकी रहनी होती ही धर्म-अर्थ-काम की युगनद्ध धरती पर है–विशेष अंतरंग भाव से धर्म और काम की धरती पर। इसी धरती पर वह श्रेयस्-प्रेयस् साधता रहता है। यह मनुष्य की जिजीविषा की सहज धरती है। इसे मनुष्य का मनुष्य-भाव भी कह सकते हैं। इस मनुष्य-भाव की–मनुष्य की रहनी के धर्म-अर्थ-काम के जीवंत युगनद्ध भाव की -अभिव्यक्ति विशुद्ध विचार में उतनी नहीं जितनी साहित्य में होती है–विशेषकर समर्थ कथा साहित्य में। कथा का संसार मनुष्य को प्रवृत्ति-धर्मी मान कर ही चलता है और उस प्रवृत्ति के कुछ इष्ट-अनिष्टों को और उनके अंतर्गर्भ में श्रेयस्-प्रेयस् के युगल को सहज ही स्वीकार करता हुआ प्रवृत्त होता है। श्रेयस् और प्रेयस् के एक ऐसे ताने-बाने से कथा-जगत् की भूमि बनती है जिसे साहित्य मनुष्य के स्वभाव में ही सिद्ध सा समझता हुआ आगे बढ़ता है। हमारी रहनी के सार्थकता-बोध को ऊह्य रखता हुआ अपनी कल्पना को रूप देता है। इस कल्पना को एक ऐसा ऊह कह सकते हैं जिस में जगत के एक 'वांछित' भाव का अंतर्गर्भ बोध होता है। या यों कहना चाहिए कि श्रेयस् और प्रेयस्, दोनों के धागों से बुना हमारा एक 'वांछित' जगत् होता है, जिसे हम साधते चलते हैं; हमारा कथा-बोध इस का उपजीवी होता है। पर इस पर अपनी तरह से विमर्श भी करता है। कथा इस वांछित जगत् के स्वरूप का लक्षण और विवेचन नहीं करती, यह सत्य है या मिथ्या या भ्रम, यह विचार भी नहीं करती। ऐसा कुछ करती भी है तो एक वक्र-भाव के साथ, कथा-धर्म का पालन करत हुए करती है–जहाँ भ्रम और मिथ्या का बोध जागता भी है तो मनुष्य की रहनी का, उसके वांछित जगत् की सत्ता का, किसी मूलगत अर्थ में वैसा निराकरण नहीं करता, जैसा विचार–या अध्यात्म की संबोधि या समाधि–में सम्भव है। कथा मनुष्य की प्रवृत्ति को सत्, प्रेयस् और श्रेयस् गर्भ मान कर चलती है। इस बोध में जागते हुए ही इस पर विमर्श करती है–या यों कहना चाहिए कि अपनी तरह से इस पर *मनन* करती है। कथा के इस स्वभाव को आधार बनायें तो मनुष्य के प्रवृत्ति-धर्मी जगत् को हम कथा की सहज अभिधा का जगत् कह सकते हैं, इसके मिथ्या या भ्रम होने का बोध इसी अभिधा के सूत्र में बंधी हुई ध्वनि के समान होता है जो अभिधा के स्वीकार से ही बनती है।

विचार कथा के इस जगत् को सजीव रूप तो नहीं दे सकता पर इसको आँखों के आगे रखता हुआ इस पर विमर्श कर सकता है। इस जगत् के गुण-धर्म का हम विमर्श करें तो इसके ताने-बाने के कुछ सूत्र लक्षण के रूप में उभार सकते हैं। कई रंगों के बड़ी अलग-अलग दिशाओं में ले जाने वाले सूत्र हाथ आयेंगे, पर इनके मेल से जो पट बनता है उसकी फिर भी एक अपनी झाँईं झलकती दिखती है, जिसकी अपनी आभा में सौ छाया-भेद हो सकते हैं पर जो फिर भी अपनी पहचान रखती है। यह जगत् यों तो हमारे व्यवहार के जगत् जैसा ही है, पर बिल्कुल वैसा नहीं है। यह *सृष्ट* जगत् है। हमारे द्रष्टा-भाव के विमर्श में जागता हुआ, हमारे अनुभव के लोक

को साक्षात् अनुभव से हटाकर फिर अनुभव का विषय बनाता है। आजकल की कुछ कथाओं का यह आदर्श हो भी कि कथा-जगत् व्यवहार-जगत् की सही झाँई बनाए रखे, पर ऐसी कथाएँ भी एक कथा-लोक ही बनाती हैं और सब कथाओं का यह लक्ष्य नहीं होता कि व्यवहार जगत् की नकल ही बनें। आज तक के कथा-साहित्य को देखें तो व्यवहार-लोक का प्रतिबिंब साधने के लक्ष्य को कथा का सही लक्षण मानने में द्विधा ही आड़े आएगी। अब हम अगर यह कहने लगें कि आज की ही कथा-विशेष–जिसे हम 'आधुनिक' काल में जन्मी 'यथार्थ'-गर्भी कथा कहते हैं–वही कथा वास्तव में 'कथा' कही जा सकती है या कही जानी चाहिए, तो यह कथा की चिरन्तन प्रकृति के प्रति अन्याय होगा। आज के बहुत से कथाकार भी, जो अब 'आधुनिक' को अपनी समझ में पीछे छोड़ चुके हैं और 'उत्तर-आधुनिक' हो चुके हैं, वे भी इस आग्रह से कुछ तिलमिला सकते हैं। पर कथा चाहे 'आधुनिक' हो या 'आधुनिक' से हट कर कहीं आगे निकल गई हो, या एक नई, सारमयी मुद्रा के साथ कहीं पीछे ही लौट गई हो और यों कथा अब किसी अर्थ में कथा के सही तत्त्व को कुछ ज्यादा संभालती भी हो, तो भी मेरा अभिप्राय इस कथा-प्रवृत्ति-विशेष से नहीं, कथा मात्र से है। स्पष्ट ही कथा व्यवहार का नहीं कल्पना का लोक बनाती है। पुराने कथाकार तो नि:संकोच ऐसा करते थे, चाहे बाण जैसे विदग्ध लेखक हों या जिन्हें लोक-कथा कहा जाता है उन्हें कहने-सुनाने वाले कथक हों। पुराने विभाजन में कथा-जातीय पर कथा से भिन्न, आख्यायिका का भी नाम आया है, जो आज के 'यथार्थ'-धर्मी कथा-कर्म की प्रवृत्ति से अधिक अनुप्राणित थी। पर कथा के जिस प्राण की ओर मैं इंगित करना चाह रहा हूँ उसका कथा के भीतर के इस भेद से कोई सार का सम्बन्ध नहीं है। हाँ, इतना शायद फिर भी मानना पड़ेगा कि कुछ कथाएँ या कुछ कथा-रूप, जैसे नाटक, प्रकरण, महाकाव्य, उपन्यास ये कथा के सार को अधिक समर्थ भाव से प्रकट करते हैं।

कथा का प्राण व्यवहार नहीं, व्यवहार में जागती हमारी मन-प्राणों की अभीप्सा है, संकल्प है। व्यवहार की कोई सीधी-सच्ची छाया लेकर हम कथा-लोक नहीं बनाते हैं, पर जो भी कथा-लोक बनाते हैं, व्यवहार की एषणाओं के पट पर बनाते हैं। लोक जैसा इतिवृत्त–घटना-चक्र–सब कथाओं में न होता हो, पर लोक जैसा भावना-चक्र और संकल्पों का व्यूह वहाँ होता है, चाहे वह कैसा ही गप्प जैसा गल्प क्यों न हो। उस भाव और संकल्प-लोक के अपने कुछ इष्ट-अनिष्ट हैं : सपने हैं, दु:स्वप्न हैं, आशा-निराशा हैं, या सीधी सी बात में यों कहिये, सुख-दु:ख हैं, इति-कर्त्तव्यताएँ हैं, जो उसके प्राण हैं। लेकिन दु:ख हो या सुख, ये दोनों ही एक सार्वजनीन अभीप्सा-मय जगत् को वांछनीय मानकर कथा में अभिव्यक्त होते हैं। यह जगत् ऋजु-सरल रेखाओं से नहीं बनता, कई रंगों को समेटता है, जटिल है, बहुसूत्री है और फिर देश, काल, सुनने-सुनाने वाले पात्रों के भेद से इसमें अन्तर-

परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। फिर भी इसकी अपनी पहचान है : देश-काल-पात्र-परिस्थिति के विशेष में डूब कर, उसे शब्दों में उबारते हुए भी—या यों कहें तो ज्यादा अच्छा होगा कि 'उभारते हुए *ही*'—कथा साधारण और सार्वजनीन होती है। इस पहचान का एक लक्षण यह है कि अन्य देश, अन्य काल, अन्य पात्रों के लिए कही गई कथा को हम अनुवाद में भी समझ सकते हैं, संबेदना के साथ उसमें रम सकते हैं, पुरानी कथा को उसका मर्म बचाते हुए आज के अनुकूल ढाल सकते हैं, और अगर हमें अटपटी भी लगे, 'रसाभास' ही उत्पन्न करे और हमारी संवेदना को आघात पहुँचाये, तो भी, इस निषेध में भी, उसकी पहचान होती है मनुष्य की कथा की ही। मनुष्य का मनुष्य-भाव पहचान में बना रहता है। रसाभास का एक कारण ही यह होता है कि उस पहचान को चोट पहुँचती है।

कथा का यह विश्वजनीन रूप इस बात का भी द्योतक है कि हम एक साधारण या सर्व-सामान्य जगत् की चर्चा कर रहे हैं। हम कह सकते हैं कि सामान्य जगत् व्यवहार का भी होता है और व्यवहार के इस सामान्य जगत् का वहन करने के कारण ही—चाहे किसी रूप-भेद के साथ ही क्यों न हो, पर उस मूल के कारण ही—कथा के जगत् में भी सामान्य भाव होता है और मूलतः वैसा ही होता है। पर अन्तर है। दो अन्तर हैं जो यहाँ हमारे काम के हैं। एक को, मैं समझता हूँ, यों समझा जा सकता है : व्यवहार का जगत्, माना, सबके लिए किसी रूप में सामान्य होता है पर उसमें मेरा अपना मनोनिवेश बड़ा विशेष होता है, वह मेरे अपने 'स्व' के भाव, चेष्टा, अभीप्सा से जुड़ा रहता है। मेरे अपने मन-प्राण की गाँठ उसकी डोर के साथ बड़ी गुलझट से बँधी होती है। कथा के जगत् से मैं कल्पना में कितना ही एकाकार—तदात्म, तल्लीन—क्यों नहीं हो जाऊँ, फिर भी एक परस्थ बोध उजागर रहता है। मैं अपने ही चरित को कथा के रूप में सुनूं तो भी यह परस्थ बोध लुप्त नहीं होगा।

यही परस्थ बोध, जिसे हमारी संवेदना बड़े आत्मीय भाव से स्वीकारती है, इसी के आधार पर व्यवहार और कथा का दूसरा भेद टिका हुआ है। कथा में एक आदर्श का गर्भ होता है। 'है' का ही नहीं, 'होना चाहिए' का भाव भी होता है, चाहे प्रच्छन्न ही क्यों न रहता हो। बल्कि प्रच्छन्न होने के कारण ही और भी तल-स्पर्शी, मर्म-स्पर्शी होता है, बोध की जड़ों तक उतर जाता है। हमें उसमें हमारा 'मानव'-जगत् ही नहीं, 'मानवोचित' जगत् भी दिखता है। हाँ, सीधे-सीधे सामने खड़ा-सा कम ही दिखता है; अक्सर बड़ी आड़ में से झाँकता दिखता है और तभी बड़ी गहरी छाप छोड़ जाता है। उसका यह मन को भीतर से रँगना उस कथा में और भी तीखा, मँजीठी रंग रँगा होता है जिस कथा में हमारा मानवोचित जगत् टूटता, ध्वंस होता हुआ दिखता है, जैसे ट्रैजडी में; या **महाभारत** की उस जीत में जिसे युधिष्ठिर ने हार ही कहा था। ऐसी कथाओं में, 'ऐसा नहीं होना चाहिए' का बोध 'होना क्या चाहिए' के औचित्य-बोध को और गहरे सींच जाता है। पर इसका आशय यह नहीं समझना

चाहिए कि कथा में 'क्या होना चाहिए' इसकी कोई स्पष्ट, विवेचना के लिए साफ-साफ झलकती तस्वीर कभी पूरी तरह से उभरती दिखती है, और विचार के लिए परिनिष्ठित प्रत्यय बना सकती है। विचार के सामान्य में कथा-जैसा विशेष का सजीव, अपरोक्ष बोध नहीं होता। कथा यह सम्भव बना सकती है कि हम देश-काल-पात्र-परिस्थिति के सूक्ष्म अन्तरंग भेदों के भीतर झाँकते हुए साधारण धर्मों की विशेष गतियों की, गति-भेदों की टोह ले सकें। धर्म को अगर गुहा-निहित कहा जाता है तो एक कारण यह भी है कि साधारण धर्म का लक्षण जितना व्यापक और सामान्य हो, उसके देश-काल-पात्र-परिस्थिति विशेष में प्रयोग की समस्या उतनी ही कठिन हो सकती है; और इस बात का जैसा आविर्भाव कथा में हो सकता है किसी विवेचना में नहीं। आगे उदाहरण से बात को कुछ और उभारने की चेष्टा करूँगा।

कथा के कुछ ऊह्य तत्त्व होते हैं, जिन्हें हम चाहें तो कथा का सनातन पक्ष कह सकते हैं। ये कथा के आधार हैं; कथा की धरती हैं। इन्हें 'रस' के मार्ग से सामने लाने की चेष्टा करता हूँ। कथा अपने मर्म में ही प्रवृत्ति-प्राण होती है। उसके होने के पीछे यह बोध—या शायद यह आस्था या श्रद्धा कहना ज्यादा अच्छा होगा—यह रहता है कि हम स्वभाव से ही प्रवृत्ति-धर्मी हैं और प्रवृत्ति के इस जीवन में कुछ रस, कुछ आनन्द के—प्रेयस् के—ऐसे सहज ठिकाने हैं जहाँ मन-प्राण को अपना घर मिलता है। जो रहने चाहियें—विनष्ट नहीं होने चाहियें। जो कथा किसी भी सार्थक भाव से कथा-रस की सृष्टि करते हुए, जीवन के प्रति निर्वेद जगाती है या दुःख और अन्याय या भंगुरता के भाव से हमें झिंझोड़ कर इन ठिकानों के तले से जमीन ही खिसका-सी देती है, वह कथा भी अपनी 'करुण' या 'भयानक' या 'बीभत्स' संवेदना का उपादान इन ठिकानों में ही पाती है। इन ठिकानों की उपजीवी रह कर ही अपना 'ट्रैजिक', अननुकूल रस निष्पन्न करती है।

यहां सहज ही आपत्ति होगी। हम यहां मानो बिल्कुल भिन्न ही नहीं, नितांत विषम रसों में 'एक' प्रवृत्ति-प्राण मनोभाव या दृष्टि की बात करना चाह रहे हैं। पर ऐसा कोई एकत्व ढूंढ़ा भी जा सकता है क्या? रसों में जो गहरा भेद है वह यहां तक प्रकट है कि ऐसे विरोधी रसों की बात की जा सकती है, जिनका साथ भी नहीं बनता, एकत्व की तो बात ही क्या! विरोध का यह बोध रस-चिन्तन में भी स्पष्ट है। करुण, भयानक, बीभत्स जैसे रस ऋंगार, वीर, हास्य से स्वभाव-भिन्न माने जाते रहे हैं, इनकी भाव-भूमियों का वैषम्य कोई परस्पर-भाव नहीं पालता। ये जगत् के प्रति हमारी चेतना को ही मानो अलग रंग में रँगते हैं। रसों में भेद यहां तक है कि अलग

रसों को 'रस' जैसी एक कोटि में रख देना भी एक उपचार मात्र लग सकता है। रसों के रास्ते उनमें किसी प्रवृत्ति-धर्मी मर्म की बात करने से पहले यह आधारगत प्रश्न उठता है कि क्या भिन्न रसों में कोई अनुगत धर्म भी है? रसों में अगर कोई 'एकत्व' उभरता हो तभी हम उसे कथा के किसी सामान्य प्रवृत्ति-धर्म से जोड़ सकते हैं, या जगत् के प्रति वैसे किसी सार्थकता-बोध की बात कर सकते हैं जिसे अभी ऊपर हमने जीवन के प्रवृत्ति-प्राण 'आनन्द' से जोड़ा।

यहां उत्तर में कहा जा सकता है कि रसों में एक सामान्य रसत्व की बात रस-चिन्तन में ही की गई है और 'आनन्द' को ही रस-मात्र का गुण-धर्म कहा ही गया है। पर मेरा अभिप्राय यहां रस-लक्षण के विशिष्ट 'आनन्द' की चर्चा करना नहीं है। मैं समझता हूं कि 'आनन्द' में यहों एक सार्थक प्रवृत्तिमयता की भी व्यंजना है जो कथा-लोक को व्याप्त करती है। कथा की इस प्रवृत्ति-प्राण धरती को हम समझना चाहें तो हम रस-बोध से एक इंगित ले सकते हैं। हम ऐसी रस-चर्चा में उतर सकते हैं जो विषम-लगते रसों में भी जीवन को सार्थक समझती 'एक-रसता' की गूँज पा सके। ऐसा किया नहीं गया है, पर हम उधर सार्थक भाव से बढ़ सकते हैं– बात हमारी चर्चा के मूल प्रवाह से अलग जाती हुई भी हमारे लिए प्रासंगिक निकलेगी।

जैसा कि मैंने अभी कहा, रसों में एक सामान्य तत्त्व या 'रसत्व' 'आनन्द' को कहा गया है। 'आस्वाद' भी कह देते हैं, पर 'आस्वाद' शब्द में वह गहराई नहीं है जो 'आनन्द' में है। क्योंकि 'आनन्द' के एक निगूढ़ और व्यापक सामान्य की बात की जा सकती है–जो उसे बोध के ऐसे अगाध में उतारता है जहां 'आस्वाद' की कोई गति नहीं। तभी आनन्द का सम्बन्ध प्रेयस् से ही नहीं, श्रेयस् से भी है–जो कि 'रस' शब्द में ही ध्वनित है। 'रसो वै सः' में ऐसे ही आनन्द की बात है। परम तत्त्व को ही रस-मय–आनन्दमय–कहा गया है। कहना न होगा आनन्द यहां प्रेयस् ही नहीं श्रेयस् भी है। पर यहां 'रस' लोक की ओर नहीं, लोकोत्तर की ओर इंगित करता है। कथा की चर्चा में जिस रस की बात सार्थक है वह लोक-प्राण ही है। तभी रस को ब्रह्मानन्द-*सहोदर* कहा गया है। 'सहोदर' कहना, 'वही' न कहना, यहाँ उस मूल-गत भेद की ही बात करना है जो लोक और लोकोत्तर के बीच है। पर साथ ही 'सहोदर' में यहां लोक के प्रति वैसे ही श्रेयस् बोध की ध्वनि भी है जो ब्रह्मानन्द में ब्रह्म के प्रति है।

पर एक और रास्ते बात बढ़ाता हूं। रस के सामान्य लक्षण से हट कर भी हमारे यहां 'रसों के रस' की एक ऐसी चर्चा रही है जिसे विचारशील नहीं कह कर संवेदनशील कह सकते हैं। कई कवियों और आलोचकों ने 'एक-रस' की बात की है। कुछ ऐसे पुराने कवि और आलंकारिक हुए हैं जिन्होंने रसों के अनैक्य में उस एक रस को चुना है जिसे रस-सर्वस्व कहा जा सके–रस मात्र का प्राण। प्रश्न यह रहा है (चाहे कण्ठतः उच्चारित न किया गया हो) : वह कौन सा रस है जिसे रसों का रस

कहा जा सकता है? भिन्न उत्तर मिलते हैं–भिन्न रसों को 'एक-रस' कहा गया है। अलग सहृदयों का अपनी संवेदना के अनुकूल अलग रसों की ओर पक्षपात देखा जा सकता है। पर सभी उत्तरों में सहृदय-बोध की अपनी सी गहराई भी है। अभिनव गुप्त शान्त को रसों का रस मानते हैं; वे मानो कथा को शान्त की धरती पर टिका देखते हैं; अभिनव ने बात नाट्य की की है, कथा की नहीं, पर बात वहीं आकर ठहरती है। राजा भोज ने शृंगार को परम रस कहा है, और विश्वनाथ कहते हैं कि उनके पितामह अद्भुत को रसों का रस मानते थे। भवभूति का स्वर इन सबसे कुछ अलग है और शायद तभी उन्नीसवीं सदी के बंगाल की रोमान्टिक कल्पना उसमें अपने स्वर का अनुरणन सुन पाई थी। भवभूति ने कहा था कि 'एक एव रस: करुण:'।

इस बात से इन्कार करना कठिन लगता है कि इन सभी दृष्टियों में एक पैठ है, चाहे मन किसी दृष्टि विशेष से अधिक आकृष्ट होता हो। पर एक कुतूहल मन में जाग सकता है। किसी ने वीर, रुद्र या बीभत्स को परम रस क्यों नहीं समझा? या हास्य को? नौ रसों में किसी रस-विशेष को 'एकरस' कहने की जो परिपाटी बनी थी उसकी तह में बोध यह दिखाई देता है कि सभी रस हालांकि भिन्न हैं, पर भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं। इस तरह से अनुस्यूत हैं कि कोई एक रस सब का धागा बनकर उनको एक में पिरो सकता है, उसके रंग में सबका रंग देखा जा सकता है। या शायद यों कह सकते हैं कि रस का सामान्य रस-भेद के परे नहीं है, बल्कि ऐसा है कि हर रस विशेष में 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' की तरह परम रस की पहचान हो सकती है–ऐसी कि हर रस अपनी अलग पहचान रखते हुए भी रस के परमार्थ को अपने में पूरी तरह सहेज लेता है। वैसे ही जैसे हर देवता भिन्न होते हुए भी देवत्व में पूर्णमिदम् होता है; यह बात और है कि किसी का इष्ट-देव देवता विशेष ही होता हो और वह अपना विशेष स्वभाव-स्वरूप भी रखता हो।

पर क्या सभी रसों में रस के परमार्थ का अधिष्ठातृ देवत्व सचमुच हो सकता है? क्या कोई भी रस रसों का एक-रस कहा जा सकता है? और कहा जा सकता है तो सभी रसों को कहा जा सकता है। पर बीभत्स या भयानक या रौद्र या वीर के बारे में हमें द्विधा ही होगी–क्या ये भी रसों के रस हो सकते हैं? करुण भी द्विधा का शिकार होगा। द्विधा का मूल रस के आनन्द-स्वभाव में है, (या उसे आनन्द-स्वभाव *समझने* के गहरे बोध में है)– जो भी हो, कई रसों में जगत् के प्रति विभीषिका या विडम्बना का बोध उभरता है, किसी सार्थक 'आनन्द' का नहीं। वीर को शायद एक-रस की गिनती में रखना असंगत न लगे। उत्साह, जो वीर का प्राण है–या पुराने शब्दों में कहें तो 'स्थायी-भाव' है–उसके मर्म में भी एक वैसी ही प्रवृत्तिमय स्फूर्ति की–'आनन्द' की–प्रतीति होती है जैसी शृंगार में; पर बीभत्स, रौद्र, भयानक को, या हास्य को इस गिनती में रखा भी जा सकता है क्या?

बात को समझने के लिए हम पुराने गिनाये गए एक-रसों को अलग श्रेणियों में बाँट सकते हैं। शान्त और अद्‌भुत का सम्बन्ध कथा के अपने जगत् से, अपने रस से, उतना नहीं जितना और भी व्यापक शिल्प या कला-जगत् से है। कोई भी कृति शिल्प या कला के रूप में हमारे लिए उपस्थित होने के लिए ही हमारे बोध में एक ऐसी वृत्ति की अपेक्षा रखती है जिसमें शान्त और अद्‌भुत के लक्षण देखे जा सकते हैं। कला मात्र का कला के रूप में बोध भाव की एक ऐसी द्रष्टा की सी दृष्टि या तटस्थ-से भाव को समोये रहता है जिसके बिना बोध को कला या शिल्प का बोध कहने में ही असमंजस होगा। यही हमारी कला-चेतना या रस-चेतना में शान्त का बीज है। कोई कह सकता है कि जिस तरह शान्त को मैं यहाँ आँक रहा हूँ वह आलंकारिकों का शान्त नहीं है। आलंकारिकों ने निर्वेद को शान्त का प्राण या स्थायी-भाव कहा है और निर्वेद का अपना स्पंद होता है जिसमें लोक से हटती हुई गति का वेग होता है। यह बोध के द्रष्टा-भाव मात्र की बात नहीं है। इसमें एक आवेग, एक क्षुब्धता होती है जो इसे द्रष्टा-भाव की तटस्थता से अलग करती है। पर यहां फिर यह सोचना चाहिए कि जब हम शान्त को रसों का रस कहते हैं तो क्या निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव रखते हुए ऐसा कहते हैं? क्या इस अर्थ में शान्त को रसों का रस कहा भी जा सकता है? हम जब रस मात्र में शान्त की गूंज पाते हैं तो वहां किसी निर्वेद जैसे भाव की अनुभूति नहीं होती। बल्कि, मैं समझता हूँ, उल्टी ही होती है। इसकी चर्चा करूँगा।

अद्‌भुत को लीजिए। कला-चेतना में एक चमत्कार का बोध जागता है। विस्मय का द्वार सा खुला रहता है कला के अनुभव में। यही रस मात्र में अद्भुत की उपस्थिति है। वरना जिसे भरत ने अद्‌भुत के रूप में आँका है उसे ही हम सब रसों का 'एक-रस' कहना चाहें तो बात नहीं बनेगी। बिगड़ ही जाएगी। भरत के लिए अद्‌भुत का अर्थ था : किसी ऐसी अनहोनी बात का घट जाना—बल्कि उसका घटा दिया जाना—जो कथा की अपनी संगत और स्वाभाविक गति से दु:खांत की ओर बढ़ते हुए घटना-चक्र में अचानक एक ऐसा मोड़ ला दे कि सब कुछ ठीक हो जाए। दु:ख सुख में बदल जाए। ऐसी दैवी चमत्कार जैसी अघटना के सहसा घट जाने में जो विस्मय है उसे ही अद्‌भुत का आधार कहा गया है। अब इस अद्भुत को तो किसी भी तरह सब रसों का 'एक-रस' नहीं कहा जा सकता। ऐसे अद्‌भुत से तो सहृदय के लिए अक्सर कथा का रस-सूत्र ही टूट जा सकता है, विस्मय-बोध की जगह कथा ही के प्रति निर्वेद जाग सकता है। इस अद्‌भुत को ही अगर विश्वनाथ के दादाजी ने रसों का रस कहा है तो उसकी चर्चा हमारे काम की नहीं है। पर उनका अभिप्राय यह हो नहीं सकता। या वह कुछ भी रहा हो, अद्‌भुत को हम उस अर्थ में तो सार्थक 'एक-रस' मान ही सकते हैं जिस अर्थ की चर्चा कर आया हूं : कला मात्र के अनुभव में जो विस्मय का भाव जागता है। यह अद्‌भुत के एक-रस कहलाने का बीज हो सकता

है, भरत का अघटन 'विस्मय' नहीं। कहना न होगा कि कला के विस्मय में जगत् के प्रति एक गहरा 'आनन्द'-बोध भी जागता है।

पर शान्त और अद्भुत, ये दोनों कथा पर ही नहीं, कला मात्र पर व्याप्त दिखते हैं। पर ऐसे ही किसी कला-मात्र में व्याप्त अर्थ में क्या हम करुण को भी 'एक-रस' कह सकते हैं? शायद कोई पहलू निकाला जा सकता हो, पर अनायास तो ऐसा कहने को मन गवाही नहीं देता। मेरा मन तो नहीं दे रहा है। बिना कहानी के करुण का आलम्बन ही कहां बनेगा? तभी ऊपर हमने एक-रसों की श्रेणियों की बात की थी। रसों में एक विभाजन यह उभरता है : कला-मात्र में व्याप्त और कथा-मात्र में व्याप्त। करुण को हम दूसरी कोटि में ही रख सकते हैं। पर हम फिर भी पूछ सकते हैं—क्या कथा-मात्र में व्याप्त होने के अर्थ में भी करुण को सचमुच 'एक-रस' कहा जा सकता है? मुश्किल ही लगता है। मैं समझता हूँ कि कहा भी जा सकता है तो इस कमजोर से अर्थ में कि करुण के बिना कथा पूरी जमती या खिलती नहीं प्रतीत होती। या शायद इस अर्थ में कि करुण रस की कथा ही सच्चे सहृदय को कथा का पूरा रस देती है। भवभूति का यही आशय लगता है। पर यह बात और है; इससे करुण में 'एक-रस' होने का का गुण नहीं आ जाता—कथा-मात्र में भी नहीं।

सच पूछिये तो करुण को एक-रस कहने के पीछे एक जगत्-दृष्टि या संवेदना है जिसे ट्रैजिक या दुःखमयी संवेदना कह सकते हैं। हम इसे उस 'आनन्द' के निषेध से भी जोड़ सकते हैं जिसे रस मात्र का प्राण या मर्म कह आए हैं। यह हमारे लिए तीखा प्रश्न उठाता है जिस पर आगे आऊंगा।

पर शृंगार को लीजिये। भवभूति ने तो करुण पर अपनी बात एक छोटे से सूत्र जैसे चुभते हुए वाक्य में कहकर छोड़ दी है, लेकिन भोज ने शृंगार को एक-रस सिद्ध करने के लिए एक लम्बा-चौड़ा, विवेचना का धनी, **शृंगारप्रकाश** नाम का पूरा ग्रन्थ लिख छोड़ा है।

भोज ने शृंगार को जिस अर्थ में लिया है, वह जहाँ तक सार्थक है उससे मैं समझता हूँ, शृंगार 'रस' का ही पयार्य हो जाता है। भोज की चर्चा में श्रृंगार अपनी अलग पहचान रखता हुआ एक-रस नहीं बनता। यों भी एक व्यापक अर्थ में श्रृंगार को एकरस कहना रस-चिन्तन में बहुत कठिन नहीं। रस को आस्वाद या आनन्द का रूप माना ही गया है। श्रृंगार को आनन्द का पर्याय कहा जा सकता है। भोज कुछ ऐसे ही अर्थ में श्रृंगार को एक-रस कहते हैं। शृंगार के बीज रति को भोज चेतना में व्याप्त उस आनन्द-बीज से जोड़ते से लगते हैं जो नाट्य और काव्य को—और यों कथा को—आस्वाद का विषय बनाती है। पर यों शृंगार अपना अलग स्वभाव भी खो देता है। हमने देखा कि शान्त और अद्भुत व्यापक होते हैं तो अपना अपना अलग अनुभव-भेद रखते हुए व्यापक होते हैं। श्रृंगार अगर आनन्द हो तो श्रृंगार रति या प्रेम

से विशेष्य नहीं रहेगा। आनन्द के रूप में कला मात्र पर भी व्याप्त होगा। तब हम चाहें तो श्रृंगार के लिए कह सकते हैं कि जैसे एक अक्षुब्ध ताटस्थ्य शांत को एक अलग कला- लक्षण का रूप देते हुए उसे एक-रस बनाता है, और जैसे विस्मय अद्भुत को ऐसे ही अर्थ में एक-रस बनाता है, वैसे ही कला-मात्र-व्याप्त आनन्द श्रृंगार को एक-रस की कोटि में रखता है। ऐसा हम कह तो सकते हैं–पर इसमें हमारे रस-बोध के लिए कोई नई बात या विलक्षण दृष्टि नहीं होगी। आनन्द तो रस का जाना-माना लक्षण है ही।

एक प्रश्न उठाया जा सकता है यहां। क्या हम और रसों का भी वैसा अर्थ-विस्तार नहीं कर सकते जैसा भोज ने श्रृंगार का किया है? क्या किसी भी रस को ऐसा व्यापक-भाव नहीं दिया जा सकता कि वह रस का ही पर्याय हो जाए? मैं नहीं समझता कि ऐसा किया जा सकता है। कई रसों के साथ ऐसी बात सरासर अटपटी लगेगी। करुण की बात हम कर ही चुके हैं। पर रौद्र, भयानक, बीभत्स, हास्य, को लीजिये। इन्हें क्या किसी भी तरह एक रस की कोटि में रखा जा सकता है–कला-व्याप्त हो या कथा-व्याप्त?

लेकिन आज के कथा-बोध को देखिये। ऐसा कहने में तो असमंजस नहीं होना चाहिए कि हम आज एक नये सहृदय बोध के साथ रौद्र, भयानक, बीभत्स या हास्य को रचना के प्रधान रस के रूप में यों समोते हैं जैसा पहले नहीं होता था। तो हम इनके प्रति एक नये व्याप्ति-बोध के साथ इनमें से किसी को–या अलग अलग सबको–एक-रस के रूप में रखने या देखने की बात क्यों नहीं कर सकते हैं जो कि पुराने सहृदयों ने नहीं की थी? उनके लिए शायद यह बात कल्पना के बाहर थी। वीर के बारे में जरूर जिज्ञासा होती है कि वीर को किसी ने रसों का रस क्यों नहीं कहा? वीर एक प्रधान और व्यापक रस था; भरत में तो स्पष्ट ही लगता है कि वीर और श्रृंगार ये ही दोनों बड़े रस थे। भरत मानते थे कि नाटक और प्रकरण, नाट्य के जिन दो रूपों में माट्य पूरी तरह से खुलकर निष्पन्न होता है, उनमें वीर या श्रृंगार प्रधान रस होना चाहिए। परम्परा में भी वीर की व्याप्ति को देखा गया है : उसके युद्धवीर ही नहीं, धर्मवीर, दानवीर जैसे रूपभेदों की कल्पना की गई है, जो स्वाभाविक भी है। वीर का प्राण उत्साह है और उत्साह एक ऐसा व्यापक भाव है जो भिन्न चित्त-वृत्तियों में व्याप्त होता ही है। कथा जहाँ तक मनुष्य के कर्म और चरित का अनुकीर्तन और अनुभावन करती है उसमें उत्साह का और यों वीर का एक प्रमुख स्थान स्पष्ट है। श्रृंगार में भी एक उत्साह की स्फूर्ति रहती ही है। रौद्र, जिसका बीज अन्याय के प्रति क्रोध है, उसमें तो उत्साह की लय और भी दीप्त-द्रुत हो जाती है। इसलिए रौद्र को हम वीर का ही अतिरेक मानते हुए उसे कथा-व्याप्त एक-रस की कोटि में रख सकते हैं।

इन रसों की प्रवृत्तिमय जगत्-दृष्टि या संवेदना भी स्फुट है।

लेकिन करुण, बीभत्स, भयानक—और साथ ही हास्य भी—ये किसी और ही धातु के बने जान पड़ते हैं। श्रृंगार और वीर की तुलना में जान पड़ता है कि इनका रस ही मानो विरस में डूबा-सा है। ये रस के रसत्व को बनाते नहीं, तोड़ते से लगते हैं। ये विवादी स्वर की तरह हैं। कथा को अगर गायकी के रूप में देखा जाए तो पुरानी कथा-गायकी में—और आज की भी उन कथाओं में जिनको 'सरस' कहा जा सकता है—इनका प्रयोग स्वल्प ही होता है, सावधानी से इनका पुट दिया जाता है। अचम्भा नहीं कि बीभत्स, भयानक और हास्य के साथ नाटक या फिल्म में जो संगीत की संगत होती है, विवादी स्वरों पर बहुत निर्भर करती है। कभी ध्यान दीजियेगा।

पर दूसरी ओर ऐसी कथाएँ आज पहले से बहुत अधिक हैं जिन कथाओं में एक-रस की बात उठायें तो बीभत्स, रौद्र और भयानक ही की तरफ ध्यान जाता है। और इस गिनती में मामूली कथायें नहीं, ऐसी भी कथाएँ आती हैं जो 'सच्चे' सहृदयों में प्रिय हैं। लोक में भी आज ऐसी कथाओं के प्रति रुचि विशिष्ट है। रोमांच और सस्पेंस की कथाओं में भयानक का सूत्र लगभग अन्त तक बनाए रखने की चेष्टा होती है। बीभत्स का कथा-लोक मेंआज कुछ वैसा ही स्थान है जैसा पहले शान्त का था, अगर शान्त का बीज निर्वेद को कहें। दोनों में जीवन से मुँह मोड़ने का एक भाव है। पुराने निर्वेद-बीज शान्त में और आज के बीभत्स में मुझे अन्तर यह लगता है कि शान्त के मुँह मोड़ने में एक वितृष्णा तो होती है पर उसमें घृणा का वह विक्षुब्ध विभीषिका-बोध नहीं होता जो कि बीभत्स का हृदय ही है—बल्कि 'घृणा' की जगह 'घिन' कहना ज्यादा सही होगा, क्योंकि संस्कृत के शब्द में वह तीखी कड़वाहट नहीं है जो यहां बोध में बरबस उभर आती है। पर यह बीभत्स का 'उत्तुंग' धरातल है—विदग्ध, अभिजात कहलाने वाले साहित्य की बात है। साथ ही एक अजीब सी, और अभी जो मैंने कहा उसको बिल्कुल काट सी देने वाली, एक दूसरी बात एक दूसरे, 'लोक-प्रिय' धरातल पर दिखती है : आज लोक में बीभत्स के जो अनगिनत रसिक हैं, उन्हें 'हॉरर' के नाम से परोसे जाते जिस बीभत्स का चाव है, उसमें उन्हें वितृष्णा का बोध होता नहीं लगता; और घिन भी सचमुच आती है क्या? आती भी है तो ऐसी मीठी-मीठी सी आती है कि बार-बार आस्वाद की चाह जगाती है।

'हॉरर' फिल्मों के बीभत्स को हम में से कुछ लोग बीभत्स जैसी ही जुगुप्सा की मुद्रा के साथ रुचि की विकृति कहकर टालना भी चाह सकते हैं—या उसे अपने आप में मनुष्य-भाव की ही एक 'भयंकर' विभीषिका मानते हुए आज की संस्कृति की इस 'अमानुषी' परिणति से कभी आतंकित भी हो सकते हैं। मैं स्वयं क्या सोचता हूँ, अपने मत को यहाँ प्रकट नहीं करूँगा, उसकी जरूरत भी नहीं; पर एक बात कहूँगा। बीभत्स की लोकरंजन के स्तर पर स्वीकृति हमें 'बीभत्स' लगे, पर उसका आम रसिकों में चला हुआ रूप आज के कथा-लोक में बड़ा स्थूल-सा ही रूप है। उसका वास्तव रूप उस धरातल पर है जिसे 'सच्चे' सहृदय-बोध से जोड़ आया हूं, जिसे

उत्तुंग, अभिजात कहा जा सकता हैं। इसे बीभत्स का सूक्ष्म रूप भी कह सकते हैं—जो संस्कृति-चेतना के जगत्-बोध में गहरे उतरा हुआ है। उसका लोक-प्रिय रूप अपेक्षया बड़ा स्थूल सा है—उसमें रंजन का ही भाव है, निर्वेद का नहीं। हां, यह शायद कहा जा सकता है कि स्थूल यहां किसी अर्थ में सूक्ष्म पर निर्भर है—जो पानी संस्कृति की गहराई में घुप पैठा है वही सतह के उथलेपन में चंचल हो कर लहर लेता है। आज के शिखरशायी कथा-साहित्य में बीभत्स का जैसा प्रकाश प्रखर है वैसा पहले कभी नहीं था। निवृत्ति की महिमा थी, पर निवृत्ति के मार्ग में एक सत्य और शान्ति का भी संदेश था। आज का बीभत्स प्रवृत्ति के प्रति घोर जुगुप्सा के साथ, अपने और जगत् के ही नहीं, लोकोत्तर के अस्तित्व के प्रति भी एक दुर्दम्य निरर्थकता का बोध पालता है। पुराने लोगों में जो महिमा शान्त की थी आज के दीक्षित सहृदय के लिए वैसी ही कुछ जुगुप्सा की है। आज का शिल्प-निष्णात, अपनी तरह से रस-सिद्ध, युग-बोध के विष से नीलकण्ठ बना कथाकार जगत् के प्रति जो वितृष्णा का भाव सहेजता और जगाता है उस भाव में शान्ति का कोई स्थान नहीं, वह वितृष्णा की ग्लानि और घृणा जैसे बोध से ही अधिक प्रेरित लगता है। सार्त्र की कुछ रचनाएँ अनायास ध्यान में आती हैं, और काफका की। पर ऐसी रचनायें बहुत हैं और उनके ब्यौरे में यहाँ नहीं जाऊँगा। पर लगता है कि बीभत्स भी एक-रस की कोटि में रखे जाने का दावा कर सकता है।

जो बात आगे कहना चाहता हूं वह अब तक की चर्चा से ध्वनित हो जाती है। हम किस रस को एक-रस कह सकते हैं, किसे नहीं, यह और बात है, पर भिन्न एक-रसों में एक गहरे स्वभाव-भेद का इंगित मिलता है : हम भिन्न रसों को एक-रस के रूप में देखें तो उनके भीतर जीवन के प्रति भाव-बोध के गहरे भेद का भी परिचय पाते हैं—मानो जगत् के प्रति उन्मुखता के ही चेतना में भीतर-पैठे भेद उभरते हैं। रस को किसी प्रवृत्तिमय 'आनन्द' के साथ जोड़ना विडम्बना ही जान पड़ सकता है।

लेकिन अब इन भेदों को ध्यान में रखते हुए हम रसों को प्रवृत्ति-परक और निवृत्ति-परक इन दो कोटियों में रख सकते हैं। वीर और श्रृंगार जो पुराने साहित्य के प्रिय रस थे, इनका स्वभाव स्पष्ट ही प्रवृत्ति की ओर झुकता-झुकाता है। जीवन से लगाव है इनके भीतर। पर बीभत्स का निवृत्ति-स्वभाव स्पष्ट है। शान्त दोनों कोटियों में आ सकता है—जीवन के निर्मल अंगीकार का अक्षुब्ध, अचंचल भाव हो सकता है शान्त में—एक धीर-प्रसन्न भाव; पर शान्त निर्वेदमय हो तो निवृत्ति की ओर बढ़ता दिखता ही है। शान्त की अनाकुल अक्षुब्धता निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों की ओर उन्मुख हो सकती है।

करुण को हम कहां रखें? वह निवृत्ति-परक लग सकता है। पर मुझे नहीं लगता कि उसे निवृत्ति-परक कहना उचित होगा। उसमें जो विषाद है, जीवन के

स्वीकार का ही विषाद है। वह निवृत्ति की ओर नहीं ले जाता, प्रवृत्ति में अधिक संवेदना जगाता है।

रौद्र और भयानक को यहां हम कम गरिमा देते हुए अलग रख सकते हैं—या एक को वीर के साथ और दूसरे को बीभत्स के साथ रख सकते हैं। या दूसरी दिशा लेते हुए यह भी कह सकते हैं कि भय एक बड़ा गहरा, प्राण-मन-चेतना की तह में समाया भाव है, पर उसका बीज प्रवृत्ति को ही धरती बनाता है, निवृत्ति को नहीं। जो भी हो, यहां जो बात मैं बढ़ाना चाहता हूं वह हास्य की चर्चा के बिना पूरी होती नहीं लगती है। इसलिए हास्य पर कुछ कहता हुआ आगे बढ़ूँगा। पहला ही प्रश्न उठता है : क्या हास्य को भी हम किसी अर्थ में एक-रस कह सकते हैं? इससे भी मूल-स्पर्शी प्रश्न है : क्या वह रस की कोटि में आ भी सकता है? और अगर वह रस है तो क्या कला मात्र में उसका पसारा है? उसे रस कहें तो रसों में हास्य को हम कहाँ रखेंगे, निवृत्ति-परक रसों में या प्रवृत्ति-परक रसों में? समस्या यहाँ यह लगती है कि हास्य दोनों में से किसी में ठीक समाता नहीं दिखता। हास्य में एक नि:संग द्रष्टा भाव होता है जो उसे निवृत्ति के साथ जोड़ सकता है—शिव के अट्टहास की बात सोचिये! भारत में तो शायद नहीं, पर अन्यत्र, जैसे जापान की 'ज़ेन' कहलाने वाली निवृत्ति-मार्गी बौद्ध साधना में शिव जैसे मुक्त हास का बड़ा मर्मगत स्थान है। (संस्कृत 'ध्यान' से निकला शब्द है 'ज़ेन' और उसीकी सी ध्वनि रखता है—'अध्यात्म साधना में समाहित चेतना')। ज़ेन चित्रकला पर भी यह मुक्त हास छाया हुआ है। प्रसिद्ध अध्यात्म-सिद्ध 'ज़ेन' संन्यासी बोधि-चित्त के चित्रों में एक ठठा कर हँसता हुआ रूप उभरता है जो जगत्-भाव से निर्बंध बोध में जागे निर्ग्रन्थ भाव का भी प्रतीक है। पर 'ज़ेन' ध्यानियों का सा हास्य-भाव दूसरी परम्पराओं की अध्यात्म-साधना में नहीं-सा है। हो तो अपवाद जैसा ही होगा—शायद कुछ शैवों में हो। पर हो या न हो, शिव के अट्टहास से और ज़ेन-साधना से यह व्यंजित है कि हास्य को निवृत्ति की कोटि में रखना अटपटा भी नहीं। भरत विपरीत दिशा लेते हैं। भरत हास्य को शृंगार के साथ रखते हैं। दोनों की एक प्रफुल्ल-सी जुगलबंदी भी जोड़ते से जान पड़ते हैं। यह ठीक भी है कि रीति-प्रीति के विलास के साथ हास्य का सहज सम्बन्ध है ही। और कहना न होगा कि इस आनन्द भाव में विराग नहीं, जीवन के प्रति नितांत अनुराग का ही स्वर बोलता है।

पर हम देख आए हैं कि हास्य में निवृत्ति के स्वर भी जाग सकते हैं। दूसरे भी स्वर हैं जो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के रंग में रँगे जान पड़ते हैं। योग और भोग इन दोनों की उच्छृंखलता ही हास का रूप नहीं लेती, हास्य में कड़वाहट का विष भी हो सकता है। लोक-व्यवहार में हो या कथा या नाट्य में, हम जहां एक ओर किसी के साथ नर्म और विनोद की मीठी, चुटकीदार, चटखारा लेती हँसी हँसते हैं, उसके सुख में सुखी होते हैं, तो दूसरी ओर किसी पर चोट करते हुए भी ठहाका लगाते हैं, व्यंग्य

में उसका मजाक बनाते हैं। थोड़ी सी भी अनुभव की टोह लेकर देखें तो पायेंगे कि हँसी का साथ लगभग सभी भावों के साथ हो सकता है : यहां तक कि भयानक में भी हो सकता है हास्य, और रौद्र में, बीभत्स में भी। तो क्या हास्य को हम शान्त की तरह कथा-मात्र में व्यापी 'एक-रस' कह सकते हैं? ऐसा कहने का लालच भी होता है। पर क्या ऐसा कहना उचित होगा? कहें तो एक बात और विचार में जागेगी, 'एक-रस' के रूप में हास्य और शान्त में एक बड़ा अन्तर आगे आएगा जो बात पर थोड़ा सोचते ही प्रकट हो जाता है। ऊपर हमने देखा कि शान्त सहृदय की दृष्टि को एक तटस्थ भाव देता हुआ कथा-मात्र में ही नहीं, कला-मात्र में व्यापक होता है। हास्य की व्याप्ति, स्पष्ट ही, कथा तक सीमित है, या कला के उन रूपों तक जिनमें लोक का अनुकरण होता है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी-न-किसी तरह भाषा के विषय हो सकते हैं। पर जो शिल्प ऐसे नहीं होते–जिन्हें कला के 'विशुद्ध' रूप कहा जा सकता है–उनमें भी शान्त की उपस्थिति का अनुभव तो होता है पर हास्य का नहीं होता। स्पष्ट ही शांत हास्य से कहीं व्यापक है। ऐसी कलाओं में भी होता है जहां लोक प्रतिबिंबित न हो। पर हास्य लोक की अपेक्षा रखता है। हास्य का विषय लोक है, मानव-लोक, और उसकी उपस्थिति ऐसी कलाओं में ही होती है जो लोक-प्राण होती हैं। लोक से असम्पृक्त शिल्प या कला में नहीं।

कथा में उसकी विशेष उपस्थिति होती है। पर हास्य चाहे किसी भी अर्थ में कथा तक ही सीमित कहा जाए, शान्त से तुलना कर के देखें तो शान्त की तरह ही उसमें भी एक नि:संग द्रष्टा-भाव की भी प्रतीति होती है। हालांकि कहना न होगा कि एक सी नहीं होती। दोनों में जो भेद मुझे सूझ रहा है, प्रकट करता हूँ। शान्त का तटस्थ-भाव हमारे सम्पूर्ण बोध का तटस्थ-भाव है, हमारी पूरी चेतना को समेटे रहता है। पर हास्य का तटस्थ भाव बुद्धि ही का तटस्थ-भाव लगता है। यह सच है कि वह केवल बुद्धि की ही वृत्ति नहीं है; क्योंकि बात बुद्धि की ही होती तो हास्य को रस की कोटि में रखते ही असंगति आड़े आती दिखती। हास्य भावना की भी वृत्ति है। नहीं तो रस के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही सम्भव नहीं था। और हम पाते यह हैं कि रस के साथ हास्य के एक नहीं अनेक सम्बन्ध बनते हैं। साथ ही यह भी लगता है कि इनके भीतर से हास्य का अपना 'भाव'–या 'स्वभाव' भी कुछ उभरता है।

पर वह शान्त से मेल नहीं रखता। बल्कि हास्य स्वभाव से ही कुछ अटपटा, बेमेल ठहरता है। उसे कहीं भी रखें, अलग खड़ा हँस देता है। मैंने हास्य के साथ बुद्धि के सम्बन्ध की बात की, पर उसे जब हम दूसरे भावों के साथ रखकर देखते हैं तभी वह भावना से अधिक बुद्धि की बात जान पड़ता है। नहीं तो अपने आप में वह भावों में एक भाव ही ठहरता है। बल्कि और विवेचना करें तो पायेंगे कि जब शान्त के साथ हम हास्य को तोल कर जाँचते हैं तभी प्रतीति कहती है कि हास्य का पलड़ा बुद्धि की ओर अधिक झुकता है और शान्त का भाव की ओर। शान्त का तटस्थ

भाव जिस तट पर बैठ कर भावना के प्रवाह देखता है वह भावना की भूमि को छोड़ता नहीं है, जब कि हास्य के तटस्थ भाव में बुद्धि खड़ी दीखती है। हास्य के नि:संग भाव में बुद्धि के निर्लिप्त, नीराग द्रष्टा भाव का प्रवेश प्रकट है। पर वह भाव से अछूता नहीं है। हम कह सकते हैं कि हास्य में भावना और बुद्धि के बीच एक विचित्र सा सेतु बनता है जो भावना तक हमें पूरी तरह जाने नहीं देता। क्योंकि हास्य में कहीं-न-कहीं किसी असंगति का, असमंजस का, समन्वय के अभाव का बोध जागता रहता है; एक विवादी स्वर का ऐसा बोध जो स्वर की तरह भाव में जागता हुआ भी बुद्धि की 'समझ' के अधिक निकट जान पड़ता है। भरत ने हास्य के लक्षण में 'विपरीत' या 'विकृति' शब्दों का प्रयोग किया है, जो यहाँ बुद्धि ही के प्राधान्य को सामने लाते हैं। इस प्राधान्य का एक और इंगित इस बात में भी है कि हास्य का अपना कोई स्वगत स्थायी-'भाव' बनता नहीं दीखता; हास्य दूसरे किसी भाव के साथ ही रहता है। भरत ने 'हास' को हास्य का स्थायी-भाव कहा है। पर 'हास' का लक्षण करें तो अन्य भावों से विलक्षण, अपने आप में भाव कहलाने लायक कोई स्वतन्त्र भाव हाथ में आता नहीं प्रतीत होता है। क्रोध, रति, जुगुप्सा, भय, शोक, उत्साह, विस्मय–या निर्वेद–इन स्थायी भावों में एक आवेग-मय, हृदय को अपनी मुट्ठी में ले लेने वाला स्पन्द होता है, जिसे हम 'भावना' कहते हैं। यह 'हास' में होता है क्या? भावना अगर हृदय को डुबाती सी लगती है तो हास उलटा ही काम करता है, जैसे भावना से उबार रहा हो।

पर हास स्थायी-'भाव' हो या न हो, एक ऐसी स्थायी वृत्ति या प्रवृत्ति तो है ही जो भावों का साथ दे सकती है। उसका यह साथ देना दो तरह का हो सकता है। इस द्विविध प्रकार-भेद को हम उन दो धारणाओं में तोल सकते हैं जिनके आधार पर हमने यहाँ रसों में ही प्रकार-भेद किया है : प्रवृत्ति और निवृत्ति। भरत ने भी हास्य के कई भेद किए हैं। पर ये भेद मात्रा के भेद हैं, प्रकार-भेद नहीं। हास्य में प्रकार-भेद का एक और रास्ता लिया जा सकता है। हास्य को हम उन विभिन्न भावों के आधार पर बाँट सकते हैं जिनके साथ हास्य को रखा जा सकता है। यों रस-भेद के आधार पर भी हास्य में भेद की बात की जा सकती है। इस तरह के विभाजन का संकेत ऊपर आ चुका है। हास्य के ऐसे प्रकार-भेद को और भी आगे बढ़ा सकते हैं। हम एक एक रस ही नहीं, एक-एक भाव, भाव के एक-एक तेवर के साथ हास्य को रख कर देख सकते हैं। इस रास्ते हास्य के अपने तेवर पर भी गहरा प्रकाश पड़ सकता है1 पर रास्ता टेढ़ा है और इस रास्ते भी हास्य की अपनी पहचान आसानी से या संक्षेप में उभरती नहीं दिखती। कुछ उभरेगा भी तो लम्बी विवेचना के बाद उभरेगा। ऐसी किसी विवेचना में यहाँ नहीं जाऊँगा। पर मैं समझता हूं कि हास्य को दूसरे रसों के साथ रखकर हम मोटे तौर पर प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार पर उसे बाँट सकते हैं। हास्य की पहचान क्या, इस बात को भी यों कुछ भाँप सकेंगे हम। हास्य के लिए अभी मैंने

सेतु का रूपक लिया था। फिर से लेता हूँ। हास्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच भी सेतु पर खड़ा सा लगता है। दोनों ओर मुँह किए खड़ा है। उसे दोनों ओर ले जाया जा सकता है। इस गुण में भी उसका बुद्धि से मेल है। विचार की तरह वह जगत् को सत् मानने की ओर भी बढ़ सकता है और मिथ्या मानने की ओर भी। पर क्या ऐसा करते हुए हास्य अपनी इस चाल को भी निष्पक्ष, निस्तरंग भाव से अलग खड़ा देख सकता है? शायद नहीं। वह बुद्धि जैसा ऊह नहीं है। तभी वह भाव है विचार नहीं। वह सत्य-मिथ्या का विमर्श नहीं करता। प्रवृत्ति के भाव के साथ प्रवृत्ति की ओर झुक जाता है, निवृत्ति के भाव के साथ निवृत्ति की ओर।

फिर उसकी अपनी पहचान क्या है?

मैं समझता हूँ कि हास्य की अपनी कोई पहचान है तो निवृत्ति के ही रंग में रँगी हुई है। विरागी शिव का, सृष्टि को समेटते हुए शिव का, अट्टहास है हास्य। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि प्रवृत्ति-धर्मी रसों के साथ, जैसे शृंगार या वीर के साथ, हास्य का पुट इन रसों की पुष्टि कर सकता है, ज़रूरी नहीं कि विवादी ही बने। पर शृंगार, वीर और रौद्र में हास्य की विद्रूप-मयी विवादी मुद्रा भी हो सकती है और हास्य किसी भी दूसरे प्रधान रस के भाव को तोड़ता दिख सकता है। पर हास्य यहां फिर उतना गौण नहीं रहता। गौण भाव से तो विवादी रह कर यह प्रधान रस को और सशक्त भी कर दे सकता है। अन्याय के प्रति क्रोध रौद्र का स्थायी हो तो अन्यायी को हास्य का आस्पद बनाना रौद्र के स्थायी की बुनावट को और गफ बनाता है, कस देता है। पर ऐसा है तो फिर आप पूछ सकते हैं कि हास्य को निवृत्ति के साथ बैठाने का क्या मतलब?

तभी मैंने गौण-प्रधान भाव की बात की। हास्य जहाँ गौण होता है वहां दूसरे रसों में अपना स्थान खो देता है। पर हास्य प्रधान भी हो सकता है। आपत्ति हो सकती है कि हमारे ऊपर के विवेचन से हास्य के प्रधान होने की बात निकलती नहीं दिखाई देती : हास्य का जब कोई अपना स्थायी भाव नहीं, जब हास्य अपने आप में भाव और बुद्धि के बीच त्रिशंकु सा बना रहता है या किसी सेतु पर खड़ा है, तो उसका प्राधान्य होगा कैसे? उत्तर में कहूँगा कि इसका मतलब यही है कि विवेचन को स्थायी-भाव जैसी कोटि के दायरे से ही निकलना होगा। वरना हास्य-प्रधान लेखन को क्या हम साहित्य के घर से ही निकाल देना चाहेंगे? ऐसे कथा-लोक बनते ही हैं जहाँ हास्य प्रधान होता है और आजकल तो ऐसे बहुत बनते हैं; बड़ी बारीकी और गहराई के साथ बनते हैं। ये एक विचित्र सी बात पैदा करते हैं। एक स्वतो-विच्छिन्न जगत्-बोध में जन्मे जान पड़ते हैं। कई आलोचक और चिन्तक हास्य के व्यंग-विद्रूप में 'आधुनिक' उपन्यास का कथा-बीज तक देखते हैं। अपने होने को विडम्बना जानते हुए कौतुक के भाव से देखना 'आधुनिकता' का एक गहरा तेवर है। यही हास्य का स्थायी होना भी है। 'विडम्बना' अपने मर्म में भरत के 'विपरीत' और

'विकृत' की सहोदरा है। विडम्बना के इस स्थायी को हम भाव नहीं कह सकते। यह मनोवृत्ति रस की ओर उन्मुख नहीं होती। बल्कि रस में जो समाँ बँधता है उसके तार को झकझोरती रहती है। पर इसे भाव न कहें, मनोवृत्ति कहें या कुछ और कहें, इसकी आँख निवृत्ति की दिशा में ही उठी रहती है।

पर बात को मैंने तूल जिस प्रयोजन से दिया है उस पर आता हूँ। मैं समझता हूँ कि कथा में हमारा बोध जगत् के-मानव-जगत् के-एक आदर्श को अपने गर्भ में समोये रखता है : कथा-बोध के पीछे एक आधारभूत धारणा रहती है, चेतना में गहरे समाया हुआ एक अपनी तरह का ऊह रहता है कि मानव-जगत् ऐसा होता है और ऐसा होना चाहिए। बल्कि यों कहिये कि, 'है' और 'होना चाहिए' की सम्मिलित धारणाएँ इस बोध में एकमेक होकर एक-दूसरे में गुँथी होती हैं; इस तरह युगनद्ध होती हैं कि एक-दूसरे के स्वभाव-स्वरूप को बनाती हैं। तभी यह धर्म-अर्थ-काम की परस्पर-नद्ध त्रिपुटी का लोक है, जिसमें श्रेयस् और प्रेयस् एक-दूसरे को बनाते चलते हैं; जहाँ श्रेयस् और प्रेयस् एक-दूसरे से भिन्न और विपरीत नहीं होते : आदमी को यों होना चाहिए, क्योंकि ऐसा वह है-मनुष्य के रूप में 'ऐसा' है; *वास्तव* में 'ऐसा' है, *स्वरूप* में 'ऐसा' है, चाहे ऐसा न भी लगता हो-उसकी 'मनुष्यता' उसे बताती रहती है कि ऐसा उसे होना चाहिए, विशेषकर भाव में और संकल्प में।

रसों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के जो दो भिन्न बीज हमने देखे, दोनों बीज मनुष्य-बोध की इस एक ही धरती पर अंकुर लाते हैं। यह धरती 'वासना' की भी धरती है। यह बात उन रसों में और भी साफ सी झलकती है जिन्हें निवृत्ति-गर्भ कहा जा सकता है। निवृत्ति-प्राण रसों में अध्यात्म-प्रवण वैराग्य उतना नहीं जितना एक और निषेध का संकेत-और साथ ही संदेश-रहता है कि 'यों नहीं होना चाहिए'। लोक में ऐसा भी होता ही है, ठीक है, पर ऐसा होना ठीक नहीं है। 'वांछित' नहीं है, न प्रेयस् है न श्रेयस् है, क्योंकि मानव का यह सच्चा स्वभाव-स्वरूप नहीं है। निवृत्ति पालने वाले रसों में एक व्यंजना रहती है जो हमारे भाव और कर्म के औचित्य-बोध के अन्तरंग में उतरकर हमारे प्राणों तक को एक नीरव, नि:शब्द, पर स्पष्ट संकेत देती है, जिसे नेतिपरक संकेत कह सकते हैं कि ऐसा न होता तो अच्छा था; और यों इसमें हमारे भाव और कर्म के लिए भी एक संदेश रहता है, चाहे प्रच्छन्न ध्वनि के ही रूप में रहता हो, कि अपने काम और संकल्प को ऐसा रखो कि यों न हो। तात्पर्य यह कि कथा के संसार में निवृत्ति प्रवृत्ति की उपजीवी होती है, प्रवृत्ति को ही प्रतिभा प्रदान करती है, वैराग्य की विशुद्ध निवृत्ति को नहीं।

कथा-लोक के साथ 'वासना' का सम्बन्ध जोड़ना, कथा-लोक की धरती को 'वासना' की धरती कहना, अजीब लग सकता है। यह शब्द यहाँ उलटा और बेमेल सा जान पड़ सकता है। कोई दूसरा शब्द लेना शायद ज्यादा अच्छा होता। हम मनुष्य की जिस श्रेयस्-प्रेयस्-मयी प्रवृत्ति-निवृत्ति की यहां बात कर रहे हैं उसकी धरती को

'वासना' की धरती कहना ठीक नहीं लगता। 'वासना' शब्द यहां मैंने संस्कारवश लिया है, अभिनव गुप्त के प्रति पक्षपातवश। पर किसी भी वजह से लिया हो, शब्द यहां विवरण की अपेक्षा रखता है।

अभिनव गुप्त से आरम्भ करता हूँ। अभिनव कहते हैं कि रस-बोध के लिए ऐसा चित्त अपेक्षित है जिसमें 'वासना' हो। चित्त में 'वासना' न हो तो रस का अनुभव भी नहीं होगा। साथ ही अभिनव यह भी कहते हैं कि मानव-चित्त में वासना स्वभाव से ही होती है। वासना का अर्थ मानव-प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम जैसा लगता है–जिसमें राग-द्वेष के साथ संकल्प-बोध, धर्म-बोध, भी होता है। जड़ वस्तु में वासना नहीं होती, और नितांत निवृत्ति की अवस्था में भी नहीं होती। तभी अभिनव कहते हैं कि नाट्य-गृह में पड़ी कुर्सी को रस-बोध नहीं होता; ऐसे वैरागी को भी नहीं होता जिसमें राग-द्वेष, संकल्प का लेश भी न बचा हो। रस-बोध उसी को होता है जिसमें 'वासना' हो।

'वासना' के इस प्रयोग में बौद्धों का संस्कार है। पर मर्म में मैं समझता हूँ बड़ा तलस्पर्शी भेद भी है। भेद अभिनव की रस-विवेचना में उभरता है, पर ऊह्य के रूप में। उभारा नहीं गया है। अपने विवरण से उभारने की चेष्टा करता हूँ, ताकि अपने विचार में समो सकूँ। पहले संक्षेप में बौद्धों का आशय सामने रखता हूँ। बौद्ध वासना को राग, द्वेष, संकल्प और विकल्प–हमारी शब्द-मयी कल्पना–इनका गुंफ मानते हैं। वासना का आधार तृष्णा है जो संसार को बनाती है। कुछ बौद्ध हैं जो ऐसा भी मान लेंगे कि तृष्णा-मूल वासना-जगत् मात्र को नहीं बनाती। जैसे आकाश और अणु के मूल में वासना नहीं है। पर वासना इस संसार को तो बनाती ही है जिसे हम मानव-संसार कहते हैं; जिसके आधार पर कथा-लोक बनता है। वासना उस संसार को ही नहीं बनाती, उस चित्त को भी बनाती है जो इस संसार को अपनी कल्पना से बुनता है। यह चित्त मेरा या आपका चित्त नहीं है; यह किसी भी 'आत्म' विशेष से परे एक प्रकार का चित्तमात्र है। क्योंकि जिसे हम आत्म या अहं कहते हैं उसका भी मूल वासना ही है। बौद्धों के लिए वासना अपने आप में निर्मूल है। अविद्या है। दुःख है। इसी मिथ्या निर्मूल में चित्त और संसार का मूल है, जिसमें वासना हमें प्रवृत्त करती है। निवृत्ति के निर्वाण में इस वासना के संसार से हम छुटकारा पाते हैं। तो बौद्धों जैसे निवृत्ति-वादियों के लिए वासना जिसके मूल में है वह गर्हित है, तुच्छ है, मिथ्या है, अकाम्य है। निर्वाण ही वांछित है। निर्वाण के प्रति हमें प्रज्ञा ले जाती है, जो वासना में–या वासना के साथ–हममें जागती रहती है पर उसका बीज सत्य में होता है। प्रज्ञा हममें 'वासना' की सही पकड़ भी जगाती है और हमें निवृत्ति-मार्ग से निर्वाण की ओर बढ़ाती है।

प्रज्ञा के सत्य को बौद्ध निवृत्ति से जोड़ते हैं। पर प्रज्ञा की बात हम प्रवृत्ति में भी कर सकते हैं। पर उसकी उन्मुखता भिन्न होगी। रस-बोध में हमने प्रवृत्ति की ओर ले

जाने वाली प्रज्ञा का ही संकेत ढूँढ़ना चाहा है। तो फिर वासना को भी हम बौद्धों के अर्थ में नहीं ले सकते। अभिनव ने इस शब्द को क्यों और किस तात्पर्य से लिया है यह व्याख्या का विषय हो सकता है, पर हम यहाँ अभिनव पर टीका करने नहीं बैठे हैं। हमारे लिए प्रश्न है : वासना को हम अपनी तरह से कैसे समझें? उसको निवृत्ति से हटाकर हम प्रवृत्ति की ओर कैसे मोड़ सकते हैं? एक मोड़ की बात हम कर चुके हैं, उस पर ध्यान दीजिये। हमें जिस धारणा को उभारना है वह एक प्रज्ञा, दृष्टि या मनीषा है, जिसे हम कथा-लोक की बोध-भूमि के रूप में द्योतित कर चुके है; इस भूमि का एक ऊह्य विचार-तन्त्र या धारणा-व्यूह है जो इसके स्वरूप की पकड़ में निहित है। हमारा लक्ष्य इसी ऊह्य को उभारना है। इसे हमने 'वासना' का नाम भर दिया है, उससे तदात्म नहीं कहा है। नाम भी इसलिए दिया कि कुछ सादृश्य है। इस सादृश्य के सहारे हम अपनी बात कह सकते हैं। मैं समझता हूँ कि हमारा अभिप्राय अभिनव जैसे आलंकारिकों की उस मनीषा में कुछ पैठने से खुल सकता है जिसने कथा-लोक को रस-बोध की दृष्टि से आँका-परखा है। बौद्धों ने वासना को चित्त से ऊपर, चित्त के आधार के रूप में रखा है। हमारे अभिप्राय में भी यहां वासना का साधारण चित्त से परे एक ब्यापक रूप है जो हमारे अहं-भाव से सीमित नहीं होता है। नहीं तो वासना रस-बोध के मूल में नहीं रखी जा सकती। रस-बोध में एक साधारणीभाव होता है जो चित्त विशेष से उठाकर उसे चित्तमात्र की धरती पर रखता है। यह भी हमें मान्य हो सकता है कि वासना का अपना कोई मूल नहीं, वह निर्मूल है। वासना चित् का—और आधार के रूप में मनुष्य के चित्त का—स्वरूप-स्वभाव है। निर्मूल है तो इस अर्थ में कि स्वयंभू है; और इसी अर्थ में निर्मूल है। पर चित् के इस 'निर्मूल' स्वभाव में और बौद्धों के नि:सार, तुच्छ, निरर्थक, दु:खमय और अनर्थ-मूल निर्मूल में एक महत् अन्तर है। चित् यहाँ आनन्द-स्वरूप है, तभी वह रस-बोध का आधार बनता है। इतना ही नहीं, रस को रस-चर्चा में ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। ऐसा कहने में कोई सार्थकता है तो जिस चित् का आनन्द के साथ सम्बन्ध है उसका सत् के साथ भी अविच्छेद सम्बन्ध होगा। क्योंकि अगर हम ब्रह्म को किसी भी रूप में कथा के साथ जोड़ें—चाहे सम्बन्ध को सहोदरत्व के नाम पर कितना ही क्षीण करते हुए जोड़ें, ब्रह्म को उपमान भर मानकर बहुत दूर का ही सम्पर्क साधें—तो भी कथालोक रस से ही नहीं, सत् से भी स्वत: जुड़ जाता दिखता है। तो कथा-लोक का जिस वासना से सम्बन्ध है वह बौद्धों की वासना की तरह असत् नहीं, उसका आनन्द और सत् के साथ सम्बन्ध है : ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है— और चित् वासना-स्वरूप है जिससे सत् और आनन्द युगनद्ध हैं। आपत्ति होगी कि ब्रह्मवाद में तो व्यवहार के जिस लोक के आधार पर हम कथा-लोक की सृष्टि करते हैं वह मिथ्या है, उसे हम सत्-चित-आनन्द् से नहीं जोड़ सकते। पर हम रस-बोध को अगर मिथ्या नहीं मानते तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि फिर हमारा आशय बड़ा अटपटा, विसंगत सा बनेगा—हम

एक ओर व्यवहार-लोक को तो मिथ्या कह रहे होंगे, पर उस पर आधारित कथा-लोक पर यह आक्षेप नहीं ला पायेंगे! फिर एक बात और है। कथा-लोक में अगर सत् की कहीं भी नींव है तो हमारा व्यवहार जिस अर्थ में सिद्ध नहीं साध्य है–जिसको हम अपने भाव और संकल्प से रूप देते हैं– उस अर्थ में कथा-लोक का कुछ तत्त्व उसमें भी है ही : क्योंकि कथा-लोक के आदर्श हमारे भाव और संकल्प को दिशा देते हैं–इसलिए वह लोक मिथ्या नहीं हो सकता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस युक्ति में हम साध्य के रूप में व्यवहार को सत् मान रहे हैं जो युक्त नहीं–क्योंकि सत् ब्रह्म जैसी सिद्ध वस्तु ही हो सकती है, सत् का साध्य के साथ क्या सम्बन्ध बनता है? पर इस प्रश्न में यहां जाने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इतना कहूँगा कि रस-बोध के स्वीकार में प्रवृत्ति की सार्थकता का–सत् का–भी स्वीकार है, और प्रवृत्ति के स्वीकार में व्यवहार-लोक के सत् की स्वीकृति निहित है। और प्रवृत्ति अगर स्वरूप से सिद्ध ही नहीं साध्य भी होती है तो सत् भी सिद्ध ही नहीं साध्य भी है। समस्या यहां उनके लिए है जो प्रवृत्ति को असत् मानते हैं : क्योंकि प्रवृत्ति अगर असत् है तो प्रज्ञा जो सत् है–निर्वाण के सन्मार्ग पर ले जाती है, वह भी असत् ठहरेगी–वह प्रवृत्ति में रहती हुई प्रवृत्तिमय होती है।

एक बात हमें भूलनी नहीं चाहिए : जिस वासना की धरती पर कथा-लोक की जड़ है वह धर्म की भी धरा है। कथा में भाव ही नहीं कर्म भी होता है। बिना इतिवृत्त, चरित, या दूसरे शब्दों में, बिना कर्म के कथा नहीं हो सकती। कर्म में कर्म का औचित्य–धर्म- ऊह्य रहता है। धर्म के बारे में कहा गया है कि वह 'ऊर्ध्व-मूल अध:शाख' है; तो उसे वासना की प्रज्ञा भी कह सकते हैं। पर यह ऋत में बसी प्रज्ञा है जो प्रवृत्ति को सत् बनाती है। यों यह 'वासना' बौद्धों की 'वासना' से जड़ में ही अलग है। कथा की तरह बौद्धों की वासना का सम्बन्ध भी कल्पना से है, पर बौद्धों की कल्पना असत् बुनती है जब कि कथा-कल्पना के गर्भ में सत् का बीज होता है। कथा को कल्पना कहने का एक और भी तात्पर्य बनता है जो यहां प्रासंगिक है। कथा की कल्पना में एक द्रष्टा-भाव होता है–कथा मनुष्य-लोक का अपना सा ऊह करती है। विमर्शमयी होती है। मनुष्य के कर्म का प्रतिबिंब ही नहीं उभारती, अपनी तरह का जीवन्त कर्म-चिन्तन भी करती चलती है। कर्म की समस्याएं, संकट भी सामने लाती है–**महाभारत** जिस का एक महत् दृष्टान्त है।

'वासना' से मिलती-जुलती धारणायें विचार में अन्यत्र भी मिलती हैं। इस अर्थ में 'मिलती-जुलती' हैं कि उनमें भी ऐसी किसी प्रज्ञा को रूप देने का प्रयत्न होता है जो हमारी किसी प्रवृत्ति में ऊह्य रह कर उसके निर्मूल, स्वयंभू आधार को प्रकट करती है। कांट का इस दिशा में प्रयास प्रसिद्ध है। उसका दर्शन मानव-ज्ञान के मूल में एक परम आधार का दर्शन है जो हमारी ज्ञान की वृत्तियों में ही स्वयंभू होता है। हमारी जगत्-दृष्टि के मूल में एक कल्पना है जो हमारी इन्द्रियों और बुद्धि के ग्रहण

को रूप देती है। हमारे जगत्-ज्ञान में व्याप्त रहता हुआ ज्ञान का एक रूप-तन्त्र है जो ज्ञान को योजना देता है। हमारा ज्ञान इस योजना के परतन्त्र होता है। हमारी जगत्-कल्पना हमारे इच्छा-विचार से स्वाधीन होती है। अपने आप में एक बुनावट बुन कर खड़ा कर देती है। हमारा ज्ञान इस कल्पना-प्रसूत जगत् की बुनावट को बुद्धि की स्वयंभू कोटियों में आँकने का द्रष्टा-भाव या ग्राहकता है। भाव या भावना के विषय में कांट का अभिमत निषेध-परक ही जान पड़ता है—रस-सिद्धान्त की तरह कांट भावना के किसी द्रष्टा-भाव की बात नहीं करते। बल्कि भावना उनके लिए द्रष्टा-भाव की नाशक ही है—चेतना को अंध अहं-भाव में डुबाती है, बुद्धि की तरह उससे ऊपर नहीं उठाती। पर कांट कर्म को ज्ञान से बिल्कुल अलग करते हैं। कर्म के मूल में कांट निरहं स्वातन्त्र्य देखते हैं। वैसी कोई कल्पना-प्रसूत व्यवस्था नहीं देखते जिसके अधीन रहता हुआ ज्ञान उसके स्वरूप को उभारता है। उनकी कर्म-दृष्टि उनकी ज्ञान-दृष्टि से मूलतः भिन्न है। ज्ञान में एक ओर इन्द्रियों का अपना तन्त्र होता है और दूसरी ओर बुद्धि की स्वयंभू कोटियां जिन से ज्ञानं बँधा रहता है। पर कर्म में मनुष्य का संकल्प मुक्त होता है। स्वतन्त्र होता है—अपने से बाहर किसी व्यवस्था के अधीन नहीं होता। पर कर्म को कांट ज्ञान से ही नहीं, भाव से भी स्वतन्त्र रखते हैं। उनके विचार में कर्म स्वतन्त्र तभी होता है जब भाव के आवेग से मुक्त हो। कांट की दृष्टि का अभिनिवेश ज्ञान और कर्म की ही ओर था, भाव की ओर नहीं। ज्ञान में उन्होंने ज्ञान-को-बांधता तन्त्र देखा, कर्म को स्वतन्त्र कहा, उसकी एक स्वतन्त्र योजना देखी; भाव को वे स्वरूप से ही अराजक समझते थे। भाव और कर्म के विच्छेद को ही उचित समझते थे : भाव से मुक्त होकर ही कर्म सचमुच स्वतन्त्र होता है।

हमने कथा-लोक में जिस 'वासना' की धरती को भाँपना चाहा है उसमें भाव और कर्म का समुच्चय है। दोनों में परस्पर-भाव है। जुगलबंदी कह सकते हैं। दोनों एक-दूसरे को बनाते, उभारते चलते हैं। कथा-जात रस-बोध के मूल में श्रेयस् और प्रेयस् का गुंफ है जो मानव-सुलभ है। इस मनुष्य-भाव को भरत के शब्दों में भी कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्र के पहले ही अध्याय में भरत ने नाटक के होने का, उसके हो सकने की सम्भावना का मूल क्या है, इस प्रश्न पर अपनी तरह का विमर्श किया है : नाटक के 'आधार' को उभारा है। बड़े पते की बात कही है। उसे यहाँ हम अपनी 'वासना' के साथ जोड़ सकते हैं। भरत कहते हैं, नाट्य देवताओं के लिए नहीं है—आशय यह कि देवताओं को भी रस-बोध नहीं होता—क्योंकि देवता केवल सुख ही भोगते हैं, दुःख नहीं। देवताओं में राग-द्वेष-मोह-मत्सर जैसे भाव नहीं होते, जिन्हें हम दूर भी करना चाहते हैं। न देवताओं को कुछ पाने के लिए कुछ करना होता है। ये सब मनुष्य में ही होते हैं; इसलिए नाटक भी मनुष्य की ही चीज है। इसे हम 'वासना' के साथ जोड़ें तो आशय यह उभरता है कि हमारी जगत् की पकड़, उसका सिद्ध-साध्य रूप हमारे जिस बोध में जागता है वह हमारे मनुष्य होने के सहज बोध की धरती पर बसता है, जहां भाव और संकल्प परस्पर-नद्ध हैं। यही वासना है।

पर यह कल्पना नहीं है, हमारा सत्य है। ऊपर 'वासना' की जो धारणा उभरती है, वह हमारी चेतना में रहती हुई भी हमारे अहं-भाव से स्वतन्त्र है। कांट के बुद्धि-तन्त्र के समान ही 'लोकोत्तर' है। पर जिस रूप में बुद्धि-तन्त्र के साँचों का—कोटियों का—कांट ने ब्योरेवार परेखा लिया है, वैसा ब्यौरा वासना का मैं समझता हूँ, सम्भव नहीं है। वासना विवेक का आधार बन सकती है पर वह आधार अपने स्वरूप में ही व्यंजना को पालता है, अपने संकेत को ध्वनित करता है, बुद्धि की तरह परिनिष्ठित कोटियाँ नहीं बनाता, न उस तरह से कसा जा सकता है। 'मनुष्य अपने श्रेयस्-प्रेयस् में, अपने धर्म-अर्थ-काम में, अपने सिद्ध-साध्य स्वभाव में एसा है' इस बात को वह अपनी तरह से द्योतित करता है, उसे परिभाषित नहीं करता। कर्म के लिए संदेश सँजोता है : पर ऐसा कोई नियत आदेश नहीं देता कि 'यह करो' या 'यही कर्म उचित है'।

❐

आनृशंस्य

पिछले अध्याय में मैं जानबूझ कर थोड़ा पथ से विपथ हो गया था, इस लालच में कि आनृशंस्य की धारणा में प्रवेश का विचार के आँगन में खुलता एक द्वार पा सकूं। कह चुका हूँ कि आनृशंस्य पर जो पते की चर्चा है **महाभारत** में है और उस चर्चा को ऊहापोह के रास्ते चलती, लक्षण-परीक्षण में युक्ति के साथ उभरती चर्चा नहीं कहा जा सकता। उसे चर्चा न कह कर 'उपस्थापन' कहना शायद अधिक उपयुक्त होगा। कथा-निष्ठ उपस्थापन। उस उपस्थापन में एक ऊह्य सामग्री है—एक बोध, एक मानव-स्वभाव को आँकती दृष्टि जिसे मैंने 'वासना' शब्द से अभिहित किया है।

वासना की बात को समेटते हुए एक लक्षण सा अगर करूँ तो ऐसा कुछ होगा : वासना मानव के रूप में हममें निहित एक जगत्-बोध है जिसका प्रकाश साहित्य में—विशेषकर कथा-साहित्य में—हम पा सकते हैं। यह बोध मानव-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख ऐसा बोध है जो हमारे भाव और कर्म के औचित्य को एक अपनी सी दिशा देता है। कह सकते हैं कि वासना में भाव-कर्म की प्रज्ञा भी होती है। यह प्रज्ञा पर की ओर उन्मुख होती है। धर्म की, इति-कर्त्तव्यता की प्रज्ञा होती है। इसमें मानव के प्रति एक गहरी संवेदना भी होती है। मानव-स्वभाव में, कामना में, आशा-प्रत्याशा में, स्वप्न में, साधना में, उदात्त-अनुदात्त में झाँकती हुई यह एक सहज मानव-दृष्टि पालती है। यहाँ इसी लोक में दूसरे के बीच रहते हुए हम क्या पाना चाहते हैं, क्या होना चाहते हैं, हृदय-मन की इन गतियों को तोलती-परखती हुई प्रज्ञा होती है। बल्कि शायद यों कहना चाहिए कि वासना अपने-आप में प्रज्ञा नहीं है, एक बोध है जो प्रज्ञा का, कर्म के औचित्य का, आधार हो सकता है। मैं समझता हूं कि **महाभारत** में आनृशंस्य को परम धर्म कहने के पीछे जो बोध है उसे हम वासना-निष्ठ प्रज्ञा का नाम दे सकते हैं।

वासना-निष्ठ प्रज्ञा प्रवृत्ति की प्रज्ञा है, निवृत्ति की नहीं। निवृत्ति का लक्ष्य, परम पुरुषार्थ अगर नि:श्रेयस या मोक्ष है तो वासना-निष्ठ प्रज्ञा का लक्ष्य अभ्युदय कहा जा सकता है। 'अभ्युदय' शब्द के अर्थ में सार्वजनीन, सर्वांगीण भाव से, अच्छी तरह उठने का, बढ़ने का, उत्तुंग हो जाने का अभिप्राय है (यह सर्वांगीण, सर्वतोभद्र होने का भाव, उसमें आए उपसर्ग 'अभि' में पिरोया हुआ है)। अभ्युदय का तात्पर्य है—'सब ओर से सबका उदय हो'। मनुष्य के लिए यहीं, इसी लोक में, कल्याण-मंगल की धारणा निहित है, अभ्युदय के आदर्श में। यह लोकोत्तर का निषेध नहीं है, पर लोक की गहरी स्वीकृति है। आनृशंस्य अभ्युदय का धर्म है। अभ्युदय उसका

साध्य है। मैं समझता हूँ कि अगर सही सही देखा जाए तो धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की सम्मिलित गति अभ्युदय के आदर्श को ही सामने रखती चलती है, उसी ओर बढ़ती है। चौथा पुरुषार्थ मोक्ष या नि:श्रेयस्, जिसे 'परम' कह दिया जाता है, उसकी गति की दिशा कुछ और है। इसीलिए **महाभारत** की गिनती में, वहाँ आई हुई पुरुषार्थ-चर्चा में धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग और मोक्ष इस चतुर्थ वर्ग, इन दोनों के बीच एक स्पष्ट वर्ग-भेद झलकता है। कह आया हूँ कि इस वर्ग-भेद के पीछे प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो विपरीत दिशाओं में ले जाता हुआ साध्य-भेद ही भेद का आधार है।

धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग में धर्म का अर्थ और काम के साथ क्या सम्बन्ध है इसको लेकर विमर्श हो सकता है, होना भी चाहिए। पर इनमें एक-दूसरे से अनुविद्ध परस्पर-भाव तो स्पष्ट है। फिर भी कौन गौण? कौन प्रधान? यह प्रश्न उठ सकता है। ऐसा लगता नहीं कि यह विमर्श के साथ उठाया भी गया था। पर कुछ इंगित मिल जाते हैं, कुछ विचार के बिखरे हुए कण। **महाभारत** के एक प्रसंग में पाण्डवों के बीच विवाद होता है : काम बड़ा है या अर्थ? धर्म का इस प्रश्न में नाम नहीं आता—मानो अर्थ-काम का एक युगल बनता है, धर्म जिससे बाहर है। युधिष्ठिर यहां धर्म को भी ले आते हैं, इस अभिप्राय से कि धर्म के बिना अर्थ-काम की चर्चा सार्थक नहीं हो सकती; और यह बात बड़ी स्वाभाविक लगती है। क्योंकि इन तीनों को अलग भी कर दिया जाए तो भी इनकी त्रिपुटी का बोध बना रहता है। पुरानी चर्चाओं में तो स्पष्ट ही बना रहता है। पर नये-पुराने की बात नहीं, सम्बन्ध मनुष्य-भाव में ही निहित है। पर क्या सम्बन्ध है तीनों का इस त्रिपुटी में? पुरानी चर्चाओं में यह विचार कहीं स्पष्ट रूप लेता नहीं दिखता। फिर भी त्रिवर्ग पर पुराने चिन्तन के सूत्र चाहे उखड़े-उखड़े से ही हों, इनके स्वरूप की, इनके सम्बन्ध की या सम्बन्धों की चर्चा चाहे छिन्न सी ही मिलती हो, पर इतना तो सामने आ ही जाता है कि धर्म, अर्थ, काम की त्रिसूत्री को बाँधने वाला सूत्र धर्म ही है। हम अपनी चर्चा के आरम्भ में ही देख आए हैं कि मनुष्य का व्यावर्तक स्वरूप-स्वभाव ही धर्म को कहा गया है। धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता है, 'परिभाषित' करता है।

मनुष्य के धर्म के मूल में दो बातें हैं : एक है स्वातन्त्र्य। मनुष्य के बारे में अगर हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य वह प्राणी है जो पुरुषार्थ साधता है, तो इस पुरुषार्थी स्वरूप का द्वार है स्वातन्त्र्य। पुरुषार्थ सिद्ध नहीं, साध्य होता है और साधक वही हो सकता है जो स्वतन्त्र हो। नहीं तो पुरुषार्थ को साध्य कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। हमारा स्वातन्त्र्य स्वभाव से ही कुछ साधना चाहता है। उसकी इस साध्य-उन्मुखता में ही एक और तत्त्व स्वातन्त्र्य के साथ युगनद्ध है : विवेक। या औचित्य की तलाश। मनुष्य अपनी साधना में उचित से आँख नहीं चुरा सकता। चुराता भी है तो इसका भी औचित्य जाँचने लग जाता है।

त्रिवर्ग में धर्म की बात औचित्य ही की बात है। और यों हम यह भी देख सकते हैं कि धर्म, अर्थ, काम की त्रिसूत्री में धर्म का प्राधान्य कैसे बनता है।

एक प्रश्न की अनी यहाँ सता सकती है। क्या औचित्य मात्र की ही बात धर्म की बात है? क्या विभिन्न पुरुषार्थों का अपना-अपना भिन्न औचित्य नहीं है? क्या अर्थ और काम का अपना अपना औचित्य नहीं है? और बात को यहीं तक सीमित क्यों रखा जाए? मनुष्य की वृत्ति-मात्र की बात की जा सकती है। मनुष्य की वृत्तियों को अगर हम भाव, कर्म और ज्ञान, इस त्रिवर्ग में रखें तो थोड़ा विचार करने पर ही उभर आएगा कि भाव, कर्म और ज्ञान इन तीनों का 'एक' औचित्य नहीं हो सकता। इन की भिन्न दिशायें हैं तो अपने भिन्न-भिन्न औचित्य हैं। और फिर भाव, कर्म और ज्ञान इन तीन ही वृत्तियों की बात क्यों? और वृत्तियाँ क्यों नहीं? जैसे अध्यात्म? हम धर्म-अर्थ-काम के संदर्भ में बात कर रहे हैं तो यह भी प्रश्न उठता है कि इन 'पुरुषार्थों' का वृत्तियों से सम्बन्ध क्या? क्या धर्म-अर्थ-काम, ये कर्म को ही परिभाषित करते हैं? पर काम का व्यापक अर्थ लें तो काम का सभी वृत्तियों से सम्बन्ध जान पड़ता है। सभी वृत्तियों में काम या कामना का स्थान है—जैसा पहले की चर्चा में आ भी चुका है। अर्थ का वृत्तियों से क्या सम्बन्ध है? काम को हम वृत्तियों के साथ जोड़ भी सकते हैं। अर्थ को कैसे जोड़ेंगे? वृत्तियों का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्ति से है, उसकी एषणा-साधना से है। चाह से। प्रेरणा से। और यों काम से उसका सम्बन्ध बनता दिखता है। पर अर्थ तो इस गिनती में ही नहीं आता। काम के लिए हम कह भी सकते हैं कि एषणा के स्थूल-सूक्ष्म कई मार्ग हैं या हो सकते हैं और हर मार्ग का अपना अलग औचित्य-विचार होना भी सहज है। और अगर ऐसा मान लें तो इन वृत्तियों के अपने साध्य अर्थ की (पुरुषार्थ के अर्थ में 'अर्थ' की) बात भी कर सकते हैं। पर धर्म-अर्थ-काम इन तीनों में 'अर्थ' को वृत्ति नहीं कह सकते। फिर उसकी यहां संगति क्या? वृत्तियों से सम्बन्ध क्या? फिर—अगर भिन्न वृत्तियों के भिन्न पुरुषार्थ हैं—तो पुरुषार्थ तीन ही क्यों? जितनी वृत्तियां उतने पुरुषार्थ होने चाहियें। पर पुरुषार्थ तीन ही—या मोक्ष को मिला कर चार ही—रखने में जो समस्या है उसकी यहाँ चर्चा नहीं करूँगा। अभी जो प्रश्न उठाये हैं उनको भी यहाँ प्रश्न ही रहने दूँगा। पर उनको मन में रखते हुए भी अपनी बात आगे बढ़ाने के लिए समाधान के रास्ते पुरुषार्थ के त्रित्व के पक्ष में एक युक्ति देता हूँ। धर्म का सम्बन्ध कर्म से है। मनुष्य के एक-दूसरे के प्रति किए गए कर्म से, चाहे कर्म व्यष्टि भाव से किया गया हो या समष्टि भाव से। व्यष्टियों और समष्टियों का अन्य व्यष्टियों और समष्टियों के प्रति जो व्यवहार होता है, कर्म होता है, धर्म उसी की इतिकर्त्तव्यता के औचित्य का विधान करता है। धर्मशास्त्रों में धर्म के कुछ और भी इससे भिन्न अर्थ दिख सकते हैं, पर प्रधानता इसी की है और हम कह सकते हैं कि तत्त्वत: भी धर्म का क्षेत्र व्यवहार है : मनुष्य का परस्पर व्यवहार। दूसरे क्षेत्र अगर सचमुच उभरते हों तो व्यवहार के

आनुषंगिक के रूप में देखे जा सकते हैं। जैसे संस्कार-धर्म, जिसकी हम पहले चर्चा कर आए हैं। संस्कार मनुष्य को व्यवहार-योग्य मनुष्य बनाता है। दूसरे जो धर्म हैं, जैसे आगम धर्म हैं, उनका सम्बन्ध मोक्ष या मोक्ष-सदृश भक्ति से है। वे धर्म, अर्थ, काम की त्रिपुटी से बाहर हैं। उनका औचित्य-मार्ग भिन्न है। व्यवहार से जुड़े हुए कर्म के जिस औचित्य का हम धर्म की धारणा के सहारे विचार और विधान करते हैं अर्थ और काम उस कर्म-भूमि की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। उस कर्मभूमि का निर्माण करते हैं। यों धर्म, अर्थ, काम एक ही औचित्य-सूत्र में बंधे देखे जा सकते हैं। इतिकर्त्तव्यता के औचित्य सूत्र से। अर्थ वह व्यवस्था है जो समाज को चलाती चलती है, जिस व्यवस्था के भीतर मनुष्य कर्मशील होता है। राजनीति या राजधर्म, कानून (जिसे धर्मशास्त्रों में व्यवहार-धर्म कहा गया है) और वार्ता (जिसे आज हिन्दी में अर्थ और अंग्रेज़ी में 'इकॉनोमी' कहा जाता है) ये सभी पुराने 'अर्थ' शब्द के संकेत में आ जाते हैं। त्रिवर्ग में काम का अर्थ कैसे लिया जाए यह प्रश्न हो सकता है। इस प्रसंग में उसे धर्म-अविरुद्ध काम के अर्थ में ही लेना ठीक होगा—चाहे काम वहीं तक सीमित नहीं। अपने और अपनों के लिए सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और व्यवहार में लब्ध ऐसी ही अन्य सम्पदा की इच्छा काम है। मर्यादा मानते हुए कामशास्त्र का काम भी इसमें आ जाता है।

पर अगर हम वासना की धारणा को समझने बैठे हैं तो एक बात का सूत्र फिर भी यहाँ पकड़ना ही पड़ेगा। वासना को हमने त्रिवर्ग से ही नहीं, श्रेयस् और प्रेयस् इन दोनों से भी जोड़ा है। पर प्रेयस् धर्म-अविरुद्ध काम तक सीमित नहीं होता। जब हमने यह कहा कि वासना धर्म-अर्थ-काम इस त्रिपुटी से जुड़ी है, या दूसरे शब्दों में मनुष्य का स्वभाव ही इन तीनों की एक परस्पर-विद्ध त्रिसूत्री बनाए रखता है तो यहाँ वासना के इस परिप्रेक्ष्य में हम काम को धर्म से यटुगनद्ध रख रहे हैं। पर काम की भूमि को धर्म से 'बंधा' हुआ कहना भी स्पष्ट ही उचित नहीं लगता। काम का अपना अलग स्वतन्त्र साम्राज्य भी है ही।

बात धुँधली, गडमड, व्यामिश्र सी लग सकती है। कुछ और खोलना चाहता हूँ। सच पूछिए तो पुरुषार्थ के बीज दो ही हैं : धर्म और काम। इसी को श्रेयस् और प्रेयस् कह सकते हैं। त्रिवर्ग की मध्यम कोटि, अर्थ सचमुच ही बीच की कोटि है। वाहन है, साधन है, धर्म और काम को मनुष्य-लोक में परिसर देता है—या यों कहिए कि उनके व्यापार को 'रहने' की व्यवस्था देता है ; घर देता है। पर घर देते हुए वह काम के अपने 'साम्राज्य' को संयमित-नियमित—दूसरे शब्दों में *मर्यादित* —भी करता रहता है। या यों कहें कि काम की उच्छृंखलता को लगाम देता है—क्योंकि हमारी इच्छायें व्यवस्थित नहीं होतीं, अपनी अलग दुनिया बनाती हैं जो हम पर हावी भी होती है। हमारा कथा-लोक ही इसका प्रमाण है।

यह ठीक है। पर मनुष्य में काम जिस परिसर में रूप लेता है वह परिसर, जिसे व्यापक भाव से 'अर्थ' कहा जा सकता है, वह परिसर धर्म से भी युगनद्ध होता है। उस परिसर के माध्यम से काम का भी धर्म से संश्लेष रहता है। हम उस परिसर में पलते, बड़े होते हैं तो संस्कार और शिक्षा के माध्यम से हममें उसका मर्यादा-बोध हमारी इच्छाओं को दिशा देता रहता है। इच्छा बँधती नहीं, उसका स्वतन्त्र संसार होता है, जो सर्वथा अमर्यादित, उच्छृंखल भी होता ही है, पर जैसा कि कह भी आया हूं, प्रेयस् क्या है? काम्य क्या है? हमारा यह बोध ही हमारे व्यवहार-लोक में पलता है। मनुष्य की इच्छा को मनुष्य की 'रहनी', मनुष्य के व्यवहार से विच्छिन्न कर के नहीं देखा जा सकता। या इसी बात को यों कह सकते हैं कि हमारा काम धर्म-अर्थ-काम की त्रिपुटी के भीतर ही उठता है। कथा-लोक इसका भी प्रमाण है।

अब हम यहाँ धर्म, अर्थ, काम को जिस सन्दर्भ में देख रहे हैं वह मनुष्य के 'व्यवहार' का सन्दर्भ है—वहीं धर्म-अर्थ-काम की त्रिपुटी एक त्रिवर्ग-संवलित मर्यादा साधती चलती है। पर 'धर्म' और 'काम' को 'औचित्य' और 'इच्छा' के स्वाधीन और व्यापकतर व्यापार के रूप में भी ले ही सकते हैं। इन्हें इस अर्थ में लें तो दिख जाता है कि 'इच्छा' व्यवहार तक सीमित नहीं होती—चाहे व्यवहार में ही उठती हो, और व्यवहार से 'प्रभावित-मर्यादित' भी होती हो। पर यों देखें तो फिर एक और बात भी आगे आती है। एक ओर इच्छा का जहां अपना 'स्वतन्त्र', यादृच्छिक सा संसार उभरता जान पड़ता है, वहीं दूसरी ओर उसका औचित्य से भी सम्बन्ध उभरता है। 'ज्ञान-काम' या 'विचार-काम' या 'रचना-काम', ऐसे प्रयोगों को लीजिये। ये 'इच्छाएं' भी व्यवहार-लोक में उठती हैं हालांकि व्यवहार के मर्यादित परिसर से बँधी नहीं रहतीं। पर ये साधारण इच्छाओं से भिन्न प्रकार की इच्छाएं हैं, ये यादृच्छिक नहीं होतीं, न ये 'इच्छा के लिए इच्छा' होती हैं, ये अपने से परे कुछ साधना चाहती हैं, और इनकी साधना के मर्म में ही औचित्य की साधना समाई रहती है। यों समाई रहती है कि वह औचित्य कोई बाहर से थोपा गया विधान नहीं होता, न कोई ऐसा बाहर का, इन क्षेत्रों के लिए प्रामाणिक, विधान हो सकता है कि ज्ञान, रचना, विचार ऐसे न हों कि समाज और व्यवहार-लोक को 'क्षति' न पहुँचे। ऐसा सीमित औचित्य तो धर्म, अर्थ, काम के विशेष रूपों से बँधे 'व्यवहार' की किसी 'मर्यादा' को पूर्वगृहीत करेगा—जैसा कि धर्म-अर्थ-काम की पारम्परिक त्रिपुटी में द्योतित रहा भी है। पर हमारी हर साध, हर साधना का एक अंतरंग औचित्य भी होता है—या एक नहीं अनेक होते हैं—जो उसकी अपनी गति को तोलते, परखते, मर्यादा देते चलते हैं। हर साधना में क्या तुच्छ है, अ-तत् है, निराकरणीय है, इसकी भी परख होती है। ज्ञान क्या नहीं है, चाहे ज्ञान लगता हो, रचना क्या नहीं है चाहे रचना का आभास देती हो, विचार क्या नहीं है चाहे विचार का सा बोध जगा रहा हो, इस परख का अपना अंतरंग औचित्य होता है जो इधर उँगली उठाता दिखाता चलता है।

पर, चलिए, बात को व्यवहार की किसी मर्यादा तक बाँधे रखें तो भी प्रश्न होगा ही कि धर्म और काम का सम्बन्ध क्या हो? काम को कहां तक किसी मर्यादा विशेष में बाँध दिया जाए? प्रश्न के कई तरह से उत्तर दिए जा सकते हैं और दिए गए हैं। आम तौर पर धर्म के (मर्यादा के) पलड़े को ही भारी रखा जाता है। हर परम्परा ऐसा करती लगती है। एक गम्भीर प्रधान-गौण भाव इस सम्बन्ध में विमर्श और विधान दोनों में रहता है जो धर्म को ही प्रधान रखता है।

पर परम धर्म के रूप में आनृशंस्य की धारणा काम के पलड़े को भी भारी रखती है, इस उदार प्रज्ञा के साथ कि मनुष्य का स्वभाव ही काम की भूमि पर टिका हुआ है और यह भूमि कोई आसुरी भूमि नहीं है, न शत्रु-देश की भूमि ही है। परम धर्म को आनृशंस्य कहना जिस प्रज्ञा की प्रसूति है वह प्रज्ञा 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न को किसी अटल, ध्रुव या शाश्वत तत्त्व विशेष से या मर्यादा विशेष से नहीं बाँध देती। काम के भी भीतर एक अंतरंग औचित्य उभरता देखती है और उससे धर्म को पकड़ना चाहती है। धर्म को एक विशेष-से-अछूता नितांत सामान्य तत्त्व भी नहीं बना देना चाहती। पग-पग पर परिस्थिति परिस्थिति में 'यहां आनृशंस्य क्या हो?' यह तोलती चलती है। तोलते हुए मनुष्य के धर्म-और-काम-मय युगल स्वभाव का ध्यान रखती है। और यहीं वासना की धारणा आनृशंस्य को समझने में काम आ सकती है। आनृशंस्य अगर परम धर्म होते हुए भी किसी नित्य परमार्थ में स्थित नहीं है, और यों व्यवहार से विलग स्थिर तत्त्व नहीं है तो उसमें एक गति होनी चाहिए। ऐसी गति जो मनुष्य के साधारण बदलते व्यवहार के साथ-साथ डग भर सके। मनुष्य क्या है? उसका व्यवहार क्या है? क्या हो? व्यवहार में वह क्या साधता है? वासना में हमें इन प्रश्नों का एक शिथिल सा, ध्वनिमय सा, अस्पष्ट और इसीलिए गतिशील सा रूप उभरता दिखता है। रूप अस्पष्ट ही नहीं बड़ा जटिल सा भी उभरता लगता है। पर इस रूप में मनुष्य प्रवृत्ति-प्रधान, व्यवहार-प्रधान, दूसरों के साथ कई परस्पर भावों में संश्लिष्ट प्राणी के रूप में सामने आता है। आनृशंस्य को वासना की प्रज्ञा-दृष्टि कह सकते हैं। 'कब क्या 'धर्म्य' है', इसकी परख में, निर्णय में, अध्यवसाय को यह दृष्टि वासना-बोध की प्रेरणा देती है। कहना न होगा, आनृशंस्य के ऐसे चरिष्णु, मनुष्य-भाव-निहित रूप को कथा-धर्मी विमर्श ही प्राण दे सकता है।

यही हम **महाभारत** के उदाहरणों से देखेंगे।

पर उदाहरणों में प्रवेश करने से पहले आनृशंस्य का एक और पक्ष आगे लाना चाहता हूँ। हमने देखा था कि **महाभारत** में एक और परम धर्म की चर्चा है : अहिंसा परमो धर्मः। आनृशंस्य का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ लोग, जिन्होंने आनृशंस्य की ओर ध्यान दिया है वे इसे अहिंसा का ही रूपभेद या नामभेद कह देते दिखते हैं। पर मैं समझता हूँ कि अहिंसा से आनृशंस्य का सम्बन्ध गहरा होते हुए भी दोनों का भेद भी कम गहरा नहीं है।

पहली बात तो यह है कि हमारे चिन्तन में अहिंसा का सम्बन्ध निवृत्ति के साथ जुड़ा है, प्रवृत्ति के साथ नहीं। अहिंसा संन्यासी, मुमुक्षु का धर्म है, गृहस्थ का, व्यवहारी का धर्म नहीं। उसका सम्बन्ध त्रिवर्ग से नहीं, चौथे वर्ग मोक्ष से है। वर्तमान युग में गाँधी जी ने अहिंसा के अर्थ को विस्तार दिया है, व्यवहार और त्रिवर्ग के साथ जोड़ा है। वे उसे समाज-नीति, राजनीति में उतार लाए। **महाभारत** का आनृशंस्य भी अपनी तरह से यही करता है। अहिंसा को मोक्ष की–या निवृत्ति की–परिधि से निकाल कर प्रवृत्ति की, व्यवहार की भूमि पर ले आता है। पर **महाभारत** देखें तो यह भी प्रकट है कि गाँधी जी की अहिंसा में और **महाभारत** के आनृशंस्य में अन्तर है। तुलना में गहरे पैठने की यहाँ चेष्टा नहीं करूँगा। पर एक बात कह दूँ : **महाभारत** के आनृशंस्य में हिंसा या युद्ध से सर्वथा विरति की बात नहीं आती। उसे मनुष्य की वासना में 'स्वाभाविक'-सा मान लिया जाता है। अभी तक किसी जिज्ञासु ने गाँधी जी और **महाभारत** के बीच आनृशंस्य की दृष्टि से साम्य-वैषम्य पर विचार नहीं किया है। शायद यह प्रश्न ही नहीं उठा है। पर प्रश्न उठा कर विचार किया जाए तो जिज्ञासा का अच्छा विषय हो सकता है।

पर **महाभारत** में अहिंसा के साथ आनृशंस्य के सम्बन्ध पर आता हूं। इस संदर्भ में एक बात अहिंसा के विषय में स्पष्ट है। निवृत्ति के साथ जुड़ी होने के कारण अहिंसा की पुरानी धारणा के स्वरूप में ही एक बड़ा 'नेति' का भाव निहित दिखता है। अहिंसा कहती है कि जीव-हत्या न करो। पर क्यों न करो? इसका उत्तर है कि जीव-हत्या मोक्ष के मार्ग में बाधक है। मुनियों की पुरानी कहानियों में–जो **महाभारत** में भी बहुत आई हैं–उनमें हम पाते हैं कि अहिंसा का साधक मुनी जीव-हत्या से विरत होता हुआ मनुष्यों का संग भी त्याग देता है, वन में स्वत: वृक्षों से झड़ कर गिरे फल खाता है, 'पर्णभुक्' हो जाता है और अन्त में वायुभुक् हो जाता है–हवा पर जीता है। अहिंसा उसे सर्वथा नि:संग कर देती है। केवली।

पर जीव के प्रति यह अहिंस्र भाव यों नेति-निष्ठ और जीव-विमुख न होकर जीव-उन्मुख, जीवन में प्रवृत्त भी हो सकता है। प्राण के प्रति श्रद्धा प्राण के अभ्युदय की कामना का भी आधार बन सकती है। यही आनृशंस्य की प्रेरणा है। पर प्राण के अभ्युदय की कामना को एक विचित्र ग्रंथि का सामना करना ही पड़ता है। प्राणियों में तारतम्य है। और तारतम्य ही नहीं, प्राण प्राण पर जीता है–'जीवो जीवस्य भोजनम्'। इसीलिए अहिंसक मुनि वायुभुक् हो जाना चाहता है। पर जीवन का साधक क्या करे? आनृशंस्य इसी के समाधान के लिए रास्ता बनाता है।

एक समाधान तो आनृशंस्य शब्द में ही निहित है–नृशंसता का निषेध। 'नृशंसता' का अर्थ सामान्य भाव से 'क्रूरता' लिया जा सकता है। तो 'आनृशंस्य' होगा 'अक्रौर्य'। पर 'नृशंस्य' शब्द में 'नृ' समाया हुआ है–अर्थात् 'नर' या 'पुरुष', 'मनुष्य'। संकेत यही उभरता है : 'मनुष्य' के प्रति 'अक्रौर्य'। अक्रौर्य के सामान्य

अर्थ में मनुष्य के विशेष स्थान की ध्वनि 'आनृशंस्य' में स्पष्ट है। शब्दार्थ के अनुसार 'आनृशंस्य' का तात्पर्य ठहरता है : 'अक्रौर्य, विशेष कर मनुष्य के प्रति'। इसे चाहें तो एक प्रकार के मानवतावाद के रूप में भी समझ सकते हैं। यह आधुनिक ध्वनि भी उस प्राचीन शब्द में है।

पर मनुष्य को यों विशेष स्थान देने के भाव में जीव या प्राण के प्रति एक तारतम्य दृष्टि की सूचना भी है, जिसमें 'जीवो जीवस्य भोजनम्' की स्वीकृति झलकती लगती है, यह इंगित झलकता है कि मनुष्य के लिए अन्य जीवों पर क्रौर्य वरणीय न हो, पर परिस्थिति से समझौते के रूप में, धर्म-संकट से निकलने के एक मार्ग के रूप में, वह स्वीकार्य है। तात्पर्य यह है कि प्राणों का अभ्युदय मनुष्य का अभ्युदय है। या यों कहें कि मनुष्य की प्रधानता को ऊह्य रखता है।

शब्दार्थ पर ही जायें तो आप कह सकते हैं कि 'अहिंसा' शब्द की तरह 'आनृशंस्य' का भी अर्थ निषेध-परक ही है : किसी भाव को नहीं, अभाव को ही समोए है—क्रौर्य का अभाव—पर इसमें किसी भाव का प्रसार नहीं। फिर उसका अभ्युदय से सम्बन्ध कहाँ से आता है?

शब्दों के अर्थ केवल व्युत्पत्ति से नहीं बनते, प्रयोग से उभरते हैं। हम आनृशंस्य के प्रयोगों को देखेंगे तो यह बात खुल कर सामने आएगी। **महाभारत** के चरित्र भी यहाँ अवधेय हैं, और मैं विशेषकर कृष्ण का नाम लूँगा, हालांकि युधिष्ठिर को भी गिनाया जा सकता है : आनृशंस्य का परम धर्म के रूप में प्रतिपादन उन्हीं के मुख से हुआ है—ये चरित्र आनृशंस्य शब्द का प्रयोग ही नहीं करते उसे जीवन में ढालने का प्रयास करते भी हैं। दूसरे के प्रति अपनी प्रवृत्ति का, कर्म का, आधार बनाते हैं।

यहां वासना की धारणा आनृशंस्य के मर्म में उतरने की सीढ़ी बन सकती है। कहना न होगा कि **महाभारत** में, 'वासना', इस प्रत्यय का कोई प्रयोग नहीं है, पर समझने के काम में हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। जिस प्राणी का, मनुष्य का, अभ्युदय साधना है, या जिसे कर्म-दृष्टि में रखना है, उसका स्वभाव, उसकी इच्छा, कामना, श्रेयस्-प्रेयस् में विचित्र भाव से युगनद्ध प्रवृत्ति जाने बिना उसका अभ्युदय कैसे साधा जा सकता है? हम यह भी मान लें कि मनुष्य का एक सामान्य स्वभाव-चरित अनुमान के ही आधार पर आँका जा सकता है, तो भी उभरता रहेगा कि मनुष्य के साथ उस सामान्य में विशेष—व्यक्ति-भेद भी गहरे गुँथा होता है। वासना का सम्बन्ध मनुष्य के रूप में हमारी सहज प्रवृत्ति से है, तो उसके सामान्य में विशेष भी बसा हुआ है। जिसका अभ्युदय ध्यान में है उसका स्वरूप भी तो ध्यान में रहना चाहिए! यह स्वभाव, यह स्वरूप, जटिल होता है; इसमें सिद्ध-साध्य का विचित्र मेल होता है—इसे अनुमान या तर्क से नाप तोल कर इसका पक्का लेखा-जोखा नहीं लिया जा सकता। यह जटिल ही नहीं विरोधी सूत्रों के गुंफ से बना होता है—विपरीत

दिशाओं में एक साथ चलना चाहता है। इन सारी सीमाओं को, बल्कि यों कहना चाहिए कि इस सारे बिखराव को ध्यान में रखते हुए भी मनुष्य का एक स्वभाव-चित्र हमारे ध्यान में रहता है। वासना उसी धुन्ध को समेट कर रूप देती हुई धारणा है जिसमें हमें मनुष्य की एक झाँई दिखाई देती है। जिसका हम वासना ही के भीतर से परिष्कार भी करते चलते हैं।

पीछे हमने देखा कि वासना के प्रत्यय का कहीं परोक्ष-प्रच्छन्न प्रकाश है तो कथा-साहित्य में है। अब आइए देखते हैं कि कथा के गर्भ में ही महाभारतकार ने वासना को प्रच्छन्न भाव से समोते हुए इस रास्ते आनृशंस्य को प्रकट करने का कैसा प्रयोग किया है। किस-किस तरह से प्रयोग किया है।

जिस आख्यान में यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं 'परम धर्म क्या है?' और युधिष्ठिर इस प्रश्न के उत्तर में 'आनृशंस्यः परो धर्मः' कहते हैं, वहीं हमें आनृशंस्य का एक छोटा सा उदाहरण भी मिल जाता है।

युधिष्ठिर के उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष कहता है 'तुम जानकार हो। अच्छे उत्तर दिए। चलो, अपने किसी एक भाई के प्राण वापस ले लो'। युधिष्ठिर कहते हैं, 'माद्री-पुत्र नकुल को जिला दो'। यक्ष कहता है कि 'वह तुम्हारे किस काम आएगा? तुम्हारा सगा भाई भी नहीं है। अर्जुन या भीम को लो, दोनों में से एक भी तुम्हें बड़ी से बड़ी प्रभुता दिला सकता है।' पर युधिष्ठिर अपनी बात पर अड़े रहते हैं। कहते हैं उन्हें नकुल ही चाहिए, क्योंकि वे आनृशंस्य को धर्म का परमार्थ मानते हैं, और अपना स्वधर्म मानते हैं, अपने धर्म से वे डिगना नहीं चाहते : *''आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थच्च मे मतम्। आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ धर्मशील सदा राजा इति मां मानवा विदुः। स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥''* माद्री का वंश चलना चाहिए। कुन्ती ने माद्री को वचन दिया था कि उसके पुत्रों की रक्षा करेंगी। वचन को भुलाया नहीं जा सकता। और युधिष्ठिर कहते हैं कि उनके लिए कुन्ती और माद्री बराबर हैं। इस उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष, जो स्वयं धर्म ही थे, सभी भाइयों को जिला देते हैं।

यह उत्तर आनृशंस्य का उत्तर था। युधिष्ठिर उसे अपना स्वधर्म कहते ही हैं। क्या था उसका यहाँ रूप? एक तो देखने की बात यह है कि युधिष्ठिर ने 'परस्थ'—या परार्थ-भाव में स्थित होकर उत्तर दिया था। माद्री जीवित नहीं थी पर उसके लिए क्या करना चाहिए यह युधिष्ठिर के मन में सप्राण था। माद्री होती तो यही चाहती कि उसका भी वंश चले। पुत्रैषणा एक मानव-सुलभ एषणा है—या कम से कम उस समाज में, उस आवह में थी जिसमें युधिष्ठिर ने यह उत्तर दिया था। इस उत्तर के परार्थ-भाव में इस एषणा का बोध, इसकी स्वीकृति, उनकी धर्मप्रज्ञा में स्पंदित थी। इसी धर्म-प्रज्ञा को उन्होंने आनृशंस्य का नाम दिया।

यहाँ परखने की एक बात यह भी है कि युधिष्ठिर ने जो परार्थ-भाव दिखाया उसे 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की कोटि में भी ठीक ठीक नहीं रखा जा सकता। आत्मवत् की धारणा में अपने आप को, अपनी इच्छा, एषणा, कामना, पुरुषार्थ, इनको कसौटी मान कर पर की ओर उन्मुख होने का उपदेश है। इसे सही-सही परार्थ नहीं कहा जा सकता। कहें भी तो स्वार्थ-भाव में स्थित परार्थ-भाव ही कहा जा सकता है। युधिष्ठिर का परार्थ-भाव ऐसा नहीं था। युधिष्ठिर के स्वभाव में वंश-रक्षा जैसी एषणा थी भी तो गौण ही थी। वे अपनी एषणा के आधार पर माद्री की एषणा को नहीं तोल रहे थे। वे धर्म-प्राण थे, इतिकर्त्तव्यता के औचित्य को तोलना चाह रहे थे। औचित्य को उन्होंने अपनी एषणा से नहीं, माद्री की एषणा से तोला। और माद्री की एषणा क्या हो सकती है, या ऐसी अवस्था में किसी भी पर की एषणा को कैसे तोला जा सकता है—इसकी कसौटी हमें वासना ही देती है। युधिष्ठिर ने अपने अन्दर झाँक कर नहीं, बल्कि जिसे हमने वासना कहा है उसे अनकहे ही ध्यान में रखते हुए औचित्य का निर्णय किया। वासना परार्थ भाव की साधना में सहायक हुई—यह इंगित देते हुए कि मनुष्य स्वभाव से क्या चाह सकता है—और इस परिस्थिति में जिसे ध्यान में रखना है वह क्या चाह सकता है?

दूसरे, परम धर्म में 'परम' 'परमार्थ' का भी सूचक है। धर्म का ध्रुव, अडिग परमार्थ। जिसमें व्यवहार का लचीलापन नहीं होता, व्यवहार की विभिन्न अवस्थाओं के सूक्ष्म पर तात्त्विक भेदों में विवेक करने की दृष्टि नहीं होती। यह दृष्टि आनृशंस्य की धारणा में निहित है। आनृशंस्य परम धर्म होते हुए भी, **महाभारत** के ही शब्दों में कहें तो यह भी भाँपने की प्रेरणा रखता है कि 'ऐसा भी कभी होता है जब धर्म अधर्म होता है और अधर्म धर्म'। अर्थात् धर्म और अधर्म का भेद किसी अटल रेखा से नहीं आँका जा सकता क्योंकि धर्म कोई *सामान्य* तत्त्व मात्र नहीं है, परिस्थिति *विशेष* के प्रति भी सजग रहता है।

एक और कहानी लीजिए। कहानी के नायक कृष्ण हैं और उन्हीं की आनृशंस्य धारणा यहाँ प्रकट होती है। युधिष्ठिर के आनृशंस्य से इसमें एक भेद है, व्यवहार-दृष्टि के साथ धर्म-दृष्टि की भी गहराई है। कहानी प्रसिद्ध है, आप भी इससे परिचित होंगे। पर अपनी विवेचना के लिए दोहराता हूँ। कर्ण-पर्व की घटना है। युधिष्ठिर अर्जुन पर कुपित हैं। कर्ण से उनका युद्ध हुआ था जिसमें वे बुरी तरह हार कर घायल हो गए थे। बस कर्ण ने उनके प्राण नहीं लिए। क्रोध में, कुंठा में, वे अर्जुन को तीखी बातें कहते हैं : 'क्या हुआ तुम्हें? बातें तो बहुत करते थे पर कर्ण का कुछ बिगाड़ नहीं सके। तुम से तो भीम अच्छा है। तुमसे नहीं लड़ा जाता तो अपना गांडीव कृष्ण को दे दो, ये कर्ण को देख लेंगे।' सुनते ही अर्जुन खौल उठे। तलवार उठाई और युधिष्ठिर की ओर लपके। कृष्ण हँस पड़े—यह क्या? तलवार क्यों उठा ली? यहाँ कौन है जिससे लड़ोगे? तुम तो युधिष्ठिर से मिलने आए थे, वे तो अब ठीक ही हैं। तुम्हें

तो प्रसन्न होना चाहिए, रोष क्यों? अर्जुन क्रोध में काँपते हुए बोले कि उन्होंने मन ही मन एक प्रतिज्ञा की थी कि कोई मुझसे अगर कहेगा कि गांडीव किसी और को दे दो तो मैं उसका सिर काट गिराऊँगा। मैं धर्म से डरने वाले इन राजा को छोड़ नहीं सकता। इनको मारूँगा, वचन पूरा करूँगा। सत्य का ऋण चुकाऊँगा। पर तुम कहो मुझे क्या करना चाहिए। तुम जानकार हो, तुम्हारा कहा करूँगा।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—अर्जुन, तुमने बड़े बूढ़ों की सेवा नहीं की इसलिए धर्म के विभाग का ज्ञान तुम्हें नहीं है। तुम धर्मों का तारतम्य नहीं समझते। कब कौन-सा धर्म धर्म है इसका तुम्हें बोध नहीं है।

यों धर्म-विभाग की धारणा को उठाते हुए कृष्ण एक और तत्त्व सामने रखते हैं जो धर्म-विभाग का, कौन-सा धर्म कब उचित है इस विवेक का, आधार बन सकता है। वे कहते हैं कि मेरे लिए सबसे बड़ी बात प्राणियों का अवध है : *"प्राणिनाम् अवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।"* चाहे झूठ भी बोलना भी पड़ जाए, पर हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए : *"अनृतं तु भवेद्वाच्यं न च हिंस्यात्कथंचन।"* फिर युधिष्ठिर तुम्हारे बड़े भाई हैं, तुमसे युद्ध नहीं कर रहे हैं, उनका वध तुम कैसे करोगे? यों अर्जुन को अपनी तरह से अ-नृशंस भाव की महिमा बताते हुए अहंकार से हठात् जागे क्रोध को धर्म, शील, औचित्य के दूसरे संस्कार जगा कर शान्त करते हुए कृष्ण कहते हैं कि तुमने कभी बचपन की नासमझी में कोई प्रतिज्ञा-वचन मन में ठान भी लिया तो उसका अब इस परिस्थिति में पालन करना मूर्खता होगी। अधर्म होगा। धर्म-विभाग की बात को बढ़ाते हुए फिर कृष्ण कहते हैं कि धर्म एक नहीं अनेक हैं और धर्मों की गति सूक्ष्म होती है, असंप्रधार्य होती है—कौन सा धर्म कब बरता जाए, यह पकड़ में नहीं आता। सत्य ही की बात को लो। सत्य बोलना अच्छी बात है, सत्य से बड़ा धर्म नहीं। पर तत्त्व की दृष्टि से यह जानना कठिन है कि किसने सत्य का उचित अनुष्ठान किया। क्योंकि कभी ऐसा भी होता है कि सत्य बोलना अनुचित होता है, झूठ ही उचित होता है।

फिर कृष्ण लोक-व्यवहार से कुछ ऐसी सामान्य परिस्थितियों का उदाहरण देते हैं जब झूठ बोलना अनुचित नहीं : जब सब कुछ लुट रहा हो, प्राण का संकट हो, विवाद की बात हो, आदि। विवाद को इस गिनती में क्यों रखा है समझ में नहीं आया, पर अभिप्राय यही जान पड़ता है कि सत्य अपने आप में परम नहीं, उसके बोले या न बोले जाने से जो सम्पूर्ण परिस्थिति बनती है उस परिस्थिति के श्रेयस् को ध्यान में रख कर ही सत्य का औचित्य तोला जा सकता है। और कृष्ण की दृष्टि में पूरी परिस्थिति के श्रेयस् का तोल अ-वध और प्रभव से करना चाहिए—दूसरे शब्दों में, आनृशंस्य से—प्राण या जीवन के अभ्युदय से। कृष्ण यहां आनृशंस्य शब्द का प्रयोग नहीं करते, पर अवध—अहिंसा—और प्रभव—अभ्युदय—ये दोनों मिल कर आनृशंस्य को ही प्रकाशित करते हैं।

कृष्ण अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दो उपाख्यान सुनाते हैं। दोनों का आशय प्राण-रक्षा को श्रेष्ठ बताना है। पहली कहानी में इतना दम नहीं। यहां स्वातन्त्र्य से किए गए किसी 'कर्म' की बात या परीक्षा नहीं की गई है। अनजाने, अनचाहे ही प्राणों की रक्षा के अनुकूल एक घटना घट जाती है–उसको श्रेयस् कह दिया गया है। बलाक नाम का एक व्याध था जो न चाहते हुए भी कुटुम्ब पालन के निमित्त शिकार किया करता था। अंधे माता-पिता और स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण करता था। एक दिन उसे कोई आखेट-योग्य पशु नहीं मिला। उसने पानी पीते हुए एक प्राणी को देखा जो नाक से ही आँखों का काम लेता था। ऐसा प्राणी उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसी का व्याध ने शिकार किया। उस प्राणी के मरते ही आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। देवता जय-जयकार करने लगे। वह प्राणी एक ऐसा जीव था जिसने तपस्या से यह सिद्धि चाही कि वह जीव मात्र को संसार से मिटा सके। ब्रह्मा ने उसे तपस्या का फल तो दिया, पर साथ ही अंधा कर दिया। उसे मार कर व्याध ने जीव मात्र का उपकार किया। चाहे संयोग से ही सही, धर्म किया। वह स्वर्ग को प्राप्त हुआ। कृष्ण कहते हैं कि यों धर्म की गति दुर्ज्ञेय है।

दूसरी कहानी सत्य के औचित्य की है। कौशिक नाम का एक तपस्वी था। गाँव से दूर नदियों के संगम पर रहता था। उसका प्रण था कि मैं सत्य ही बोलूँगा। सत्यवादी कहलाता भी था। एक दिन कुछ लोग उसी वन में आ छुपे जहाँ वह रहता था। उनके पीछे दस्यु थे। उनको मारने के लिए उन्हें ढूँढते हुए आए तो कौशिक को देखा। उन्होंने कौशिक से पूछा, सच सच बताइये हम जिनके पीछे हैं वे लोग कहाँ गए? कौशिक ने वन में उस झुरमुट की ओर इशारा कर दिया जहाँ लोग भाग कर छुपे थे। दस्युओं ने उनका वध कर दिया। कृष्ण कहते हैं कि कौशिक धर्म-विभाग को नहीं समझता था, धर्मों की सूक्ष्म गति की उसे कोई पकड़ नहीं थी। उसे नरक भोगना पड़ा। अपनी धर्म-प्रज्ञा के तत्त्व को कुछ विवरण के रास्ते और खोलते हुए कृष्ण कहते हैं कि धर्म-विभाग के मर्म का ज्ञान ऐसे जानकार ज्ञान-वृद्धों से ही मिल सकता है जो इसका व्यवहार में प्रयोग करते हैं। इसका ब्यौरेवार लक्षण (लक्षणोद्देशः) थोड़ा सा ही दिया जा सकता है, क्योंकि इसका तत्त्व तर्क से पाना दुष्कर है। लक्षण देते हुए वे कहते हैं, "कुछ लोग श्रुति को धर्म कहते हैं : यह मानते हैं कि धर्म का वहाँ विधान कर दिया गया है।" इस मत का कृष्ण विरोध नहीं करते, पर कहते हैं कि धर्म का पूरा विधान किया ही नहीं जा सकता : *"न हि सर्वं विधीयते।"* फिर धर्म क्या है? जो प्राणियों का प्रभव करे वह धर्म है। इसी के लिए धर्म का विधान किया गया है। धर्म धारण करता है, जो प्रजा का धारण करे वह धर्म है।

प्राणियों का प्रभव। यह क्या है, इसमें कृष्ण यहाँ नहीं जाते। पर स्पष्ट ही यह अवध या अहिंसा–जैसी नेति की बात नहीं। न केवल प्राण-रक्षा या प्राण-दान की बात है। इनसे कुछ अधिक ही है। 'प्रभव' शब्द का आशय है 'प्रकट होना' या

'प्रभूत होना'। दोनों का तात्पर्य 'अभ्युदय' की ओर इंगित करता है। धर्म वह है जो प्राणियों का, विशेष कर प्राणियों के सिरमौर मनुष्य का, अभ्युदय करे। उसके जीवन में उन्मेष साधे।

यही आनृशंस्य है। हालांकि कृष्ण ने 'आनृशंस्य' शब्द का यहाँ प्रयोग नहीं किया है, किन्तु 'अवध' का प्रयोग किया है, जिसकी यहां वही व्यंजना उभरती है।

महाभारत की इस कहानी को भी आनृशंस्य की कहानी कह सकते हैं। इस में आनृशंस्य का कोई व्यवस्थित संगत लक्षण न सही पर धारणा के कुछ मर्म के पक्ष उभर कर आते हैं। व्यवस्थित लक्षण और श्रुति की तरह विधान—यह तो कृष्ण के मत में सम्भव ही नहीं हैं। हालांकि धर्म के जो विधान हैं, जिनका श्रुति में प्रवचन किया गया है : सत्य बोलो, हिंसा न करो, आदि, उनका कृष्ण स्पष्ट विरोध भी नहीं करते, यही कहते हैं कि धर्म का पूरा विधान हो नहीं सकता। क्योंकि धर्म एक प्रज्ञा है, जिसका मर्म अगर सीखा जा सकता है तो प्रज्ञाशील वृद्धों से, जिन्होंने इसे प्रयोग में साधा है।

इस कहानी के साथ हम उन कहानियों को भी रख सकते हैं जिनमें भोज या दूसरे न्यायशील राजा किसी झगड़े का न्याय से निबटारा करते दिखाये जाते हैं। इस कहानी की तरह भोज आदि के न्याय की कहानियों में भी हम पूरी बात को तोलते हुए निर्णय देने वाली प्रज्ञा की बानगी पाते हैं, जहाँ निर्णय को किसी एक तत्त्व या विधान—नियम—के घेरे में नहीं बाँधा जा सकता। एक बड़ा अन्तर यह है कि यहाँ इस कहानी में उस प्रज्ञा को धर्म के रूप में सजग विचार के साथ सामने रखा गया है।

यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि अगर *कहानी* न हो तो प्रज्ञा का सही उद्घाटन भी सम्भव न होगा। कृष्ण परिस्थिति को भाँपते हुए, अर्जुन के स्वभाव में झाँकते हुए अपना निर्णय देते हैं।

पर भोज के न्याय की कहानियों की तरह कृष्ण एक 'निर्णय' भी देते हैं। अब तक हमने कृष्ण के धर्म-विचार की बात की, उनके निर्णय की नहीं की। 'निर्णय' पर आता हूं।

कृष्ण की धर्म-विभाग और प्राणियों की प्रभव-कामना की बात सुनकर अर्जुन पूछते हैं, मगर *मैं* क्या करूँ? *मेरे* प्रतिज्ञा-वचन का क्या होगा? युधिष्ठिर तो अवध्य हैं, तुमने ठीक ही कहा, धर्म की अच्छी व्याख्या की, पर मेरे लिए अब क्या रास्ता है? मैंने प्रतिज्ञा की थी, पूरी तो करनी पड़ेगी, चाहे फिर मैं जीव-लोक में रहने लायक न रहूँ, आत्महत्या कर लूँ।

इस पर कृष्ण वैसी ही चतुराई का परिचय देते हैं जैसी भोज आदि की न्याय-कथाओं में मिलती है। कहते हैं, राजा युधिष्ठिर ने रोष में तुमसे कड़वी बातें कह दी थीं। पहले कर्ण से द्यूत में हारे थे, आज रण में हार गए। उनसे सहा नहीं गया इसलिए

तुमसे कुछ कह दिया। उनके भाई उनका सदा सम्मान ही करते हैं, अपमान कभी नहीं करते। तुम आज उनका अपमान कर दो, यही उनके लिए जीते जी मृत्यु के समान होगा। तुम इनसे 'तुम' कह कर बात करो और निंदा-लांछना की बातें कहो। यह धर्म नहीं होगा, पर यह अधर्म करो, इसमें यहां दोष नहीं है। यह अवमानना उनके लिए वध से भी बढ़ कर होगी। युधिष्ठिर भी यह समझते हैं। अपनी बात के लिए यहाँ कृष्ण एक श्रुति प्रमाण भी दे देते हैं—कहते हैं कि यह बात अथर्वांगिरसी श्रुति है, जो श्रुतियों में सबसे बड़ी श्रुति है।

यह श्रुति कौन-सी है, क्या है, पता नहीं। हो सकता है कृष्ण ने अपनी बात मनवाने के लिए श्रुति को भी अपने साथ ले लिया हो। या फिर कोई ऐसी वृद्ध-परम्परा रही हो जिसमें ऐसी प्रज्ञा पली और वह परम्परा अपनी प्रेरणा को किसी अथर्वांगिरस श्रुति से जोड़ती रही हो। यह भी सम्भव है। पर जो भी हो, उनका सुझाया हुआ रास्ता काम कर गया। अर्जुन ने युधिष्ठिर को ऐसी बुरी-भली कही जो उनके मन में रही होगी पर जिसे वे कभी कहते नहीं, अगर यह घटना नहीं घटी होती। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, तुम मेरे लड़ने की बुराई करने वाले कौन? पहले अपनी योग्यता तो देखो? भीम मुझसे कुछ कहें तो कोई बात भी है—तुम कहने वाले कौन? फिर कहा कि तुम केवल बातों के बली हो, युद्ध में कुछ भी नहीं। तुम निष्ठुर हो। मैं स्त्री-पुत्र सहित तुम्हारी सेवा में जुटा रहता हूँ पर तुम मुझे कठोर बातें ही सुनाते रहते हो। और यह लड़ाई भी तुम्हारे ही कारण हुई है, तुम्हीं ने जुआ खेला। तुम्हारे कारण ही हम कष्ट पाते रहे हैं। और अब तुम मुझे झूठा दोष दे रहे हो।

इस समाधान के साथ उपाख्यान पूरा होता है।

कहानी सशक्त है। और जैसा मैंने अभी कहा, कहानी के बिना धर्म के जिस अकथ मर्म की कृष्ण बात कर रहे हैं उसे बिल्कुल भी नहीं खोला जा सकता था। वह खुला है तो कहानी के भीतर से, कहानी के द्वार से खुला है। धर्म के तत्त्व की जैसी बात है, किसी विषम, पर जीती-जागती परस्थिति को आगे रख कर ही कही जा सकती है। व्यवहार-धर्म है, व्यवहार के बीच ही उसकी व्याख्या हो सकती है। और यह भी देखिये कि कहानी परिस्थिति के *विशेष* को पूरी तरह सामने रखती है। उन मानव-सम्बन्धों को, भावों को, एषणाओं को, उनके तनावों को, उनकी श्रेयस्-प्रेयस्-मय सार्थकताओं को, उनकी संगत-विसंगत गतियों को सामने रखती है, जो कोरे विमर्श की भाषा में उजागर नहीं हो सकते। उसके बिना निष्प्राण नीरस हो जायेंगे। स्पष्ट है कि यहाँ कर्म की गति के साथ उपयुक्त भाव-रस जगाये बिना बात ही नहीं खोली जा सकती।

हम यहाँ यह भी कुछ ठोस रूप में देख सकते हैं कि हमने जिसे 'वासना' का नाम दिया है, मानव-स्वभाव, मानव-परिस्थति के बूझ की बुद्धि या प्रज्ञा, वह यहाँ

धर्म-प्रज्ञा की सहायक होती है। उसी को अपनी समझ के गर्भ में रखते हुए कृष्ण धर्म का प्रयोग करते हैं। और उसी के आधार पर महाभारतकार उस प्रयोग को हमारी बुद्धि में उतारते हैं।

कहानी में इतने सूत्रों का गुँथाव है कि इन्हें कई तरह से देखा उभारा जा सकता है। यों कहानी भी एक नहीं। तीन कहानियाँ हैं। व्याध-कथा की हम उपेक्षा भी कर दें–उसमें कर्म नहीं, अनजाने ही कुछ हो जाता है, इसलिए धर्म की बात भी नहीं उठती–तो भी दो कहानियाँ तो हैं ही। मूल कथा अर्जुन की है, कौशिक की कथा मूल कथा में उलझती धर्म की एक गाँठ, एक धर्म- संकट के समाधान की व्याख्या का अंग है।

प्रकट है कि कृष्ण के लिए अर्जुन का धर्म-संकट सचमुच का धर्म-संकट नहीं। मन की झूठी गाँठ है। तुच्छ है। उसका खोखलापन दिखाने के लिए कृष्ण कौशिक की कथा कहते हैं जो सचमुच धर्म-संकट की कथा है, जहाँ कौशिक को धर्म-संकट होना चाहिए था पर होता नहीं है। कौशिक की कथा से धर्म-संकट की स्थिति *हमारे* आगे तो उभरती है, पर कौशिक अपने प्रण से ऐसे बँधे थे कि उनके लिए कोई धर्म-संकट नहीं। लगता है यहां महाभारतकार ने धर्म-संकट और जिसे हम धर्म-संकट का आभास मात्र कह सकते हैं, इनके भेद को भी खरा उभारा है। हम देख सकते हैं कि यह भेद परिस्थिति-गत व्यक्ति के भेद से ही नहीं बनता है उस धर्म-बोध से भी बनता है जो धर्म को एक तत्त्व-विशेष से बाँध कर अन्य धर्मों की–कृष्ण के शब्दों में कहें तो 'धर्म-विभाग' की -उपेक्षा करता है।

पर प्रतिज्ञा यहां कौशिक की ही नहीं है, अर्जुन की भी है। अर्जुन ने मन ही मन एक प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा क्या ठीक थी? उचित थी? स्पष्ट ही गर्व और अहंकार के वश की गई थी। प्रतिज्ञा निभाना कर्त्तव्य होता है। यही सत्य-धर्म का सार है। पर अर्जुन ने जो प्रतिज्ञा की थी क्या उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि वैसी प्रतिज्ञा सब करें, वह सर्व-सामान्य प्रतिज्ञा हो? जो सत्य के रूप में साधारण धर्म कही जा सके? कृष्ण के मत में अर्जुन की प्रतिज्ञा मूर्खता थी, बचपने की बात थी। कहानी पढ़ते हुए हम भी यह देख पाते हैं कि अर्जुन जो युधिष्ठिर पर खौल पड़ते हैं, वह आहत गर्व और अभिमान के क्रोध का ही उफान था। अनुचित भाव का बहाव था, संकल्प की स्थिरता नहीं। प्रतिज्ञा-पूर्ति को कर्त्तव्य बताने की बात तो क्रोध को उचित ठहराने की बात थी। या बहाना था? अर्जुन ने प्रतिज्ञा मन ही मन की थी। उस दिन से पहले किसी से अपनी प्रतिज्ञा की बात नहीं कही थी। शायद मन ही मन उसे ठीक भी नहीं समझते थे। अब हृदय-मन से आहत होकर अचानक उस प्रतिज्ञा की बात उठाई थी। चरित्र अर्जुन का न होता तो मैं यही समझता कि प्रतिज्ञा की बात युधिष्ठिर पर अपने मन की निकालने के लिए की गई थी–पर अर्जुन से ऐसे झूठ की अपेक्षा नहीं की जा सकती। पर प्रतिज्ञा के पीछे अहंकार था, और पूरे आख्यान में उनका आहत

अहंकार ही काम करता दिखता है। कहानी में आगे चल कर जब अर्जुन युधिष्ठिर को बुरा-भला कह कर अपने मन की निकालते हैं तो झलक आता है कि उनके मन में युधिष्ठिर के प्रति कितना आक्रोश था, गहरी शिकायत थी। कृष्ण भाँप गए थे; उन्होंने अर्जुन को मन की भड़ास निकालने का 'उचित' बहाना दे दिया। कृष्ण के लिए अर्जुन का जो संकट था, भाव-संकट था, धर्म-संकट नहीं। और यह बात कहानी में ही उभारी जा सकती थी। इसमें मनुष्य के स्वभाव की पकड़ है। उसकी दोमुँही इच्छाओं की पकड़ है। कौन सी ऊपर की है, कौन सी भीतर की, इसका विवेक है। अर्जुन अगर कुछ कर बैठते तो पछताते, आत्मघात कर लेते—जैसा उन्होंने कहा भी। जो वे करने उठे थे, सचमुच अन्तर्मन से चाह नहीं रहे थे। कभी प्रतिज्ञा कर बैठे थे, पर प्रतिज्ञा करते समय उन्होंने सोचा भी न होगा किपूरी करने की परिस्थिति इस तरह आन पड़ेगी। यह ठीक है कि अर्जुन के लिए गाँठ धर्म की ही थी, पर कृष्ण जब उसके खोखलेपन को देखकर उसे आसानी से खोल देते हैं तो हमें भी दिख जाता है कि संकट धर्म-संकट का *लग रहा* हो, था नहीं। कृष्ण ने श्रेयस्-प्रेयस्, भाव-संकल्प, दोनों को देखते हुए रास्ता निकाला।

कौशिक की कहानी को धर्म-संकट की कहानी कहा गया है। प्रोफेसर मतिलाल द्वारा सम्पादित **'मॉरल डिलेमाज़ इन दि महाभारत'** में एक लेख है जिसमें इस कहानी का धर्म-संकट के रूप में उदाहरण भी दिया गया है। मैं समझता हूँ कहानी धर्म-संकट की है भी और नहीं भी है। धर्म-संकट एक बोध है जो कर्मशील को होता है। हमारी कहानी में अर्जुन को धर्म-संकट होता है : प्रतिज्ञा पूरी करें तो भी औचित्य भंग होगा, न करें तो भी। पर कौशिक को ऐसे किसी संकट कर बोध नहीं होता। उनका सत्य का प्रण था, उसमें वे अडिग रहते हैं। हत्यारों को छुपने वालों का पता बताने में उन्हें कोई हिचक या ग्लानि नहीं होती। पीछे पछताये हों, ऐसी भी कहानी में कोई बात नहीं। शायद उन्हें धर्म-संकट तब होता जब उनका व्रत सत्य का नहीं अहिंसा का होता। क्या तब कौशिक बेहिचक झूठ बोल देते?

हाँ, नरक गए। पर धर्म को अगर अपने आप में पुरुषार्थ माना जाए, यह माना जाए कि धर्म का अपना औचित्य है जिसे पाना, जिसे निभाना हमारी धर्म-साधना है तो फिर उस औचित्य की जाँच स्वर्ग या नरक से, या किसी भी फल से कैसे हो सकती है? हम सोच सकते हैं कि कौशिक यही मानते थे। वे सत्यव्रती थे, उन्होंने सत्य निभाया; फल क्या होगा, अपने लिए या दूसरों के लिए, इसकी परवाह नहीं की। धर्म की एक गहरी दृष्टि धर्म का लक्षण यही बताती है : धर्म को धर्म के लिए ही करना चाहिए, किसी और फल के लिए नहीं : धर्म निष्कारण—अपने किसी प्रयोजन के बिना—करना चाहिए; कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिए, किसी और कारण से नहीं—धर्मः निष्कारणः कर्त्तव्यः। पर कौशिक को धर्म-संकट का बोध न रहा हो,

हमें तो उनकी कहानी में यह बोध होता है; और कहना न होगा, कहानी कृष्ण ने हम जैसों के लिए ही कही है–जिनके लिए अवध सहज ही एक वांछनीय धर्म होता है।

जिनको 'साधारण'–सार्वजनीन–धर्म कहा गया है, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दान...(तालिका कितनी बड़ी होनी चाहिए, इस प्रश्न में यहाँ नहीं जाऊँगा, पर सत्य और अहिंसा को तो परम धर्म कह ही सकते हैं) इन धर्मों का एक लक्षण यह है कि इनकी अपने आप में इतिकर्त्तव्यता है, साध्य के रूप में, किसी और फल के साधन के रूप में नहीं। तभी ये साधारण–सब के लिए अपने आप में करणीय–धर्म हैं।

आनृशंस्य परम धर्म है। साधारण धर्मों का भी निकष। जैसा कि कहानी में उभरता ही है। उसे तो सार्वजनीन और निष्कारण होना ही चाहिए। पर ऊपर की कहानी में कृष्ण का कर्म अगर आनृशंस्य परक है तो क्या उसे फल-कामना-विहीन कर्म कह सकते हैं? कृष्ण की बातों से ही छलकता है कि कर्म से स्वर्ग मिलेगा या नरक वे इस बात के प्रति सजग हैं। पर हम यह भी नहीं कह सकते कि उन्होंने स्वर्ग या नरक जैसे किसी फल की कामना से अपनी धर्म-प्रज्ञा का प्रयोग किया था। फिर भी फल की ओर तो उनकी दृष्टि थी ही–चाहे निःस्वार्थ-भाव से ही थी। प्रभव या अभ्युदय के आदर्श में परिणाम का–फल का–ध्यान तो अनिवार्य ही लगता है। एक 'साधारण' प्रश्न यहां सर उठायेगा ही : धर्म का कर्मफल से क्या सम्बन्ध है? इस लम्बे लेख को लिखते हुए यह प्रश्न कई बार मेरे मन में कौंध गया है। कई जुड़े हुए प्रश्न साथ ही साथ जागते हैं : कर्म का फल किसे कहेंगे? क्या किसी अदृष्ट स्वर्ग या नरक को ही फल कहेंगे, जैसा कि चलन है, या कर्म का कोई दृष्ट फल भी होता है? हम साधारण भाव से कर्म किसी दृष्ट उद्देश्य से ही करते हैं। धर्म का, औचित्य-इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न इसी संदर्भ में जागता है। धर्म-संकट भी यहीं खड़ा होता है। स्वर्ग, नरक की बात भी ऐसे ही कर्मों के लिए की जाती है जिनके करने का औचित्य निरुद्देश्य, निष्कारण होता है, तभी ये पुण्यकर्म कहलाते हैं। इन्हींमें 'साधारण' और 'परम' कहलाने वाले धर्म भी गिने ही जाते हैं। स्वर्ग, नरक जैसे फल 'अदृष्ट' फल कहलाते हैं–उनका फल *यहां* नहीं मिलता। यहां फल अदृष्ट रहता है, परलोक में मिलता है।

कर्म के अदृष्ट फल के बारे में एक और भी प्रसिद्ध दृष्टि है, जिसे निवृत्ति मार्गियों की दृष्टि भी कह सकते हैं, वैसे अपने यहां बड़ी प्रसार पायी दृष्टि है। इस दृष्टि में कर्म का फल कर्त्ता को ही मिलता है। उसका प्रारब्ध बनता है; उसके आने वाले कर्म को, अनुभव को ढालता है। प्रारब्ध का सम्बन्ध आम तौर पर जन्मान्तर से ही जोड़ा जाता है, पर इसका एक व्यापक अर्थ लेते हुए हम इसे इसी जन्म से भी जोड़ सकते हैं : हमारा किया गया कर्म यहीं, इसी जन्म में भी हमारे अगले कर्म को, हमारे अनुभव को, हमारी चेतना को, ढालता चलता ही है। इसे कर्त्ता के लिए प्रारब्ध का 'दृष्ट' फल कह सकते हैं। पर ऐसे दृष्ट फल का सम्बन्ध केवल कर्त्ता से ही

तो नहीं होता—हम जो कर्म का यहीं, इसी लोक में, परिणाम चाहते हैं वह औरों के लिए भी होता है, केवल अपने लिए ही नहीं होता; अभ्युदय भी इसी में शामिल है। इसे क्या फल नहीं कहेंगे? और यह 'दृष्ट' रूप में ही वांछित होता है।

फल क्या? फल का कर्म से, कर्त्ता से, अन्य से, और कर्म की इतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध क्या है? ये ही तो हमारे लिए प्रश्न हैं। निष्कारण धर्म या धर्म के लिए धर्म का आदर्श फल की बात को इतिकर्त्तव्यता के औचित्य से हटा देना चाहता है। पर हमारे लिए यह प्रश्न ही उभरता है कि क्या फल का विचार किए बिना कर्म का औचित्य बन सकता है?

यहाँ कुछ और भी आधारगत प्रश्न उभरते हैं। फल कहेंगे किसे? क्या वह कर्म से अलग कुछ होता है? या कर्म का ही अवसान होता है? या वह घटना या परिस्थिति होती है जो कर्म के 'पूरा होने पर' बनती है? फिर 'अवसान हुआ', इसकी क्या परख होगी? कर्म तो एक निरन्तर धारा है, उसका अवसान क्या? क्या मृत्यु को अवसान कह सकते हैं? फिर तो फल उसके बाद ही मिलेगा। पर उसको विमर्श का विषय कैसे बनाया जाए?

हम कह सकते हैं कि कर्म की धारा के कुछ पड़ाव जैसे आते रहते हैं जिन्हें हम फल का नाम देते हैं। मैं जो यह लेख लिख रहा हूँ, मुझे लग रहा है कि यह पूरा होने का नाम ही नहीं लेता, बढ़ता ही चला जा रहा है; पूरा होगा तो कर्म का अवसान होगा। पर क्या वही फल होगा? या उसके बाद की कोई परिस्थिति होगी? तो उसकी पहचान क्या होगी? और पूरा होने का क्या अर्थ? जहाँ मुझे लगे कि अब मैंने यह बात कह ली वहाँ लेख पूरा होगा, या पूरा होने की मेरे 'लगने' से भिन्न भी कोई कसौटी है? कहना न होगा कि है ही। एक नहीं कई कसौटियाँ हैं। वहाँ प्रश्न यह उठेगा कि लेख जैसा 'सम्पूर्ण' होना चाहिए वैसा हुआ या नहीं? शल्य जी के प्रयोग को लें तो पूछेंगे, क्या वह 'पर्याप्त' हुआ? और प्रकट है कि वह पर्याप्त कभी नहीं होगा। आदर्श रूप में जैसा होना चाहिए वैसा नहीं ही होगा। और यह मैं अभी भी देख सकता हूँ। इसका एक प्रमाण यह है कि दुबारा लिखने बैठता हूं तो दोष दिखते हैं, चाहता हूं लेख कुछ और सार्थक बने। और दुबारा लिखने का अवसान नहीं हो सकता। पर 'मैं' लेख के बारे में जो भी सोचूं, यह भी जानता हूं कि दोष की—या 'सम्यक्-सम्पूर्ण' होने की—कसौटी मेरी या आपकी नहीं होती, सर्व-साधारण होती है—या होनी चाहिए।

पर मान लीजिए इस लेख का संतोष-जनक अवसान हो भी जाता है तो भी क्या वही फल कहा जा सकता है? आप कहेंगे, हाँ। लेख, कहानी, कविता, उपन्यास इनका लिखना अपने आप में सार्थक कर्म है, इनका अवसान ही इनका फल है। पर मैं फिर भी कह सकता हूं, आपको अच्छा न लगा तो मुझे क्या फल मिला?

इसकी चर्चा न हुई, यह आज के विचार का अंग न बना, तो क्या फल मिला? इससे मेरा नाम न हुआ, दाम न मिले, तो क्या फल मिला? ये फल कर्म के अवसान के बाद होने वाली घटनायें हैं। हम इन्हीं को आम तौर पर फल कहते हैं, और तभी यह कहते हैं कि कर्म का औचित्य ऐसे फल का मुँह नहीं ताकता। मुँह तके तो कर्म काम्य कर्म होगा, निष्कारण नहीं होगा, और इतिकर्त्तव्यता की 'धर्म्य' कोटि में नहीं आएगा। गीता में कृष्ण ने जब कहा कि कर्मफल के प्रति निष्काम भाव होना चाहिए, तो दृष्टि में ऐसे ही फल थे—ऐसे काम्य फल जो कर्म के बाहर, पर उससे निकलते ठहराए जा सकते हैं। कृष्ण की बात का अर्थ स्पष्ट ही यह नहीं कि ऐसे फल नहीं होंगे, ये भी होते ही हैं, पर *उनके लिए* कर्म नहीं होना चाहिए; वे हों तो उनमें ममत्व, आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि कर्म का औचित्य स्वार्थ और अहं-भाव के घेर से ऊपर रहता है। तभी 'निष्काम' का यह भी अर्थ है कि फल पर ही नहीं कर्म पर भी 'मेरा कर्म है' यह ममत्व-भाव नहीं होना चाहिए।

पर निष्कारण कर्म और निष्काम कर्म में यहां एक भेद भी उभरता देखा जा सकता है। निष्कारण कर्म में अवसान की बात हो भी सकती है, फल की बात नहीं हो सकती। वहां कर्म ही सब कुछ है, उसके बाहर किसी कुछ का अवकाश नहीं। पर निष्काम कर्म में फल का निषेध नहीं, फल में ममत्व का निषेध है। अभ्युदय कर्म को 'निष्काम' ही कहना उचित लगता है, 'निष्कारण' नहीं। पर निष्काम कर्म के संदर्भ में प्रश्न हो सकता है, अवसान के प्रति कौन-सा भाव हो? क्या वही भाव हो जो फल के प्रति हो? पर कुछ तो भेद होगा। अवसान से मेरा सम्बन्ध प्रयत्न का सम्बन्ध होता है। और क्या कर्म के किए जाने का—प्रयत्न का—मुझसे वही सम्बन्ध हो सकता है जो किए जाने के—अवसान के—बाद और, उससे अलग मिलते, फल से?

कर्म की धारणा के साथ, चाहे सकाम हो या निष्काम, दोनों भावों से किए गए कर्मों में फल का अवसान से अलग होना एक सा जान पड़ता है। फल को वहां कर्म और उसके अवसान से अलग कूता जाता है—और दोनों में ही फल के प्रति उपेक्षा दृष्टि नहीं हो सकती। पर निष्कारण कर्म फल से कर्म का सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहता है। निष्कारण कर्म की धारणा में कर्म का अपना औचित्य ही सब कुछ है, फल कुछ भी हो। ऊपर की कहानी में कौशिक के सत्य के निभाव को हम निष्कारण कर्म की कोटि में रख सकते हैं। कृष्ण की उस पर आपत्ति ही यह थी कि फल का—प्राण-रक्षा का -ध्यान नहीं रखा गया। प्राण-रक्षा को ध्यान में रखा जाता तो उसे हम निष्काम कर्म की कोटि में रख सकते थे—क्योंकि कौशिक के किसी स्वार्थ की यहां बात नहीं थी; स्वार्थ होता तो कर्म सकाम होता।

पर प्रश्न हो सकता है कि क्या फल अवसान से अलग ही होता है? फल क्या कभी अवसान में ही नहीं आ जाता? उसके भीतर ही नहीं समाया रहता? एक सकाम कर्म का ही उदाहरण देखिये। सौदे की बात लीजिए। कुछ बेच कर बदले में कुछ पा

लेना सौदा कहलाता है। सौदा 'पूरा' ही तब होता है–उसका अवसान ही तब होता है–जब लेन-देन हो चुके। पर यहाँ फल और अवसान का अन्तर भी धुँधलाता दिखता है। सौदे का फल सौदे के भीतर ही बैठा लगता है। कई और उदाहरण लिए जा सकते हैं। पर लूंगा नहीं। मैंने यह बात यहाँ इसलिए उठाई कि अपनी कहानी में हम कृष्ण के कर्म को सफल भी मानें या केवल सावसान?

सफल मानें तो समस्या होगी। धर्म को अगर हम स्वरूप से ही निष्कारण मानें–जैसा कि माना भी गया है, उचित भी लगता है–तब आनृशंस्य को परम धर्म या धर्म ही मानना कठिन होगा, क्योंकि धर्म में कर्म की इति-कर्त्तव्यता अपने आप में बननी चाहिए, किसी फल की अपेक्षा से नहीं। पर जिस घटना की हम चर्चा कर रहे हैं उसके अवसान की बात को लीजिये। अवसान को कहाँ रखना उचित होगा? पूरी घटना को एक ही कर्म मानें–चलिए कृष्ण का कर्म मानें–तो कहानी को सावसान के साथ सफल भी मानना पड़ेगा। पर मान लीजिए कि अर्जुन कृष्ण की बात न सुनते, युधिष्ठिर का वध कर बैठते और फिर अपना, तो क्या कृष्ण का कर्म सावसान पर निष्फल होता? निष्फल इस अर्थ में कि जो फल वह चाह रहे थे उस पर घटना का अवसान नहीं होता। यह ठीक है कि पुण्य या प्रारब्ध के रूप में फल उन्हें उस घटना से अलग मिलता। पर वह फल तो कर्म के सफल होने पर भी मिला ही होगा। उसका तो कर्म से अनिवार्य सम्बन्ध माना जाता है। वह मिले बिना रह नहीं सकता। पर उसका आनृशंस्य से सम्बन्ध नहीं है। आनृशंस्य में अभ्युदय या श्रेयस् की कामना होती है–ऐसे कर्म में फल के प्रति हम निष्काम हो सकते हैं, यह अपेक्षा ही इसे 'धर्म' बनाती है, पर यह बात धर्म को निष्कारण कहने से भिन्न है। आनृशंस्य निष्काम कर्म का धर्म है, निष्कारण कर्म का नहीं। सत्य, अहिंसा ये निष्कारण हो सकते हैं।

पर अवसान की बात को एक दूसरी दृष्टि से लीजिये–कर्म के स्वरूप को समझने के लिए। कर्म का अवसान किसी *एक* कर्म का पूरा हो जाना है। पर 'एक' कर्म हम किसे कहेंगे? **महाभारत** की घटना के प्रवाह को हमने एक जगह से तोड़कर उसका एक खण्ड अपनी चर्चा के लिए निकाला है। उस खण्ड के क्या और सार्थक खण्ड नहीं हो सकते? हम यहां उसे 'एक' कर्म के रूप में देख रहे हैं, पर उसे एक ही कर्म क्यों कहें, कर्मों की लड़ी क्यों नहीं? तो फिर प्रश्न सहज ही होगा कि हम कर्म का लघुतम खण्ड कहेंगे किसे? दूसरे शब्दों में, क्या कर्म के अणु की बात किसी सार्थक रूप से हो सकती है? यह भी प्रश्न होगा कि जब कर्म में कर्त्ता एक नहीं अनेक हैं, सबका भिन्न, स्वतन्त्र कर्म है, तो क्या घटना की खण्ड-व्याक्रिया हर कर्त्ता की दृष्टि से अलग-अलग नहीं होगी? (और यह प्रश्न ऊपर की कहानी पर ही नहीं, व्यवहार मात्र पर पूरा उतरता है।) पर जहाँ एक का कर्म दूसरे के कर्म को ढाल रहा हो, बना रहा हो, बिगाड़ रहा हो, मोड़ रहा हो, वहाँ व्याक्रिया की क्या गति होगी? फिर हम कर्म की चाहे जिस आधार पर भी खण्ड-व्याक्रिया करें, कैसे भी विभाजन

करें, उसके आरम्भ और अवसान की तो बात करनी होगी—नहीं तो पूरे *प्रवाह* को एक ही कहना होगा। अखण्ड। फिर न अवसान होगा और न अलग से कोई फल। पर आरम्भ और अवसान के बिना क्या कर्म की बात की भी जा सकती है? पर जैसे भी 'एक' कर्म की बात करें, हम भूल नहीं सकते कि हमारे कर्म-क्षेत्र में कर्त्ता का अनैक्य सदा होता है। और कर्म कर्म-प्रवाह में ही होता है, जिसके न हम आदि को पकड़ सकते हैं, न अंत को। कर्म-प्रवाह का सम्बन्ध अगर मनुष्य से है तो मनुष्य के होने में इसका आदि है, और मनुष्य के अंत के साथ इसका अंत होगा। कोई 'एक' कर्म इस प्रवाह के भीतर ही बनता है। हमारे मनुष्य-भाव को मान कर चलता है।

प्रवाह का विभाजन करते हुए, *एक* कर्म किसे कहें, इस टेढे प्रश्न को एक बार अलग रख दें। कहानी पर आयें। यहां हम सहज ही विभाजन करते चल सकते हैं—ऐसा करते ही हैं। खण्ड-व्याक्रिया के किसी तात्त्विक आधार की कसौटी के बिना भी हम देख ही सकते हैं कि कहानी को कर्म की दृष्टि से कम से कम दो हिस्सों में तो अनायास ही बाँटा जा सकता है। पहली घटना अर्जुन के क्रोध से लेकर उनके शान्त हो जाने तक की है। और दूसरी कृष्ण के उपाय-कौशल के कारण अर्जुन द्वारा बातों ही से युधिष्ठिर का 'वध' करने की। अब मान लीजिए कि अर्जुन कृष्ण के उपदेश से प्रभावित न होते, या उसे ठुकरा देते और अपने सत्य पर अड़े ही रहना चाहते, तो क्या सचमुच युधिष्ठिर का वध कर ही बैठते? क्या धर्म-संकट का बोध उनका हाथ नहीं रोक लेता? क्या वे इतने बेसम्भाल हो गए थे कि रोके न रुकते? उनके स्वभाव-चरित्र को देखते हुए ऐसा मानना कठिन है। जिसे युद्ध में 'अपनों' से लड़ने की बात से ही धर्म-संकट की घोर कुण्ठा हुई वह युधिष्ठिर को कृष्ण के नहीं रहते भी झट मार गिराता, यह विश्वास की बात नहीं लगती। पर मान लीजिए अर्जुन कृष्ण की नहीं सुनते। तो फिर क्या होता इसकी कल्पना करना कठिन है। पर जहाँ तक कृष्ण के कर्म का प्रश्न है, उसका क्या अवसान हो जाता? *एक* कर्म पूरा हो जाता? लगता नहीं हम किसी 'पूरे होने' की बात कर पाते। अर्जुन को मना न पाते तो वे भी कुछ और करते। क्या करते मैं तो नहीं सोच सकता, पर उनमें धर्म-प्रज्ञा ही नहीं धर्म-प्रतिभा भी थी, जो कुछ न कुछ रूप तो लेती। पर क्या इसे हम एक कर्म के अवसान के बाद किया गया *दूसरा* कर्म कहते? क्योंकि जिसे हम कहानी का दूसरा भाग कह रहे हैं, आगे की कहानी, वह फिर कुछ और ही होती। कहानी का अवसान भी कुछ और, कहीं और होता। उसकी खण्ड-व्याक्रिया भी और ही रूप लेती। मैं समझता हूँ कि हमारा वासना-बोध—मानव स्वभाव और भाव एवं संकल्प के सम्बन्धों की पकड़, परस्थिति विशेष में घटती मानव-घटनाओं की पकड़—यही कर्म-प्रवाह में इति-अथ का विभाजन करती है, और कई तरह से कर सकती है। पर करती तो है। यही नहीं, जिसे हम फल कहते हुए कर्म से उसे अलग कहते हैं, यह विभाजन भी हमारी वासना ही करती है—हमारा मानव-बोध कहिये।

पर कौशिक के सत्य-संकल्प को लेते हुए, फल की बात पर दूसरी तरह से आता हूँ। ऊपर कह चुका हूं कि कृष्ण की और कृष्ण की कहानी के कौशिक मुनि की धर्म-प्रज्ञा में एक मर्म का भेद है, जिसे 'फल' की धारणा को साथ रखते हुए फैलाया जा सकता है। कौशिक धर्म के परमार्थ को व्यवहार से हटा देना चाहते थे। धर्म को, और धर्म की इतिकर्त्तव्यता को मनुष्य के कर्म-प्रवाह से अलग रखते हुए उसे अपने आप में स्थित, स्वप्रतिष्ठ, स्वयंसिद्ध मानते थे। व्यवहार में उसका अवसान कब? फल या परिणाम क्या? इसकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं थी। उनके लिए कर्म का आदि-अवसान, फल, ये धारणायें ही धर्म से—कर्म के औचित्य से—असम्बद्ध थीं।

यहां अब कृष्ण की धर्म-प्रज्ञा की ओर देखें तो उसके बारे में यह नहीं कह सकते कि वे धर्म को अपने आप में करणीय नहीं मानते, या उसे इतिकर्त्तव्यता का स्वयं-सार्थक आसन नहीं देते। वे भी धर्म को धर्म मान कर ही धर्म-काम थे, पर उनकी धर्म-कामना में यह चाह और यह चेष्टा भी मिलती है कि कर्म का अवसान स्वस्ति हो; कर्म सफल हो, सुफल हो। उनके लिए धर्म वह है जो अहिंसा-गर्भ अभ्युदय, या आनृशंस्य, प्राणियों का प्रभव *साधता* है। पूरी परिस्थिति को देखकर, उसे तोलता हुआ, उससे अमंगल हटा कर उसे और मंगलमय बनाना चाहता है। यहां 'मंगल' शब्द का जानबूझ कर प्रयोग कर रहा हूँ। यह आनृशंस्य के भाव के साथ युगनद्ध, मर्मबद्ध लगता है। मंगल में श्रेयस् और प्रेयस् दोनों के निखार का भी भाव है—धर्म और काम दोनों का स्वस्ति-संगम।

❐

धर्म-विभाग और धर्म-संकट

कृष्ण के धर्म को आनृशंस्य-धर्म कहें तो इस आनृशंस्य की धारणा में धर्म-संकट के बीज साफ हैं। आनृशंस्य अगर व्यवहार- धर्म है तो अन्य धर्मों के साथ है, धर्म-विभाग में निहित है। कृष्ण ने जिस धर्म-प्रज्ञा की बात की वह धर्म के व्यवहार की ही प्रज्ञा है, और तभी कृष्ण ने धर्म-प्रज्ञा के साथ धर्म-विभाग की बात की। तात्पर्य यह कि धर्म में स्वभाव-अनैक्य है—धर्म भिन्न हैं, और भिन्न धर्मों में विवेक की आवश्यकता है, ताकि धर्म-विशेष का यथा-देश, यथा-काल, यथा-पात्र, यथोचित प्रयोग किया जा सके।

पर यह धर्म-विभाग क्या? कैसा है? यह ऐसा तो नहीं लगता कि किसी एकरस वस्तु में समरस विभाग हो—जैसे स्वर में सा रे ग म या वर्ण में लाल, पीला, हरा, नीला, इनमें भेद है—पर कोई विरोध नहीं। धर्म-विभाग ऐसा नहीं लगता। सत्य और अहिंसा का विरोध तो ऊपर की कहानी में ही झलकता है। 'आनृशंस्य' का प्रयोग इस विरोध को झेलते हुए ही किया गया है। पर क्या आनृशंस्य विरोध को दूर कर सकता है?

पिछले अध्याय में आनृशंस्य के स्वरूप-स्वभाव को आँकने के लिए दो कहानियाँ मैंने सामने रखी थीं। कहा था कि आनृशंस्य अहिंसा को निवृत्ति से हटाकर प्रवृत्ति की ओर उन्मुख कर देता है। दूसरी कहानी में कृष्ण 'अवध' और 'प्रभव', धर्म की इन दो कसौटियों की बात करते हैं। मैंने कहा था कि ये दोनों आनृशंस्य के ही जुड़वाँ प्राण हैं। पर दोनों भिन्न भी हैं, हालांकि परस्पर अनुविद्ध : अहिंसा—'अवध'—जब निवृत्ति से हट कर प्रवृत्ति की ओर झुकती है तो उसका पुरुषार्थ मोक्ष नहीं रहता, अभ्युदय—प्रभव—हो जाता है, और यही आनृशंस्य की मूल प्रकृति है। पर एक संकेत यहां स्पष्ट है : धर्म का स्वरूप, या मर्म कहिये, वह अहिंसा ही रहता है। हिंसा-मूल प्रभव की कल्पना आनृशंस्य नहीं कहलायेगी। यों देखें तो 'धर्म-विभाग' करते हुए हम अवध और प्रभव को साफ अलग कर सकते हैं। पर कृष्ण इन्हें साथ रखते हैं—इनमें अविभाग के पक्षपाती हैं—तो अहिंसा को ही आधार बना कर ऐसा कर सकते हैं।

पर इनका विभाजन किया जा ही सकता है। विभाजन करना जानीमानी सी ही बात होगी। बहुतों के प्रभव के लिए कुछ का वध—इसके औचित्य की—धर्म्य होने की—बात की ही जाती है। धर्म-विभाग की धारणा के आधार पर धर्मों में विवेक करते हुए हम ऐसा विभाजन कर ही सकते हैं। उसे उचित भी ठहरा सकते हैं। धर्म-विभाग धर्म को एक नहीं अनेक मान कर यह सिद्धान्त सामने रखता जान पड़ता है

कि कोई सा धर्म अपने आप में उचित-अनुचित नहीं होता। औचित्य का निर्णय, कौन-सा धर्म कब ठीक रहेगा यह अध्यवसाय, देश-काल-पात्र को देखकर ही किया जाना चाहिए। तो अवध के आगे प्रभव उचित ठहराया जा ही सकता है।

धर्म-विभाग की बात पते की लगती है, पर मूल-गत समस्या भी उठाती है : धर्मों के बीच निर्णय का आधार क्या हो? अभी अभी हमने संख्या को आधार बनाने की बात की—कइयों के मंगल के लिए कुछ का वध। पर क्या ऐसी किसी कसौटी को 'परम' कसौटी कहा जा सकता है? ऐसी दूसरी परिस्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां यह प्रश्न फिर भी उठेगा : अवध या प्रभव? संख्या को प्रमाण रखना क्या सदा-सदैव धर्म-प्रज्ञा के निर्णय का निकष हो सकेगा?

धर्म-विभाग की धारणा यों भी अपने-आप में ही विचित्र सी लग सकती है। इसीलिए कई विचारक धर्म को व्यवहार के धरातल से उठा कर विशुद्ध संकल्प के परमार्थ में बिठा देना चाहते हैं। प्रश्न होगा कि विभाजन कैसा है? भेद का स्वरूप क्या? अवध और प्रभव को ही लीजिए। धर्म में सचमुच ही विभाजन है तो फिर अवध और प्रभव को हम युगनद्ध भी कैसे कर सकते हैं? आनृशंस्य के रूप में उनके युगल-भाव को हम *एक* 'परम' धर्म कैसे कह सकते हैं? कह सकते हैं तो धर्म-विभाग की बात क्षीण भी हो जाती है। धर्म में सचमुच विभाग हो तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि 'परम' धर्म ही अनेक हैं—अपने स्वरूप में ही भिन्न; नहीं तो धर्म के भीतर का विभाजन कोई गहरी तत्त्व की बात नहीं होगी। पर परम धर्म का अनेक होना, इसका क्या अर्थ है? कोई एकत्व न हो तो 'धर्म' ही कैसे कहेंगे? पर अनेकत्व भी आवश्यक लगता है। धर्म को एक कहना भी उसे व्यवहार की जीवंत भूमि से हटा देना होगा—देश-काल-पात्र, परिस्थिति के भेद को झुठलाना होगा। पर हम आगे देखेंगे कि धर्म के क्षेत्र में परम धर्मों का अनैक्य ही धर्म-संकट का भी परम बीज है।

कहा जा सकता है कि धर्म-विभाग से धर्म ही नहीं धर्म की धारणा भी संकट में पड़ जाती है। पर धर्म-विभाजन लोक-व्यवहार के लिए आवश्यक ही नहीं, लोक-सिद्ध भी है। हमारा अनुभव—जहाँ धर्म के साथ धर्म-संकट अभिन्न भाव से जुड़ा रहता है—वही अनुभव धर्म-विभाजन की ओर स्वतः इंगित करता है। हम अगर धर्म को लोक, व्यवहार, अनुभव, इनसे हटा दें तो शायद धर्म-संकट भी न हो और धर्म-विभाजन की बात भी न उठे। कृष्ण की कहानी के लोक-निवृत्त, वैराग्यशील तपस्वी को कोई धर्म-संकट नहीं हुआ था। पर धर्म को यों परम लोकातीत या लोकोत्तर बना देने पर धर्म के *करने* का क्या अर्थ होगा? क्या धर्म फिर कर्म की भी कोटि से नहीं हट जाएगा?

पर अभी कुछ देर पहले ही मैंने जो प्रश्न उठाया था उस प्रश्न का फिर क्या उत्तर देंगे? प्रश्न था, धर्मों के बीच निर्णय का आधार क्या हो? माना कर्म के धरातल पर

धर्म विभक्त हैं, चलिए यही बात सही, पर किस धर्म का कब प्रयोग हो इसकी कसौटी क्या होगी? यह भी यहां अवधेय है कि प्रश्न का उत्तर अपने-आप में 'विभक्त' नहीं हो सकता। हम यह नहीं कह सकते कि हर देश-काल विशेष के लिए धर्म की कसौटी भी विशेष होगी। इस बात का कोई अर्थ नहीं निकलता दीखता। परिस्थिति विशेष की उलझन यही होती है कि उपलब्ध धर्मों की पंक्तियों से चुना किसे जाए जो इस परिस्थिति के लिए उचित हो? धर्मों के बीच धर्म-विशेष को चुनने का आधार यहां औचित्य के किसी सामान्य तत्त्व की ही खोज हो सकती है, ऐसा सामान्य जो अनेक विशेषों को समेटता हुआ उनके बीच पहचान का एक साधारण आधार बन सके। इसी अर्थ में 'परम' धर्म 'परम' कहला सकता है। और वह अनेक होता नहीं दीखता—विचार में उसके अनैक्य का स्वीकार युक्त नहीं लगता।

एक उत्तर हो सकता है कि इस प्रश्न का समाधान धर्म में नहीं, हम जिसे धर्म कह रहे हैं उस वृत्ति या औचित्य के उस क्षेत्र के बाहर ही ढूँढना चाहिए। पर जो धर्म के क्षेत्र से बाहर हो, जो धर्म की कोटि में समाता नहीं हो, इति-कर्त्तव्यता के औचित्य का ऐसा आधार हमें कहां मिलेगा? मिलेगा भी तो उसे 'धर्म' का औचित्य कैसे कहेंगे? मुझे नहीं लगता कि कृष्ण के धर्म-विभाग की धारणा धर्म के औचित्य को धर्म-तत्त्व के ही क्षेत्र से बाहर निकाल देने का आह्वान है। पर इसमें समस्याएँ तो हैं ही। एक वृत्ति या प्रवृत्ति, जिसके हाथ धर्म को सौंपा जा सकता है—सौंपा जाता ही है—वह है, 'नीति'। 'नीति' को यहाँ मैं इस शब्द के परम्परा-सिद्ध अर्थ में ले रहा हूँ। आज इसे 'मौरल' के, कुछ-कुछ 'धर्म' के ही, अर्थ में लिया जाता है—इस अर्थ में नहीं ले रहा। लेने का यहां कोई अर्थ ही नहीं होगा।

नीति के लिए कर्म का औचित्य अपने-आप में नहीं होता, उपाय के रूप में ही होता है, किसी लक्ष्य-सिद्धि के 'करण' के रूप में। जिस लक्ष्य को साधा जाता है उसका औचित्य-विचार नीति का काम नहीं। वैसे नीति के लक्ष्य आमतौर पर स्वार्थ की ही कोटि में आते हैं, परार्थ की नहीं। तभी नीति उसे भी काम में ले सकती है जिसे हम धर्म कह सकते हैं। पर नीति के रूप में किया गया धर्म धर्म नहीं रहता, उपाय मात्र होता है, उसके प्रयोग का औचित्य, नीति के उपेय से निर्धारित होता है, धर्म के अपने स्वरूप से नहीं।

प्रश्न उठ सकता है, नीति और धर्म का अगर यह भेद है तो कृष्ण की परिस्थिति-निष्ठ, परिणाम-दर्शी धर्म-दृष्टि को—जिसे हमने आनृशंस्य कहा है उसे—धर्म क्यों कहें, नीति क्यों नहीं कहें? प्रश्न गहरा है। धर्मप्रज्ञा परिणाम-दर्शी हो तो क्या धर्म की कोटि से च्युत होकर नीति की सीढ़ी पर नहीं उतर आती है? पर क्या परिणाम-दर्शन में धर्म की दृष्टि कोई अपना सार्थक रूप नहीं ले सकती? एक तो यह सोचिये कि, क्या धर्म में रहते हुए परिणाम-दर्शन करना—प्रभव, अभ्युदय, भद्र, स्वस्ति, इनकी साधना करना और नीति में रहते हुए किसी मनचाहे लक्ष्य को गाँठना,

क्या दोनों एक ही बात हैं? ऐसा तो नहीं लगता कि कृष्ण के लिए, या किसी भी धर्म-दर्शी के लिए, दोनों एक हो सकते हैं।

एक अन्तर यों देखा जा सकता है। नीति उपाय को उपकरण मात्र मानती है, उसे उपेय का अंग मानकर नहीं देखती है; फिर नीति उपाय या उपेय दोनों का ही औचित्य किसी परार्थ धर्म की तुला पर नहीं तोलती, जब कि धर्म अभ्युदय रूपी *उपेय* की ओर उन्मुख होता हुआ भी, उसको उपाय से अलग मानता हुआ भी, उपाय को भी केवल उपाय नहीं समझता, उपाय का भी किसी अर्थ में धर्म्य होना उचित मानता है। धर्म के लिए उपाय और उपेय में नीति जैसा भेद नहीं हो सकता। एक गहरे अर्थ में धर्म के लिए कर्म मात्र उपेय है। परिणाम-दर्शन करते हुए भी उपाय के प्रति धर्म-अधर्म का विचार ही न करना यह नीति हो सकती है, धर्म नहीं; उपाय को भी धर्म की कोटि में रखना धर्म होगा।

पर पिछली बात में थोड़ा उतरें तो एक समस्या सामने खड़ी दिख सकती है। कृष्ण की धर्म-प्रज्ञा नीति और धर्म का भेद करती हुई ऐसी किसी साफ-सुथरी परिभाषा या विचार-योजना की मर्यादा में ढलती नहीं दीखती। उलटे कृष्ण तो यह भी कह देते हैं कि कभी अधर्म भी धर्म हो जाता है। बात में अगर सार है—अगर यों ही निर्विचार नहीं कह दी गई है—तो बात का क्या अर्थ हो सकता है? पर कृष्ण के आशय को यहाँ पहेली बना देने की भी जरूरत नहीं लगती। कहानी में उनका आशय यों झलकता लगता है कि कोई भी कर्म,-कोई भी शील या आचरण, धर्म है या अधर्म, इसे हम किसी शास्त्र-विहित, लोक-दत्त या वेद-प्रदत्त विधि-निषेध के घेर में नहीं बाँध सकते। क्योंकि धर्म वह नहीं है जिसे धर्म का नाम दे दिया जाता है। धर्म वह है जो धर्म-प्रज्ञा की अभिव्यक्ति हो—इस प्रज्ञा को नियमों में बाँधा नहीं जा सकता पर कहना ही हो तो कह सकते हैं कि धर्म वह है जो अवध और प्रभव की कसौटी पर खरा उतरे। परम्परा से चले आए कुलाचार, देशाचार, शिष्टाचार...इनकी तो बात ही क्या, सत्य बोलना या नहीं बोलना—या किसी और ऐसे ही शील का पालन करना या न करना—ये भी अपने आप में धर्म-अधर्म नहीं हैं, धर्म-प्रज्ञा की कसौटी चाहते हैं; या किसी प्रकट निकष ही की बात करें तो कह सकते हैं कि अवध और प्रभव की युगल सिद्धि-असिद्धि इन्हें धर्म या अधर्म बनाती है। धर्म-प्रज्ञा यहां ऊह्य है। धर्म-प्रज्ञा की कसौटी नहीं बनाई जा सकती—पर उसके बिना धर्म की बात भी खोखली होगी। अवध और प्रभव में धर्म-प्रज्ञा को *रूप लेते* देखा जा सकता है और इस युगल को उपाय और उपेय दोनों की परख की कसौटी बनाया जा सकता है; पर किसी नियम या पद्धति के *ढाँचे* में रख कर नहीं—प्रज्ञा से हट कर नहीं।

यों धर्म को नीति से अलग ठहराया जा सकता है।

पर धर्म की यों नीति से अलग कोटि बने भी तो भी इससे धर्म को अनैक्य से नहीं बचाया जा सकता : धर्म की कोटि ही अपने आप में 'विभक्त' ठहरती दिखती है! किसी भी परिस्थिति में धर्म क्या हो, यह प्रश्न कौंध सकता है, विशेषकर विषम परिस्थिति में। एक और उपाख्यान लेता हूँ जहाँ धर्म की गति को कृष्ण–और युधिष्ठिर–दोनों ही अलग अलग मोड़ देते दिखाई देते हैं। पिछली कहानी में धर्म को 'अवध' में देखा गया था–हमें लगता भी है कि धर्म में अहिंसा का लक्षण तो होना ही चाहिए। कौशिक के 'सत्य' को जब अवध की तुला पर तोला गया तो उसके त्याग की बात औचित्य-च्युत नहीं लगी। पर आनेवाले उपाख्यान में धर्म के आसन पर सत्य को बिठाया गया है और वध अब अवैध नहीं रहता।

उपाख्यान एक सचमुच विकट धर्म-संकट की बात उठाता है। हम देख चुके हैं कि पिछली कहानी भी धर्म-संकट की ही कहानी है। वहां आनृशंस्य में संकट का समाधान देखा गया। पर देख आए हैं कि आनृशंस्य की धारणा को जैसा हमने समझा है वह आनृशंस्य भी धर्म-संकट का बीज समोये है। हम प्रभव और अवध दोनों को अगर धर्म का युगल आधार मानें तो इस कसौटी के भीतर ही धर्म-संकट का उदय हो सकता है : जिस कर्म में दोनों में से एक की ही सिद्धि हो सके वहाँ किसको रखा जाए, प्रभव को या अवध को, यह समस्या उठेगी। पिछली कहानी में अवध और प्रभव के बीच कोई विरोध नहीं उभरता, दोनों का परस्पर-भाव ही व्यंजित होता है, पर दोनों में अंतर भी झलकता है–कृष्ण का पलड़ा अवध की ओर ही झुकता दिखता है, उसके बिना जैसे प्रभव की कल्पना ही नहीं हो सकती। और यह ठीक भी लगता है। सत्य के विषय में प्रश्न उठ सकता है कि सत्य क्या? पर प्राण-रक्षा तो प्रकट सा औचित्य-मण्डित उपेय है। अवध के धर्म होने में संदेह नहीं लगता; और फिर अवध प्रभव को ऊह्य रखता ही जान पड़ता है–प्रभव के बिना अवध की बात अधूरी सी जान पड़ती है–'अपर्याप्त' धर्म।

पर आगे के उपाख्यान का प्रश्न ही है : क्या हम अवध को भी धर्म की इति-कर्त्तव्यता का आधार बना सकते हैं? ऐसा करें तो युद्ध का ही नहीं 'धर्मयुद्ध' की धारणा का भी सर्वथा निषेध करना होगा। पर न कृष्ण ऐसा करते हैं न युधिष्ठिर।

यों तो युद्ध के बीच कही गई **गीता** भी युद्ध में उपस्थित धर्म-संकट का ही समाधान बताती है। यह भी कहा जा सकता है कि वहां भी युद्ध का 'समर्थन' है। पर सच पूछें तो **गीता** धर्म-संकट का उत्तर कर्म की धारणा को कर्म के साधारण व्यवहार-निष्ठ धरातल से हटा कर ही देती है–उससे ऊपर आरोहण कर जाती है। पर यहां जिस उपाख्यान को मैं ले रहा हूँ वह युद्ध से कुछ पहले का है, और वहां व्यवहार की भूमि पर ही युद्ध के औचित्य की चर्चा है।

उद्योग-पर्व की बात है। युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी हैं। पाण्डवों के खेमे पड़ गए हैं। युद्ध की घड़ी आसन्न है। धृतराष्ट्र को अनिवार्य युद्ध की विभीषिका क्षुब्ध और विषण्ण कर देती है। युद्ध रोकने के प्रयास विफल हो चुके थे। फिर भी वे युद्ध रोकने का एक अन्तिम प्रयास करते हैं। दुर्योधन पर उन्हें भरोसा नहीं, पर युधिष्ठिर और कृष्ण की धर्म-चेतना—या धर्म-प्रज्ञा कहिये—उस पर उन्हें विश्वास है। वे संजय को इन दोनों के पास भेजते हैं। कुशल-क्षेम आदि के बाद संजय एक 'धर्म-गर्भ' प्रश्न उठाते हैं और एक 'धर्म-प्राण' प्रस्ताव कृष्ण और युधिष्ठिर के आगे रखते हैं। युधिष्ठिर से पूछते हैं कि आप तो सदा अपने कर्म में धर्म का ध्यान रखते हैं, फिर यह कैसे कि आप युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं? युद्ध में जय और पराजय दोनों पर अनिष्ट की छाया रहती है, क्योंकि युद्ध में और कुछ हो न हो हिंसा और 'वध' का ताण्डव अवश्य होगा। संजय युधिष्ठिर को सुझाते हैं कि उन्हें चाहिए कि प्रतिपक्ष चाहे जो कुछ करे, वे अपनी ओर से युद्ध-विरत हो जायें—हथियार डाल दें; धर्म यही कहता है। संजय युधिष्ठिर से कहते हैं, कि तुम तो सदा धर्म का ही कहा करते हो : "युधिष्ठिर, तुम्हारी बुद्धि अधर्म की ओर नहीं जाती है। तुम आवेग में आकर, तिलमिलाहट में (संरभात्) कोई पाप-कर्म कर बैठो ऐसे व्यक्ति नहीं हो। फिर अब कौन-सा ऐसा कारण आ पड़ा है जिसके लिए तुम (युद्ध जैसा) प्रज्ञा-विरुद्ध कर्म करने पर तुले बैठे हो?—*नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धिर्न संरभात् कर्म चकर्ष पापम्। अद्धा किं तत्कारणं यस्य हेतोः प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम्?*" संजय युधिष्ठिर से यहाँ तक कह बैठते हैं कि, "अगर युद्ध के बिना कौरव तुम्हारा हिस्सा न दें तो, युधिष्ठिर, अच्छा हो कि तुम अंधकों और वृष्णियों के राज्य में (कृष्ण जहाँ हैं, वहाँ) भिक्षा से जीविका चलाओ! मैं इसी को श्रेयस् समझता हूँ। युद्ध से जीते हुए राज्य को नहीं—*न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्प्रयच्छन्ते तुभ्यमजातशत्रो । भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्।*" (ये दोनों श्लोक भण्डारकर संस्करण, उद्योग पर्व के सत्ताइसवें अध्याय से हैं)।

युद्ध-विरोध के इस उद्घोष में हमें आज के सर्वशान्तिवाद (पैसफ़िज़्म) के स्वर सुनाई दे सकते हैं। पर यहाँ यह देखिये कि युधिष्ठिर और कृष्ण इसका उत्तर क्या देते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं, धर्म को आवेग में आकर कुछ कर बैठने की अपेक्षा कौन बड़ा नहीं मानता? मैं तो मानता ही हूँ, और तुम यह बात जानते हो। और अयुद्ध को युद्ध से कौन अच्छा नहीं मानता?

पर धर्म को राग-द्वेष और अहंकार की भूमि से हटाकर युधिष्ठिर फिर एक बात दुहराते हैं जो पिछली कहानी में कृष्ण के मुँह से भी हमने सुनी थी। कहते हैं धर्म और अधर्म में विवेक करना कभी बड़ा दुष्कर हो जाता है : धर्म अधर्म का रूप ले लेता है, अधर्म धर्म का। उनकी दृष्टि में ऐसा विशेषकर आपदा के समय होता है, जब व्यवस्था में भंग या विकार आ जाता है। आपदा में 'आपद्धर्म' की आवश्यकता होती

है जिसकी गति स्वाभाविक समय के धर्म से भिन्न होती है, जबकि साधारण जीवन अविकृत गति से बह रहा होता है। आपत्-काल की इति-कर्त्तव्यता उस समय से उलटा रूप लेती है जब सब कुछ व्यवस्थित, ठीक-ठीक चल रहा हो; जिसे हम साधारण अवस्था में अधर्म समझते हैं वह भी आपत्ति में धर्म की तुला पर खरा उतरता है।

युधिष्ठिर की बात को आगे बढ़ाने से पहले हम आपद्धर्म की धारणा का कुछ आकलन करें। आज के धर्म (मॉरल) चिन्तन में ऐसी कोई धारणा है भी तो स्पष्ट नहीं है। हमारे यहाँ के धर्म-शास्त्रों में इसका बड़ा स्थान है। स्मृतियों में इस पर पूरे के पूरे पर्व मिलते हैं। हमारे लिए प्रश्न होगा : धर्म-चिन्तन में यों आपदा के समय धर्म क्या हो, इस विचार को एक महत्त्व का स्थान देना, इससे धर्म-कल्पना पर क्या प्रकाश पड़ता है? एक बात तो पहले ही उभर आती है : आपद्धर्म का सम्बन्ध किसी स्वीकृत उचित मर्यादा के अप्रत्याशित बिगड़ने से है। आपत्-धर्म मर्यादा-निर्मिति का धर्म नहीं—आगन्तुक धर्म है। यों इसे वास्तव में धर्म कहना भी ठीक नहीं। यह तभी धर्म बनता है जब व्यवहार की उस धरती पर ही भूचाल आ जाए जिस पर हमारा कर्म-जीवन टिका रहता है। जब धर्म की नदी अपने किनारों को तोड़ कर बिखरने लगे। जब वह व्यवस्था ही चरमराने लगे जिसे हम एक तरह से स्वाभाविक-स्वयंसिद्ध मान कर उसके भीतर जीवन-यापन करते हैं, उचित-अनुचित की बात करते हैं। इस व्यवस्था का आधार एक औचित्य का आदर्श होता है—दूसरे शब्दों में, धर्म—तभी कहते हैं धर्म ही मनुष्य के जगत् का धारण करता है। इसीलिए 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति ही है, धारणात् धर्मः। और बार-बार दुहराई जाने वाली व्युत्पत्ति है।

धर्म की यह 'धारक' व्यवस्था अपने विराट् रूप में मनुष्य-मात्र की रहनी पर व्यापक होती है। इसी बृहत् व्यवस्था के अन्तर्गत रह कर हम कर्म करते हैं। यह समष्टिगत व्यवस्था है जिसे आज हम 'संस्कृति', 'सभ्यता', 'समाज' जैसे नामों से पुकारते हैं। संस्कृति, सभ्यता, समाज इनमें परस्पर भेद हो सकता है पर ये सब ही मनुष्य की रहनी की धारक व्यवस्थाएँ हैं, और औचित्य-बोध का जो तत्त्व इनको बनाए रखता है उसी के लिए 'धारणात् धर्मः' कहा गया है। मनुष्य के जगत् को जब धर्म, अर्थ, काम इनकी बुनावट कहा जाता है तब तात्पर्य यही होता है कि धर्म वह तत्त्व है जो 'अर्थ—राज्य, समाज और इनके कार्य-कलापों में—और काम में—हमारी इच्छा-अभिलाषाओं के स्वच्छन्द प्रवाह में—इन दोनों में एक औचित्य का सामंजस्य बनाए रखता है। इसे एक ऋत का छन्द भी कह सकते हैं।

इस ऋत-छन्द के 'बंध' को, इसके विन्यास को मनुष्य ही अपने कर्म से बनाए रखता है। पर यहाँ हम 'मनुष्य' के एकवचन और बहुवचन में अंतर कर सकते हैं—धर्म की दृष्टि से समष्टि और व्यष्टि-कर्म में भेद उभरता है। धर्म को जब हम मनुष्य के धारक रूप में लेते हैं तो संकेत समष्टि की व्यवस्था के औचित्य की ओर

होता है–समष्टि-व्यवहार की मर्यादा की ओर। इस मर्यादा को हम मनुष्य-मात्र में परस्पर-भाव का एक स्थिर सा–'धारित'- सा–धरातल कह सकते हैं, जो उसके स्वभाव में समाया रहता है। इस सहज, स्वभाव-सिद्ध परस्पर-भाव के रहते ही मनुष्य की समष्टि–समाज, संस्कृति, सभ्यता–सिद्ध हो पाती है। इसे हम धर्म की मूल वृत्ति भी कह सकते हैं। पर यह मूल-वृत्ति मनुष्य के स्वातन्त्र्य में स्थापित है, सूर्य-चन्द्र का सा यन्त्रवत् चक्र नहीं है। इसीलिए धर्म का धारण एक विचित्र सा धारण है। धर्म हमारा तभी धारण करता है जब हम उसका धारण करते हैं : धर्मो रक्षति रक्षितः।

पर 'हम' के अर्थ में यहाँ व्यष्टि-समष्टि की दरार भी है। एक फूट। कई संदर्भों में 'हम' शब्द व्यष्टि और समष्टि दोनों को निर्विकार समेट सकता है, पर धर्म के संदर्भ में दोनों विभक्त भी हो सकते हैं। व्यष्टि–व्यक्ति–के रूप में हमारा कर्म, और समष्टि के रूप में हमारा कर्म, ये दोनों एक नहीं हैं। 'मेरा' कर्त्ता-भाव, मेरा स्वातन्त्र्य क्या है? इस प्रश्न को समझने में उलझनें हो सकती हैं, पर *हमारा* कर्त्ता-भाव और स्वातन्त्र्य क्या है? इस प्रश्न की गुलझट उस प्रश्न से कहीं गँठीली है। व्यक्ति रूप में हमारे कर्म का हमारे समष्टिगत कर्म से सम्बन्ध तो होता है, पर यह सम्बन्ध अक्सर हमें दूर का सा ही लगता है, इतनी दूर का कि पकड़ से ओझल ही रहता है। एक ओर व्यष्टि ही स्वातन्त्र्य और विवेक का अधिष्ठान होता है–कर्त्ता के रूप में वही कर्म करता है–पर करता समष्टि और उसकी मर्यादा *में* रह कर है, ऐसी मर्यादा जिस का धारण उसी के माध्यम से होता है। पर हमारे समष्टि-जीवन की और साथ ही उसके धारक धर्म की गति अपने अलग ही प्रवाह से भी चलती है जिसका व्यक्ति की अपनी इतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध विच्छिन्न भी रहता है। हम यह मान भी लें कि हमारी रहनी की गति को समष्टि ही सहारा और धरती देती है; उसमें, उसके प्रवाह में रहते हुए, उसके शाश्वत पर चरिष्णु धरातल पर जड़ जमाये हुए ही हम अपना कर्म करते हैं और वह धारक प्रवाह हमारे भीतर भी एक अन्तःसलिला नदी की तरह बहता रहता है, तो भी धर्म के विराट् समष्टिगत चक्र की गति को हम आँक नहीं पाते हैं। कर्म करते हुए कर्म का औचित्य हम स्वगत–व्यक्तिगत–स्वातन्त्र्य और विवेक से ही समझ सकते हैं।

विचार करें तो धर्म का समष्टिगत चक्र अक्सर गति से अधिक गतिरोध में फँसा लगता है। व्यक्ति-समूह ही उसे मिल कर चलाता हो, पर वह किसी के भी वश से बाहर ही लगता है। लगता है पग-पग पर पथभ्रष्ट सा हो जाता है। या उल्टा ही चल पड़ता है। हमें सहारा नहीं देकर उल्टे असहाय बना देता है। धारक नहीं मारक सा हो जाता है। अगर उसके स्वरूप का छन्द किसी ऋत जैसी व्यवस्था का छन्द है तो छन्दो-भंग की स्थिति ही अक्सर सामने दिखाई देती है, छन्द-प्रबन्ध की, व्यवस्था की नहीं। अचम्भा नहीं कि पुराणों में धर्म को एक ही पाँव पर खड़ा माना गया है। और पुराणों के लिए जो धर्म आज एक ही पाँव पर खड़ा है वह मनुष्य मात्र का धारक

विराट् धर्म ही है। इस धर्म की गति को पुराण मनुष्य-विशेष के कर्म की गति से स्वतन्त्र ही मानते हैं। 'मेरा' कर्म समष्टि-धर्म के प्रवाह में रहकर होता है, उसको बदल नहीं पाता। मेरे कर्म का समष्टिगत व्यवहार-धरातल काल के साथ स्वयं बदलता चला जाता है। यह बदलाव *मेरे* कर्म का फल नहीं होता।

आपत्-धर्म की धारणा धर्म के इस व्यापक प्रवाह या धारा को ध्यान में रख कर ही ठीक से समझी जा सकती है। साधारण तौर पर यह धारा किसी मर्यादा में चलती भी रहती है। आपत्-काल वह है जब धारा प्रवाह-च्युत हो जाती है, उसकी गति 'अस्वस्थ' हो जाती है। तब धर्म भी अपने 'स्वस्थ' सहज रूप में नहीं रह पाता। और तब उसके चलते हुए विधि-विधान से काम नहीं चल पाता। धारा की धारक मर्यादा की गति को बनाए रखने के लिए भी ऐसे विधान का आसरा लेना पड़ता है जो मर्यादा-बाहर ही कहा जा सकता है। यही आपत्-धर्म है। युधिष्ठिर संजय को उत्तर देते हुए कहते भी हैं : ''संजय, प्रकृति के (स्वभाव के) लुप्त हो जाने पर जो कर्म किया जाता है, तब वह जिस (धर्म के) आधार पर किया जाता है (वह आपत्-धर्म है। अनापत्-काल में) हीन (पुरुष) ही उसे काम में लेता है। पर जो आपत् के समय प्रकृत धर्म का प्रयोग करता है वह भी निन्दनीय है—*लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म निष्पादयेत्तत्परीप्सेद्विहीनः। प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयेतौ॥*'' यहाँ 'प्रकृतिस्थ' शब्द के आशय पर संशय हो सकता है। क्या 'प्रकृति' से यहाँ तात्पर्य धर्म की व्यवस्था के स्वभाव-स्थित या 'स्व-स्थ' होने से है या धर्म करने वाले कर्त्ता के स्वस्थ-अस्वस्थ भाव से है? अगर इंगित कर्त्ता के प्रति है तो बात कुछ बनती नहीं, क्योंकि धर्म की बात ही कर्त्ता को स्वस्थ मान कर उठ सकती है; कर्त्ता का अस्वस्थ होना, उसका अस्वतन्त्र, अकर्त्ता हो जाना ही होगा। 'प्रकृति' का संकेत यहाँ व्यवस्था की स्वस्थता से ही है। हाँ, यह बात जरूर है कि युधिष्ठिर के धर्मबोध में 'प्रकृति' शब्द का कर्त्ता के स्वभाव से भी सम्बन्ध था; सम्बन्ध तत्कालीन बोध में ही था। बोध यह था कि कर्त्ता का 'अधिकार', उसका स्वधर्म, जो उसके वर्ण से निर्धारित होता है, वह उसका स्वभाव भी है : हर कर्त्ता को अपने वर्ण का धर्म निभाना चाहिए। उसे आपत्-धर्म से तभी काम लेना चाहिए जब विपरीत परिस्थिति-वश—आपत्-वश—वह वर्ण-धर्म का पालन कर ही नहीं सके। स्मृतियों में विभिन्न वर्णों के क्या आपत्-धर्म हो सकते हैं, गिनाये गए हैं। कहना न होगा कि वर्ण-धर्म से च्युति के कारण कई हो सकते हैं। कर्त्ता का स्खलन हो सकता है, भाग्य या कोई और यदृच्छा भी कारण हो सकते हैं। साथ ही व्यवस्था की विकृति भी कारण हो सकती है। इसीलिए व्यवस्थापक का—राजा का—धर्म था कि वह वर्ण-मर्यादा बनाए रखे।

पर युद्ध तो व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत आपत्-धर्म होता है। युधिष्ठिर भी इसी अर्थ में युद्ध को आपत्-धर्म कह रहे हैं। 'युद्ध करें या न करें?' यह प्रश्न उनके लिए

युधिष्ठिर-व्यक्ति के रूप में उतना नहीं जितना राजा-युधिष्ठिर के रूप में खड़ा था। या यों कहिये कि व्यक्ति के रूप में भी खड़ा था तो इसलिए कि उनका समष्टि पर 'अधिकार' था—उनका निर्णय समूह का निर्णय था। आपत्-धर्म व्यष्टि का नहीं समष्टि का था।

युधिष्ठिर की बात को समझने के लिए ट्रैफ़िक के प्रवाह को संभालते पुलिसमैन का उदाहरण लें। इस छोटे से, सहज पकड़ में आने वाले उदाहरण से शायद बात कुछ और आसानी से समझी जा सकती है। ट्रैफ़िक का प्रवाह भी 'धर्म' का ही प्रवाह होता है; उसकी एक मर्यादा होती है। समष्टि एक विधि-विधान का पालन करती है तो वह बनी रहता है। अपनी सी एक स्वस्थ सी गति से चलता भी रहता है ट्रैफिक-प्रवाह, और उसमें चलने वाले व्यक्ति अपनी अपनी चेष्टा से नियम पालते हुए गति को बनाए रखते हैं। छोटी-मोटी अस्वस्थताएँ तो आती ही रहती हैं, पर उससे गतिरोध नहीं होता। पर कभी गतिरोध भी हो ही जाता है। कई कारणों से हो जाता है। बरसात से बाढ़ आ जाए या भिड़ंत हो जाए; कोई व्यक्ति या समूह लड़ बैठें, अड़ जायें; मिनिस्टर की सवारी निकल आए या कोई सड़क के बीच ट्रक खड़ा करके नशे की नींद सो जाए—यों प्रकृति-जन्य, मनुष्य-जन्य कई कारण हो सकते हैं। ऐसे में पुलिसमैन को स्वाभाविक विधि-विधान का त्याग करना पड़ जाता है। हर राह चलता अपनी अपनी गति बनाए रखना चाहता है पर उसी से बात बिगड़ भी जाती है। कुछ थोड़े से लोग अपना रास्ता निकाल भी लें, पर ट्रैफिक अटक जाती है। व्यक्तियों की अपनी-अपनी नीति, उपाय-कौशल, कुछ विरलों को आगे निकाल भी दें तो भी समष्टि का रास्ता रुक जाता है। पुलिसमैन के लिए प्रश्न रह ही जाता है कि अब उचित क्या है? 'धर्म' क्या हो? उसे प्रवाह के बने हुए नियम तोड़ ही देने पड़ते हैं और प्रवाह को बनाए रखने के लिए एक अलग 'धर्म-च्युत' व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

स्पष्ट है कि ऐसे में धर्म की चलती हुई स्वस्थ -अवस्था के नियम नहीं चल सकते। जब तक आपत् की अस्वस्थ स्थिति बनी रहेगी नियम भी अस्वस्थ होंगे। यही आपद्धर्म है। पर यहां भी प्रश्न खड़ा रहता है। किस दूर तक धर्म को अस्वस्थ किया जा सकता है? किस हद तक? क्या धर्म की परम मर्यादाएँ ही तोड़ दी जा सकती हैं? क्या आपत् में अधर्म भी सचमुच धर्म हो जा सकता है?

युधिष्ठिर का कहना है कि आपत्-काल में अधर्म भी धर्म हो जाता है। जब धर्म की मर्यादा ऐसे किसी आगंतुक कारण से टूट रही हो, जिस पर किसी का कोई बस नहीं, या कोई दुर्योधन उसे तोड़ रहा हो—तो अवध की जगह वध -युद्ध—भी धर्म हो जा सकता है। लेकिन क्या युधिष्ठिर की बात उचित है?

पर औचित्य के इस प्रश्न में जाने से पहले एक और प्रश्न उठाना चाहता हूँ जो मैं समझता हूँ हमारे अपने विषय से मूलगत सम्बन्ध रखता है। 'आपत्' और 'संकट' ये दोनों शब्द पर्याय से ही हैं। प्रश्न उठता है : आपत्-धर्म और धर्म-संकट में क्या कोई अन्तर भी है? है तो क्या है?

अन्तर मैं समझता हूँ स्पष्ट ही होना चाहिए। आपत्-धर्म की इति-कर्त्तव्यता धर्म की व्यवस्था में आए दोष को दूर करने के काम की ही हो सकती है। धर्म के कुछ विशेष नियम तोड़ सकती है, पर धर्म के सामान्य औचित्य-तत्त्व से च्युत नहीं हो सकती। धर्म की अपनी स्वरूप-सिद्ध इति-कर्त्तव्यता नहीं बन सकती। तभी यह प्रश्न टेढ़ा है कि युद्ध क्या धर्म हो सकता है? यह प्रश्न इतिकर्त्तव्यता के 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न के मूल तक उतर जाता है और उसे झकझोरता है। औचित्य के मर्म में कसक जगाता हुआ, धर्म की संकटमय उलझन पैदा करता है। युद्ध की उलझन गहरी है, धर्म के ठीक बीच कांटे सी आ चुभती है। धर्म के स्वरूप पर ही प्रश्न उठाती है। अगर युद्ध को आपत्- धर्म के रूप में भी स्वीकार करें तो भी धर्म के भीतर—मनुष्य का 'धारण' करते धर्म के भीतर ही—विपरीत-भाव उभरता दिखेगा—जो धर्म के तत्त्व को ही असमंजस में डालता जान पड़ता है। आपत्-धर्म को चाहिए नहीं कि धर्म पर ही उंगली उठाये। उसके आचरण की सम्भावना में कुछ समय के लिए बाधा भर डाल सकता है वह। धर्म क्या हो, यह प्रश्न आपत्-धर्म नहीं उठा सकता, धर्म की प्रकृत गति का अवरोध कैसे दूर हो, यही छोटी उलझन जगा सकता है। आपत्-धर्म में इति-कर्त्तव्यता के प्रति यह बोध नहीं बनना उचित लगता है कि धर्म ही संकट में है। आपत्-धर्म का लक्ष्य स्पष्ट ही होता है : काँटों को, ढोकों को हटा दो कि धर्म का पथ फिर प्रशस्त हो जाए, तब तक के लिए 'सही' विधि-विधानों में विपर्यय-सा आ जाने दो। यों आपत्-धर्म स्थगन का धर्म है, धर्म का ही स्थगन नहीं। बात यहां किसी स्वीकृत मर्यादा के स्तर पर सही-ग़लत की हो सकती है—इससे अधिक नहीं—धर्म के तत्वतः संकट की बात नहीं हो सकती। आपत्-धर्म में कुछ देर के लिए धर्म 'सही'—व्यवस्था के नियम पालता हुआ—धर्म नहीं रहता, पर वह किसी परम धर्म को आपदा में नहीं डाल सकता। डाले तो बात केवल आपत्-धर्म की नहीं कही जा सकती।

तभी प्रश्न उठता है कि क्या युद्ध को आपत्-धर्म ठहरा देने से संजय के सुझाव का प्रत्याख्यान हो जाता है? धर्म के मर्म में अगर अवध है तो क्या युद्ध ऐसा आपत्-धर्म भी हो सकता है जिसमें वध—कुछ समय के लिए ही सही—इति-कर्त्तव्यता की कोटि में आ सके? क्या युद्ध को आपत्-धर्म की कोटि में रखा जा सकता है? ऐसा है तो सभी राष्ट्र सदा ही युद्ध की तैयारी क्यों किए रहते हैं? युद्ध के लिए तत्पर-भाव तो मनुष्य की स्वाभाविक, 'स्व-स्थ' गति जान पड़ती है। युधिष्ठिर राजा थे, क्षत्रिय थे, बचपन से युद्ध की शिक्षा ली थी, पहले भी लड़े थे, आगे भी लड़ते ही, युद्ध करना

अपना कर्त्तव्य समझते थे। और युधिष्ठिर के चरित को ही नहीं मनुष्य-मात्र के इतिहास की गति को देखें तो भी प्रकट है कि युद्ध कोई आपात गति-भंग नहीं है, बल्कि हमारी रहनी के छन्द में ही समाया हुआ है—छन्द-दोष है तो छन्द का ही दोष है। हमारी प्रवृत्ति के बीज में ही मानो समाविष्ट है। क्या हम मनुष्य समाज में, मानव-राज्य में, मानव-संस्कृति-सभ्यता में रहते हुए कह सकते हैं कि युद्ध कभी धर्म की इतिकर्त्तव्यता का अंग नहीं हो सकता?

हमारा जो औचित्य-बोध युद्ध-अयुद्ध के प्रश्न को धर्म-सम्बन्धी प्रश्न बनाता है वह धर्म की ही 'प्रकृति' पर—स्वरूप पर—गहरी चोट करता है। युद्ध व्यवस्था-विशेष का नहीं, मनुष्य के स्वभाव का ही अंग है। इसे जानते हुए ही हम अवध को धर्म कहते हैं। पर फिर युद्ध को भी किसी अर्थ में धर्म की कोटि में ला सकते हैं क्या? धर्म के कर्त्ता मात्र के लिए युद्ध करने-न करने का प्रश्न एक चिरन्तन संकट बन कर खड़ा रहता है। राजा के तो यह द्वार पर ही बैठा रहता है। युधिष्ठिर युद्ध के संकट-स्वरूप को एक अस्थायी आपत् भर बना देना चाहते थे। पर बात बनती नहीं।

तभी युधिष्ठिर के बाद कृष्ण जब अपना मत जताते हुए संजय को उत्तर देते हैं तो युद्ध-अयुद्ध के प्रश्न को मनुष्य-व्यवहार के व्यापक धरातल पर रख कर बात करते हैं। कहते हैं : "(संजय) तुम क्या मानते हो? क्या राजाओं का समूचा धर्म-तन्त्र, इति-कर्त्तव्यता की सारी व्यवस्था, युद्ध को मान कर चलती है, या अयुद्ध को? मुझे तुम्हारी बातों से लगता है कि तुम अयुद्ध को ही राज्य-तन्त्र मानते हो—*उताहो त्वं मन्यसे सर्वमेव राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् । अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं तथैव ते वाचमिमां शृणोमि*।" युद्ध-अयुद्ध के प्रश्न को यों लिया जाए तो प्रश्न बड़ा गहरा हो जाता है। हम किसी न किसी राज्य में ही रहते हैं। हम सब के लिए ही प्रश्न होगा कि राज्यों में रहते हुए हमें युद्ध करना चाहिए या नहीं? और प्रश्न केवल व्यक्ति के स्तर पर ही नहीं होगा। समष्टि के स्तर पर और भी तीखा बन कर उठेगा कि क्या राज्यों को युद्ध करना चाहिए या नहीं? जो युधिष्ठिर की तरह राजा हो, उसके लिए यह प्रश्न किसी अस्थायी आपत्-काल का नहीं राज्य-संचालन के आठ पहर की इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न होगा। और प्रश्न को यों ही लिया भी जाना चाहिए—और फिर मैं समझता हूँ कि प्रश्न केवल परिस्थिति विशेष के स्वस्थ-अस्वस्थ भाव तक सीमित आपद्धर्म का ही नहीं रह जाता, धर्म के भीतर का ही बड़ा घोर संकटमय प्रश्न हो जाता है। इस धर्म-संकट का सम्बन्ध राजधर्म से है जो हमारे व्यष्टि-जीवन को भी रूप देता है, पर समष्टि-जीवन के तो मूल से—स्वरूप से—उठता हुआ प्रश्न है यह—और धर्म के ही मूल पर आघात करता प्रश्न है। मनुष्य को अगर धर्म का परस्पर-भाव, परार्थ भाव परिभाषित करता है तो यह हम सब का चिरन्तन प्रश्न है। इसे टाल कर धर्म को समझा नहीं जा सकता। प्रश्न पर आगे विचार करता हूं।

एक बात यहां लग सकती है–प्रश्न हो सकता है कि क्या फिर अवध को सचमुच 'परम' धर्म की कोटि में रखा भी जाए? क्या उसमें कुछ शिथिलता आवश्यक नहीं है? युद्ध में ही नहीं–क्योंकि युद्ध को किसी अर्थ में असाधारण परिस्थिति कहा भी जा सकता है–युद्ध के बाहर भी टकराहट की स्थितियाँ बनती रहती हैं, और इन का सामना सबको करना पड़ता है। मनुष्य के प्रवृत्ति-जीवन को उचित मान कर अगर हम धर्म का विचार करें तो लगता है कि 'अवध' को आदर्श मानते हुए भी उसमें 'वध' के लिए जगह बनानी होगी। गृहस्थी के छोटे-मोटे मशक-मूषिक आदि के वध की ही नहीं मनुष्य-वध की भी जगह बनानी होगी। राज्य दण्ड पर चलता है, वह युद्ध में ही वध नहीं करता युद्ध के बाहर भी वध का दण्ड देता ही है। ऐसे वध को हम सही अर्थ में वध ही नहीं मानते–हालांकि यह भी संकल्पकृत ही होता है। साधारण परिस्थिति में–जिसे युधिष्ठिर के शब्दों में 'अनापत्' की परिस्थिति भी कह सकते हैं–ऐसी अवस्था में किसी की हत्या करना, जानबूझ कर हत्या करना–और युद्ध में किसी को मार गिराना, या राज्य-दण्ड से वध, इन स्थितियों में प्रवृत्ति-धर्मी मनुष्य सदा अन्तर करता आया है। कुछ और स्थितियों में भी वध को बुरा मानते हुए भी 'अधर्म' नही कहा जाता। हम अवध को धर्म मानते हुए भी वध के प्रकारों में गहरा भेद करते हैं, कुछ को 'धर्म्य' की कोटि में रख देते हैं–हमारी समष्टिगत प्रवृत्ति की आवश्यकता ही युद्ध–या दण्ड–के वध में और व्यक्तिगत रूप से किसी की हत्या कर देने में वध और वध के बीच भी प्रकार का ही नहीं, मानो स्वरूप का ही अंतर करती जान पड़ती हैं।

फिर भी विवेक कहता है कि धर्म तो अवध ही हो सकता है वध नहीं। पर प्रवृत्ति और निवृत्ति का अन्तर भी यहाँ विवेक को दिशा देता लगता है। **महाभारत** में व्यास धर्म की जिस विचित्र गति की कहानी हमें सुनाते हैं उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति की भी मुठभेड़ होती चलती है। अर्जुन और युधिष्ठिर के पिछले उपाख्यान में जिस सत्यव्रती मुनि के सत्य को धर्म कहने से कृष्ण ने इन्कार किया, उन्हें 'मुनि' कहना ही उन्हें निवृत्ति-मार्गी बताना है। किसी धर्म का ऐसा पालन करना कि किसी दूसरे धर्म की ओर दृष्टि ही न जाए यह मुनि ही कर सकता है। संजय के साथ संवाद के इस प्रस्तुत उपाख्यान में भी सच पूछिए तो संजय युधिष्ठिर से यही कह रहे हैं, "तुम मुनि हो जाओ"। जब संजय युधिष्ठिर से कहते हैं कि तुम हथियार डाल दो और वृष्णि-अंधक राज्य में भिक्षाचर हो जाओ, तो बात का यही आशय बनता है। या मुनि नहीं तो मुनिवत् हो जाओ–राजधर्म छोड़ दो। क्योंकि अवध के व्रत का तभी पालन हो सकता है।

युधिष्ठिर जो उत्तर देते हैं वह प्रवृत्ति-व्रती है। उनकी स्थिति में निवृत्त हो जाना कोई उत्तर हो भी नहीं सकता था। क्योंकि यह प्रश्न तो उठता ही : क्या अधर्म से नहीं जूझना धर्म हो सकता है? क्या अन्याय के आगे झुक जाना धर्म हो सकता है?

युधिष्ठिर इस बात से इन्कार नहीं करते हैं कि अवध ही परम धर्म है। पर प्रवृत्ति-धर्म का पालन करते हुए युद्ध का निषेध भी नहीं कर सकते। उनके कथन के मर्म को यों रखा जा सकता है : धर्म का स्वरूप तो अवध ही है, पर परिस्थिति विशेष में युद्ध भी धर्म हो सकता है, जब लड़ाई के सिवा कोई रास्ता न हो; जब धर्म ही एक तरह से युद्ध की ओर प्रेरित कर रहा हो। इसे ही **महाभारत** में 'धर्मयुद्ध' की स्थिति कहा है। यहाँ संजय से संवाद में युधिष्ठिर ने युद्ध को परिस्थितिविशेष-स्थित, परिस्थितिविशेष-मर्यादित के रूप में देखा है। तभी इसे युधिष्ठिर 'आपत्' धर्म कहते हैं। बिगड़ी हुई परिस्थिति का धर्म।

अब हम चाहे इसे किसी भी रूप में धर्म्य मानें, इसे हम अहिंसा तो कदापि नहीं कह सकते। पर मैं समझता हूँ किसी अर्थ में इसे आनृशंस्य कह भी सकते हैं। हम कह सकते हैं कि आनृशंस्य अवध को आदर्श मानते हुए भी धर्म की रक्षा के लिए युद्ध को अनुचित नहीं समझता। इसी प्रसंग में कृष्ण संजय से कहते हैं : "कोई बल के प्रयोग से जब किसी दूसरे की भूमि का लोलुप हो जाता है तो समझना चाहिए उस पर विधि कुपित है। वह नृशंस होता है। ऐसी ही स्थिति में राजाओं के बीच युद्ध होता है–ऐसी ही स्थिति में धनुष, शस्त्र, कवच इनकी उत्पत्ति हुई है। इन्द्र ने स्वयं दस्यु-वध के लिए इसे (युद्ध को) धर्म का मार्ग बनाया था; कवच, शस्त्र और धनुष का सहारा लिया था–*यदा गृध्येत्परभूमिं नृशंसो विधिप्रकोपात्बलमाददानः। ततो राज्ञां भवति युद्धः तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च॥*"

और युद्ध की स्थिति में धर्म-चयन की कसौटी अवध नहीं रह सकती। धर्म विपरीत गति ले लेता है। वध को वैध बना देता है। कृष्ण कहते हैं कि कसौटी यहाँ अवध नहीं सत्य हो जाती है, जिसे पिछले उपाख्यान में अवध के आगे त्याज्य माना गया था। पर सत्य का यहां क्या अर्थ? वह अर्थ तो नहीं उभरता जो पिछले उपाख्यान में है–तथ्य-कथन। लगता है यहां सत्य का अर्थ न्याय है– अधर्म से धर्म की रक्षा। इस अर्थ में 'सत्य' को यहां धर्म की मर्यादा को बचाने का दूसरा नाम कह सकते हैं। धर्म की मर्यादा पर आघात हो रहा हो तो धर्म की रक्षा सत्य है। युद्ध आघात का प्रतिघात है। सत्य को यहां 'सत्य वचन' के अर्थ में भी न्याय से जोड़ सकते हैं। कौरवों ने वचन दिया था कि पाण्डव शर्त पूरी करेंगे तो राज्य लौटा दिया जाएगा; पर अब अपने वचन को असत्य कर रहे थे–अन्याय कर रहे थे।

कृष्ण कहते हैं : "पाण्डवों का जो निर्णीत भाग है उसे दूसरों ने हठात् छीन लिया है, हमें नहीं सौंपते तो इस बात पर युद्ध करते हुए हमारा वध भी हो जाए तो श्लाघ्य है–हम अपना पैत्रिक राज्य चाहते हैं, उसे वापिस लेना हम दूसरे के राज्य को हथियाने से कहीं बड़ा समझते हैं–*भागः पुनः पाण्डवानां निविष्टस्त नोऽकस्मादाददीरन्परे वै। अस्मिन्पदे युध्यतां नो वधोऽपि श्लाघ्यः पित्र्यः परराज्याद्विशिष्टः॥*"

इस प्रसंग में संजय के आगे कुछ धर्मों को कृष्ण श्रेय की कोटि में रखते हैं; इनमें अवध की गिनती नहीं है। पहला धर्म सत्य है। कृष्ण यहां अकर्म या निष्कर्म–निवृत्ति–के ऊपर कर्म-प्रवृत्ति को एक ओर निसर्ग-सिद्ध और दूसरी ओर श्रेयस्कर, इन दोनों तरह से धर्म्य बताते हुए सत्य को प्रवृत्ति के साथ जोड़ते हैं, निवृत्ति के साथ नहीं। एक रूपक सा बाँधते हुए प्रवृत्ति के निसर्ग-सिद्ध होने का 'प्रमाण' देते हैं। कहते हैं कि जगत् का छन्द चरिष्णु है और कर्म से ही बना रहता है–सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि ये कर्म से ही जगत्-व्यापार का प्रवाह बनाए रखते हैं। सत्य के श्रेयस् होने की बात वे राजा के रूप में इन्द्र के कार्य का गौरव बताते हुए प्रकट करते हैं। कहते हैं कि इन्द्र इन धर्मों में रत रहते थे : सत्य, धर्म, अप्रमाद, आत्मसंयम, कष्ट और पीड़ा के प्रति सहनशीलता, समता और प्रिय-साधन। इन्द्र ने अपने सुख का और अपनी मनचाही इच्छा की पूर्ति का त्याग किया इसलिए वे अपने निःस्वार्थ और परार्थ-भावना से किए गए कर्मों से देवों के राजा हुए–"*हत्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप। सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियं च॥ एतानि सर्वाण्युपासमानो देवराज्यं मघवान्प्राप मुख्यम्॥*"

धर्मों की इस तालिका में दो बातें हैं–एक ओर कर्म-कर्त्ता के लक्षण हैं, ऐसे जो उसे 'पात्र' बनाते हैं–कर्म का सच्चा 'अधिकारी' ठहराते हैं। ये लक्षण कर्तृत्व के आदर्श को निष्काम-निरंहता में स्थित करते हैं–अपने सुख का, अपने स्वार्थ का त्याग, जागरूकता, सहनशीलता। दूसरी ओर कुछ साधारण या 'परम' धर्म हैं। सत्य पहला है। 'अवध' नहीं है। उसका स्थान समता ले लेती है–और यों सत्य के साथ होती हुई सत्य के 'न्याय' अर्थ को पुष्ट करती है; समता न्याय का आधार है। तीसरा है–'प्रिय'–अन्य या पर का प्रिय-साधन। इसे प्रभव की कोटि में रखा जा सकता है। ये राजा के धर्म कहे जा सकते हैं–यहां प्रभव के साथ अवध की जगह समता या न्याय है।

यह भी उभरता है कि कृष्ण के लिए प्रश्न यहाँ भी धर्म-विभाग का है। धर्म-विभाग को ध्यान में रखते हुए परिस्थिति के अनुकूल उचित धर्म के चयन का ही प्रश्न है, पर यहाँ जिस धर्म को वे कर्म के औचित्य का आधार मानते हैं वह सत्य है, समता है–जिसे हम 'न्याय' का पर्याय समझ सकते हैं–अवध या अहिंसा नहीं है। पर प्रभव भी है यहां। प्रश्न होगा कि माना, न्याय और न्याय के साथ प्रभव भी राजा का धर्म होना ही चाहिए, पर कहानी के दारुण युद्ध के संदर्भ में प्रभव यहां साध्य कैसे कहला सकता है? किसका प्रभव? कैसा प्रभव? यों तो कहानी के संदर्भ को व्यापक करें तो प्रकट है कि भूति–भलाई–और स्वस्ति का ध्यान इस परिस्थिति के उलझाव में पड़े-पड़े भी कृष्ण को और कई प्रधान पात्रों को है। कृष्ण अन्त तक कोई परस्पर भाव से सुलझाव हो जाए इस चेष्टा में लगे रहे थे। कौरवों की सभा में स्वयं दूत बन कर गए; अकेले, निस्सहाय गए, यह जानते हुए भी कि संघर्ष की स्थिति है और ऐसे

में शत्रु की सभा में जाना आफ़त मोल लेना है। उनके ध्यान में परस्पर-भाव की डोर को कतरने वाला कीट दुर्योधन था; वे मानते थे—और कौरव-सभा में कहते भी हैं कि दुर्योधन को निश्चेष्ट कर दिया जाए तो झगड़ा मिट जाएगा। यही बात यहाँ इस उपाख्यान में भी कहते हैं : "अगर कोई कौरवों में प्रज्ञाशील, सभी धर्मों को समझने वाला (धर्म-विभाग में कुशल), श्रेयस् का मर्म समझने वाला हो तो उसे चाहिए कि (सारी परिस्थिति को) जानते-तोलते हुए वह उस दुष्ट (दुर्योधन) का अनुशासन करे; दुर्योधन लोलुप हो रहा है, ठीक काम नहीं कर रहा है—*श्रेयांस्तस्माद्यदि विध्येत कश्चिदभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः । स तं दुष्टमनुशिष्यादपजानन्न चेद्गृध्येदिति तस्मिन्न साधु ॥*" इतना कहने के बाद ही कृष्ण ऐसे मनुष्य को नृशंस बताते हैं जो पर-भूमि का लोलुप है : *"गृध्येत् पर भूमिं नृशंसो ।"* और प्रकट ही आनृशंस्य का उनके लिए यह ध्येय भी है कि नृशंस का निराकरण किया जाए; आवश्यक हो तो वध भी। नृशंस के लिए जो दूसरे पर्याय इस प्रसंग में आए हैं उनसे भी यह अभिप्राय स्पष्ट है : नृशंस को 'दस्यु' भी कहा गया है। आततायी। आततायी से धर्म की रक्षा करना भी आनृशंस्य है। पर फिर भी प्रश्न रह जाता है कि युद्ध से न्याय-सिद्धि की बात मान भी लें तो भी प्रभव का तो उससे सम्बन्ध नहीं बैठता—कैसा प्रभव? किसका प्रभव?

पर इस संवादमय उपाख्यान से इतना स्पष्ट है कि धर्म की गाँठ यहाँ भी परिस्थिति के सूत्रों से बँधी है। युधिष्ठिर और कृष्ण दोनों मानते हैं कि देश-काल-पात्र की तुला पर भिन्न धर्मों को सामने रखते हुए ही धर्म की पकड़ बनती है, इति-कर्त्तव्यता का उचित अध्यवसाय किया जा सकता है, और इसके लिए परिस्थिति की, उसमें फँसे मनुष्य की आँक-तोल किसी भी निर्णय के लिए आवश्यक है। परिस्थिति की आँक-तोल का यहाँ भी वही आधार ठहरता है जिसे मैंने पीछे वासना के नाम से परेखा-फैलाया था। वासना ही यहाँ जैसे युद्ध को अनिवार्य सा बनाती है—सामने खड़ा देखती है। मैंने पीछे कहा था कि धर्म अगर स्वार्थ की नहीं परार्थ की साधना है तो परार्थ क्या हो, वासना ही इसका द्वार खोलती है। न्याय हो, यह मनुष्य होने के स्वभाव में ही निहित है। और मनुष्य की परिस्थिति-विशेष न्याय के लिए युद्ध को अनपवार्य सा कर देती है। पर इससे यह दिखता है कि परार्थ का मानो देख-समझ कर ही निषेध भी किया जा रहा है, परार्थ यहाँ असाध्य सा हो जाता है। धर्म ही नृशंस बनता लगता है। अधर्म से उसका भेद-सूत्र ही टूटता लगता है। लेकिन हम यह भी नहीं कह सकते कि यहाँ स्वार्थ परार्थ पर भारी ठहर रहा है। इस बात को भी कहानी ही दिखाती है—कहानी में निहित मनुष्य-बोध दिखाता है। **महाभारत** का अब तक का घटनाक्रम ही बताता है कि जो अब युद्ध की ओर उद्यत हैं वे 'स्वार्थी' नहीं कहे जा सकते।

फिर यह भी सोचिये कि धर्म का आधार जहाँ समता का तत्त्व हो वहाँ इति-कर्त्तव्यता के विचार के लिए आत्म और पर को क्या बराबर की तुला में नहीं रखना

होगा? समदृष्टि से नहीं देखना होगा? इसीलिए मैंने पीछे 'न्याय' को 'समता' के साथ रखा था—समता को न्याय का आधार कहा था। प्रश्न हो सकता है कि अगर यही बात है तो यहाँ धर्म को आनृशंस्य का नाम ही क्यों दिया जाए? पिछले लेख में आनृशंस्य का लक्षण करते हुए उसे अवध के साथ प्रभव की परार्थ-उन्मुख प्रवृत्ति पर आधारित कहा गया था। क्या आनृशंस्य यहाँ उसी कर्म की मांग नहीं करता जिसका संजय ने युधिष्ठिर को सुझाव दिया—हथियार डाल दो, भिक्षाचर हो जाओ। संजय अवध और प्रभव के परार्थ-भाव ही की तो दुहाई दे रहे थे। उनकी बात को अनुचित कहते हुए क्या युधिष्ठिर अपने आनृशंस्य के परम आदर्श को भी नहीं ठुकरा रहे थे?

यहाँ उत्तर के एकाधिक रास्ते निकाले जा सकते हैं। एक उत्तर वह हो सकता है जो कृष्ण की बात से झलकता है। इस प्रसंग में अपने कर्म का औचित्य जताते हुए कृष्ण ने नृशंस-भाव से लोहा लेने की बात कही है। और हम आनृशंस्य को नृशंस भाव के अभाव के ही रूप में नहीं उसके विरोध के रूप में भी देख सकते हैं। पर यह उत्तर हमें किसी भी गहरी दृष्टि से उथला भी लग सकता है—यह औचित्य के मर्म में नहीं उतरता, आनृशंस्य के तत्त्व से, उसकी प्रवृत्ति की आत्मा से विमुख लगता है। क्योंकि आनृशंस्य को हमने जिस रूप में परखा था उसमें आनृशंस्य नृशंस-भाव का—वध का, विशेषकर मनुष्य-वध का—*निषेध*-मात्र नहीं है। ऐसा हो तो निवृत्ति-मार्गी अहिंसा से आनृशंस्य का क्या अन्तर रह जाएगा? इसीलिए हमने उसे अभ्युदय के साथ रखा था—कृष्ण की ही धर्म-प्रज्ञा का सार सामने रखते हुए उसमें अवध—अहिंसा—के साथ प्रभव का भी समावेश किया था। पर यहाँ हम क्या यह नहीं देख रहे हैं कि अवध के साथ प्रभव को भी तिलांजलि दी जा रही है? युद्ध में, और ऐसे युद्ध में जिसके बारे में संजय कहते हैं कि जय हो या पराजय हाहाकर एक सा होगा, उसमें प्रभव ही क्या किसी भी श्रेयस् को कहाँ ढूँढ़ा जा सकेगा? *"सोऽहं जये पराजये च निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित्"* —ऐसा कहते हुए संजय यह लांछन लगाते हैं कि जिस कर्म की ओर युधिष्ठिर झुक रहे हैं वह कामार्थ है—अपने स्व की कामना की पूर्ति के लिए किया जा रहा है—स्वार्थ प्रेरित है—उसमें प्रभव या परार्थ की कोई बात नहीं। कामार्थ की प्रेरणा से धर्म का त्याग अधर्म ही हो सकता है; धर्मशील काम की पूर्ति के लिए धर्म का त्याग नहीं करते -" *न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मम्*"

एक बात और सोचिये। पिछले उपाख्यान में जब अवध को धर्म का सार कहा गया था तब यह भी कहा गया था कि अवध के आगे सत्य को झुठलाया जा सकता है। तो क्या अब सत्य के नाम पर जिस धर्म की दुहाई दी जा रही है उसे हम सचमुच आनृशंस्य कह सकते हैं? धर्म भी कह सकते हैं?

लेकिन दूसरी ओर विचार यह भी कहता है कि क्या नृशंस-भाव का विरोध किए बिना कोई धर्म धर्म कहला सकता है? क्या धर्म केवल विधि है, उचित का

करना है? अनुचित का निषेध, उसका विरोध क्या धर्म नहीं है? नहीं है तो फिर न्याय को भी हम धर्म की कोटि में नहीं रख सकते।

अधर्म-विरोध के प्रश्न पर यहाँ कुछ विचार किया जा सकता है। धर्म-सम्बन्धी एक विचारधारा ही नहीं, एक धर्म-दृष्टि ही ऐसी लगती है जो धर्म के स्वरूप में अधर्म-विरोध को रखने से कतराती है। अपने 'परम' या उत्कट रूप में इस दृष्टि के विचार-बीज को बढ़ाया जाए तो यहां तक कहा जा सकता है कि अधर्म की, पाप की कोई अपनी सत्ता होती ही नहीं है। हाँ, धर्माभाव हो सकता है। पर धर्माभाव की अपनी सत्ता नहीं होती। धर्म के अभाव का अपना 'होना' कुछ नहीं होता। न्याय-दर्शन की पदावली में कहें तो वह अपने प्रतियोगी धर्म पर ही निर्भर करता है—और यह अभाव ज्ञान-सापेक्ष है। धर्म का अभाव में धर्म के ज्ञान का अभाव होता है, अपने आप में अधर्म कुछ नहीं होता। आशय यह कि धर्म का ज्ञान न हो तो धर्म का अभाव हो सकता है पर अधर्म, पाप, इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। ऐसे में एक विचित्र सा मत—या मत नहीं कहना चाहिए, मनोभाव ही कहना ज्यादा ठीक होगा—मनोभाव यह होता है कि धर्मशील व्यक्ति वही होता है जो अपने भीतर अधर्म या पाप देखता भी हो, पर दूसरे में नहीं देखता। इस उदार भाव में बोध की ध्वनि अधर्म की सत्ता के निषेध की ओर ही झुकती है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि हममें अधर्म-भाव सहज है, जो हमारी सत्ता की गहराई तक उतर जा सकता है, और जिसका निवारण हमारी जिजीविषा की, हमारी चित्त-प्रवृत्ति की गंभीर चेष्टा की मांग करता है—क्योंकि बात केवल धर्म का ज्ञान न होने की नहीं होती, बात हमारे स्वभाव में पैठे अधर्म-भाव या अधर्म-वृत्ति की होती है। धर्म क्या है यह जानते हुए भी हम अधर्म में प्रवृत्त होते हैं—दुर्योधन का कथन प्रसिद्ध है : *जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः*।

पर जिन के लिए अधर्म की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उनके लिए अधर्म के विरोध में *युद्ध* की बात नहीं उठ सकती। धर्म के अभाव को दूर करने की बात उठ सकती है। पर धर्म का अभाव धर्म का अज्ञान है। चेष्टा उसीको दूर करने की होनी चाहिए। यह संस्कार और शिक्षा की बात है युद्ध की नहीं। अधर्म को धर्म के ज्ञान का अभाव कहने वाला यह मान सकता है कि धर्म का ज्ञान होते हुए भी मोह से अधर्म हो जा सकता है। पर इस मोह का 'आवरण' भी ज्ञान से ही दूर हो सकता है। उसे दूर करने के लिए 'अधर्म का युद्ध द्वारा निवारण' जैसी कोई बात नहीं उठनी चाहिए। ऐसी दृष्टि भी संजय की तरह युद्ध जैसी चेष्टाओं का विरोध करती है। पर यह विरोध इस दृष्टि में असंगत सा ही बैठता है। क्योंकि युद्ध को भी यह दृष्टि दृढ़ कण्ठ से 'बुरा' नहीं कह सकती; किसी भी कर्म को नहीं कह सकती। यही कह सकती है कि अच्छा नहीं है। वह भी दबी ज़बान से ही। यह दृष्टि मानो युद्ध को—या किसी भी दुष्कर्म को—कर्म के रूप में नहीं, *क्रिया* के रूप में देखती है—चाहे उसे 'दुर्भाग्य' से घटित क्रिया कहे। *क्रिया* में स्वरूप से ही धर्माभाव होता है, जैसा सूरज की गति में

जाएगा। ऐसे धर्म-विभाग में धर्म-विरोध–धर्म के भीतर *स्वरूपगत* विरोध–ही आगे खड़ा मिलेगा। हमारी गुत्थी आनृशंस्य की नहीं है, धर्म के स्वरूप की है।

लगता है कि धर्म-विभाग ही नहीं विभक्त धर्मों का वैषम्य भी धर्म के स्वरूप में ही निहित है। धर्म-संकट धर्म का स्वरूप-संकट है। धर्म-विभाग में धर्म-चयन की समस्या ऐसा रूप ले सकती है कि किसी धर्म का स्वीकार और दूसरे का त्याग, धर्म का ही त्याग ठहर सकता है। आनृशंस्य की परम धर्म के रूप में धारणा यह नहीं कहती–कह नहीं सकती–कि परिस्थिति-विशेष में अवध को आनृशंस्य के अनुकूल ठहराते हुए सत्य के त्याग का अर्थ यह है कि सत्य को धर्म की कोटि से ही निकाल दिया जाए। न कृष्ण के युद्ध-स्वीकार का यह आशय था कि सत्य का स्वीकार आनृशंस्य का निषेध है। ऐसा उनका आशय हो ही नहीं सकता था। कृष्ण युद्ध टालने की ही चेष्टा करते रहे। कृष्ण के लिए–या आनृशंस्य को परम धर्म मानने के साथ एक गहरे अर्थ में धर्म-विभाग को भी मानने वाले किसी भी धर्मशील व्यक्ति के लिए–मैं समझता हूँ प्रश्न यही हो सकता था कि क्या सत्य और समता में प्रवृत्त होते हुए अवध को भी किसी तरह स्थान दिया जा सकता है या नहीं? क्या विनाश की सम्भावना से जूझते हुए युद्ध की स्थिति में भी प्रभव को किसी रूप में बचाया जा सकता है या नहीं? धर्म की सर्वथा विपरीत परिस्थिति में भी अवध और प्रभव की चिन्ता, उसका सार्थक व्यवहार–यही यहाँ आनृशंस्य का अर्थ हो सकता था। और इस अर्थ में हम पाते भी हैं कि कृष्ण और युधिष्ठिर ही नहीं, दोनों युद्धशील पक्ष आनृशंस्य की रक्षा करने की चेष्टा करते हैं। 'निहत्थे को नहीं मारा जाएगा, रात को युद्ध नहीं होगा, छल-कपट नहीं किया जाएगा', ऐसे नियम–या धर्म–बनाए जाते हैं, या बिना बनाए स्वीकार किए जाते हैं, और इनके टूटने पर 'अधर्म' कह कर आक्रोश जताया जाता है–जैसा द्रोण के वध पर हुआ।

पर यहाँ एक तीखा सवाल किया जा सकता है, जो हम पहले भी उठा चुके हैं। हम पूछ सकते हैं कि धर्म-विभाग धर्म को यों स्वरूप-संकट में डाल देता है तो धर्म-विभाग की क्या सार्थकता? यों भी परम-धर्म की या धर्म के किसी भी विशुद्ध 'एक' स्वरूप की धारणा धर्म-विभाग की धारणा के साथ संगत नहीं है।और धर्म में एकत्व होना ही चाहिए। तो धर्म-विभाग का क्या काम? धर्म-विभाग की धारणा धर्म को अनेक मान कर चलती है और धर्म को अनेक मानने में ही संकट का बीज समाया है। धर्म के भीतर ही धर्म-विरोध पैठ जाता है, धर्म को अधर्म से दूषित कर देता है। असम्भव बना देता है। धर्म की बात ही निस्स्वभाव ठहरती दीखती है। क्योंकि जिसका प्रत्यय स्वरूप में ही स्वतो-विरोध से ग्रस्त हो वह उपपन्न ही कैसे हो सकता है, उसकी अपनी कोई सत्ता बन ही कैसे सकती है? इसलिए धर्म के साथ–या परम-धर्म के साथ कह लीजिए–धर्म-विभाग की या धर्म के अनेक होने की बात ही नहीं जोड़ी जानी चाहिए। धर्म एक ही हो सकता है; उसे ही चाहें तो परम-धर्म कह लें,

क्योंकि धर्म और परम-धर्म, यह भेद ही मिथ्या है। भ्रान्त है। धर्म में धाँधली की जड़ है।

धर्म और धर्म का विचार दोनों ही ऐसे मत की ओर सहज ही आकृष्ट होते हैं। और धर्म की इस धारणा में धर्म-संकट भी बीज समेत टल जाता है; उसका प्रश्न सिर ही नहीं उठा सकता। पर क्या हम ऐसे मत को मान सकते हैं? विरोध करें तो तर्क क्या देंगे? हमने पहले ही कहा है कि इसके विरुद्ध तर्क हमारा अनुभव ही हो सकता है। वैसा ही अनुभव जैसा अर्जुन को युद्ध के ठनते समय हुआ। या संजय-संवाद के इस प्रसंग में जो महाभारतकार के मन में है, युधिष्ठिर और कृष्ण के मन में भी है ही—संजय के मन में भी है। युद्ध किया जाए या नहीं, ये इन तीनों के मन में नितान्त अप्रश्न नहीं हैं, चाहे वे युद्ध को धर्म ठहरा रहे हों या अधर्म। फिर भी विचार के—और संकल्प के भी—स्तर पर धर्म के स्वरूप की ऐसी कल्पना की जा सकती है कि धर्म-संकट का होना ही धर्म-च्युति का संकेत हो। या और भी जोर दे कर हम कह सकते हैं कि धर्म-संकट उसी को होता है जो धर्म में स्थित नहीं है। पिछले अध्याय के कौशिक मुनि को लीजिए। वे सत्य में स्थित थे, सत्य में स्थित रहे। उन्हें ऐसे समय, जिसे हम धर्म-संकट की अवस्था कह रहे हैं- ऐसे समय में भी उन्हें तो कोई धर्म-संकट नहीं हुआ।

इसका एक कारण यह था कि कौशिक धर्म के साथ धर्म के फल या परिणाम को नहीं जोड़ते। अब पता नहीं कौशिक ने धर्म के स्वरूप पर क्या विचार किया था, या किया भी था कि नहीं, पर उनके कर्म का एक समर्थन यह हो सकता है—और धर्म का ऐसा समर्थन किया भी गया है—कि धर्म का उस जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं जहाँ परिणाम होते हैं। धर्म तो चेतना के स्वतन्त्र स्वरूप का शुद्ध शिव संकल्प है, हमारा कर्म उसमें स्थित रहना चाहिए, यही धर्म की इति-कर्त्तव्यता है। परिणाम जिस जगत् में होते हैं उसका स्वरूप कुछ और है, वह अपने अलग नियमों से चलता है। इसे जड़ कह लीजिए—कार्य-कारण-भाव से जकड़ा हुआ—या मिथ्या कह लीजिए, या किसी अर्थ में स्व-प्रतिष्ठ कहिये, इसकी अपनी अलग गति है, जिसका धर्म की गति से कोई सम्बन्ध नहीं। जिन शब्दों का हम पीछे प्रयोग करते आए हैं, उनमें कहें तो कह सकते हैं कि धर्म का अपना परमार्थ है और व्यवहार का—उस जगत् का जिसमें हम 'अनुभव' की बात करते हैं—उसका अपना भिन्न स्वरूप है। दोनों किसी सूत्र से जुड़ते नहीं हैं। धर्म अपने परमार्थ में एक और अखण्ड है व्यवहार सौ कर्मों के लिए, जीवन की अपनी मांगों को पूरा करने के लिए, अपनी सी व्यवस्था बनाए रखने के लिए सौ नियम बनाता है, पर इन्हें धर्म नहीं कहना चाहिए। ये नीति की बातें हैं, सुविधा की बातें हैं। धर्म की नहीं।

इस दृष्टि में धर्म-विभाग नहीं बन सकता, इसलिए धर्म-संकट की बात भी अनबनी बात ही मानी जाएगी। पर बात को एक और भी दिशा दी जा सकती है।

क्या धर्म-विभाग को मानते हुए भी यह आवश्यक है कि धर्म-संकट की बात उठे ही? हमने धर्म-विभाग की बात कृष्ण के मुँह से सुनी थी। कृष्ण को भी क्या धर्म-संकट होता है? किस धर्म का कब प्रयोग हो इस विषय में कृष्ण को कोई संशय हो रहा हो, ऐसा लगता नहीं है। शायद एक प्रसंग है, राजधर्म का प्रसंग है, जहाँ कृष्ण भी संशयात्मा के रूप में सामने आते हैं। पर उसकी यहाँ चर्चा नहीं करूँगा। अपने विषय से हम ज्यादा ही छिटक जायेंगे। पर एक बात कहना चाहूँगा। ऐसे बहुत से लोग होते हैं, खास कर उनमें जिन्हें हम कर्मठ या कर्मप्रज्ञ कह सकते हैं, जिन्हें 'क्या करना है?' यह संशय सताता-सा नहीं लगता। कर्म में उनकी अध्यवसाय-बुद्धि—या **गीता** में जिसको 'व्यवसाय बुद्धि' कहा है—वह निष्कंप निश्चय-बुद्धि सचमुच ही 'एकेह'—अडिग, एकाग्र-सी लगती है। स्थिरता से, दृढ़ता से, झट निर्णय करती है। ऐसी स्थितप्रज्ञ जैसी व्यवसाय-बुद्धि नीतिनिष्ठ भी हो सकती है, धर्मनिष्ठ भी। क्योंकि 'अब क्या करना है?' यह प्रश्न धर्म के औचित्य का भी हो सकता है, नीति के औचित्य का भी हो सकता है। कर्मठों के समुदाय में नीतिनिष्ठ ही अधिक दिखते हैं, धर्मनिष्ठ कर्म पर होते हैं। यों तो सही बात यह लगती है कि कर्म के प्रश्न में नीति और धर्म दोनों युगनद्ध से ही होते हैं, पर इतना अन्तर हम फिर भी कर सकते हैं—और कर भी आए हैं—कि नीति कर्म को उपाय के रूप में ही देखकर उसका औचित्य जाँचती है, जबकि धर्म के लिए उपाय और उपेय का भेद सचमुच का -कोटि का—भेद नहीं हो सकता; भेद की एक उपाधि सी ही हो सकती है, क्योंकि धर्म के लिए 'उपाय' का औचित्य किसी 'उपेय' द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता। उपाय भी यहां अपने आप में उपेय ही होता है—धर्म की ही तुला पर तोला जाता है। इसीलिए संजय प्रश्न उठाते हैं कि क्या युद्ध सचमुच धर्म्य हो सकता है, चाहे परिणाम—उपेय (सत्य की विजय) —कितना ही धर्म्य (न्याय्य) क्यों न माना जाए? फिर भी, धर्म में उपाय और उपेय के भेद को चाहे कहने का ही भेद—उपाधिगत भेद—ही कहें, तो भी हम उपेय को प्रधान और उपाय को गौण कह सकते हैं—कर्म का स्वरूप ही एक तरह से उपेयमुखी होता है—एक स्वजन्य नई परिवर्तित परिस्थिति की ओर उन्मुख होता है—और कर्म में व्यवसाय-बुद्धि—चाहे धर्म की हो या नीति की हो—इस बुद्धि के होने का अर्थ ही यह होता है कि वह उपेय को दृष्टि में रखते हुए उस एक ही दृष्टि से उपाय को भी समेट लेती है—क्या करना है, यह तय कर लेती है। इसलिए लग सकता है कि जो वास्तव में धर्मशील होते हैं—धर्मनिष्ठ, धर्मप्रज्ञ होते हैं—उन्हें शायद धर्म-संकट सताता ही नहीं। पर उन्हें धर्म-संकट *सताता* न हो, *होता* ही नहीं, यह मानना मुश्किल है। अन्तर मैं समझता हूँ इतना ही है कि जिन्हें हम कर्मप्रज्ञ और धर्मप्रज्ञ कह रहे हैं, ऐसे लोग संकट में टूट नहीं जाते, ग्लानि और विषाद में नहीं डूब जाते, डूबते भी हैं तो अंतर के किसी ऐसे अगाध में जहां चित्त त्रस्त-क्षुभित नहीं होता। हमने पीछे की चर्चाओं में कहा था कि धर्म-संकट बड़ा वेदनामय होता है। साँस साँस की

साँसत। धर्म-प्रज्ञ को यह साँसत नहीं सताती। पर यहाँ प्रश्न तो सचमुच यह है कि धर्म में संकट होता है या नहीं? होता है तो उसका रूप क्या? उससे क्षुब्ध होना या न होना तो यहां अवांतर बात ही हो सकती है। धर्म-संकट है, इस बात का एक आगन्तुक या बाहरी-सा चिह्न–या चिह्न का अभाव।

फिर भी, धर्म-विभाग मानते हुए भी, धर्म-संकट के वास्तव अभाव की स्थिति भी कृष्ण के लिए सम्भव लग सकती है। पर यह इसलिए कि वे मनुष्य नहीं, ईश्वर के अवतार हैं और यों सर्वज्ञ हैं। उन्हें इस रूप में देखते हुए ही उन्हें धर्म-संकट से अछूता रखा जा सकता है। वे समस्त कर्म-प्रवाह का *अन्तिम* अवसान और 'फल' जानते हैं, और यह जानते हैं कि वह अशिव नहीं है। धर्म-विभाग करते हुए किस धर्म का कब प्रयोग समीचीन है, किससे प्रभव होगा, इस निर्णय का आधार धर्मप्रज्ञा का परिणाम-दर्शन होता है–जो कृष्ण में स्वरूप से है। पर *हमारे* लिए तो समस्या बनी ही रहती है। हम किसी अन्तिम परिणाम का दर्शन नहीं कर सकते। अभी आनेवाले परिणाम का भी कितना दर्शन कर सकते हैं? परिणाम-दर्शन की एक विचित्र समस्या है, जिसे विचार सहज ही प्रस्तुत कर देता है। परिणाम पर विचार का परिप्रेक्ष्य क्या हो? किसी भी परिस्थिति का परिणाम एक नई परिस्थिति होगी। आने वाली परिस्थितियों की श्रृंखला को आँकना संभव नहीं। इसलिए भी नहीं कि हम अगली परिस्थिति को ही कितना समझ सकते हैं? परिणाम में होने वाली अगली परिस्थिति को–उसके 'प्रभव' को–देखते हुए ही अगर धर्म का औचित्य परखना हो तो यह भी परखना होगा कि उस आने वाली परिस्थिति को हम किस रूप में देखें, कितने बड़े रूप में, देश-काल-पात्र के किस परिप्रेक्ष्य में देखें? उससे अगली परिस्थितियों को भी कुछ तो परखना ही होगा, क्योंकि उनका अनदेखा भी नहीं किया जा सकता, पर कहां तक परखें? उनका घेर, देश-काल-पात्र में फैलाव, हमारे लिए ओझल ही रहता है।

हमारी बुद्धि के लिए परिप्रेक्ष्य की परिधि बहुत सीमित ही हो सकती है। और इस सीमा के भीतर भी प्रश्न होता है कि जो देख भी पा सकते हैं, *उसकी* सीमा क्या रखें? काहे का अनदेखा करें? युद्ध करना ही हो, तो वध का अनदेखा भी करना ही पड़ता है। पर इन बातों के होते हुए भी एक सीमा तक आगे हम देखते ही हैं, नहीं तो कर्म के भविष्य-मुखी होने का कोई अर्थ ही नहीं होगा। पूरा तो अवतार की बुद्धि ही देख सकती है।

पर अवतार भी मनुष्य रूप में कर्म करे तो भविष्य के प्रति क्या दृष्टि रखे? (और कर्म तो वह मनुष्य रूप में ही कर सकता है)। परिप्रेक्ष्य का यह प्रश्न उसके लिए भी उतना ही संगत होगा जितना हमारे लिए है। यहाँ मैं दो सवाल उठाना चाहूँगा। पहला यह है कि हम जितना भी परिप्रेक्ष्य ध्यान में रख सकते हों, क्या कर्म करते हुए उस सारे परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ही कर्म करना चाहिए? आप कह सकते हैं कि

इसमें प्रश्न की बात ही क्या? परिप्रेक्ष्य तो जितना हो सके पूरा ही ध्यान में रहना चाहिए। पर इतना सोचिये कि जितना थोड़ा भी परिप्रेक्ष्य हमारे ध्यान में रह सकता है, वह भी क्या सचमुच पूरा–सचमुच अपनी सम्पूर्णता में हर छोटी-छोटी घटना को समेटे हुए–पूरा का पूरा ध्यान में रह सकता है? रह सकता तो हम अवतार होते–सर्वज्ञ होते–क्योंकि एक हद तक ही सही, अगर परिप्रेक्ष्य किसी कालखण्ड में भी पूरा का पूरा हमारी दृष्टि में रह सकता है तो तभी रह सकता है अगर प्ररिप्रेक्ष्य की हमारी दृष्टि असीम हो–हम सर्वज्ञ हों। पर परिप्रेक्ष्य का पूरा ज्ञान हो तो हमारे कर्म करने का ही कोई अर्थ नहीं होगा। परिप्रेक्ष्य विगत और वर्तमान को ध्यान में रखते हुए आगत को भाँपने की चेष्टा होती है। आगत का हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान हो तो फिर आनेवाले काल की घटनाओं को पहले से तय मानना होगा। कर्म की बात ही नहीं उठेगी। कर्म की चेष्टा आगत के *निर्माण* की चेष्टा होती है, आगत पूर्व-निर्मित हो तो कर्म ही कैसा? हां, हम परिप्रेक्ष्य बनाते हैं–उसके बिना तो कर्म अविचारित होगा, अंधा होगा, क्रिया जैसा ही कुछ होगा। परिप्रेक्ष्य को हम किसी अर्थ में 'पूरा' भी बनाना चाहते हैं - परिणाम को सफल बनाने के लिए जितना जानने योग्य है उस *समूचे* का ज्ञान हमारा लक्ष्य होता है। 'पूरे' का यहां एक और भी गभीरतर अर्थ देखा जा सकता है। जिस परिणाम-दर्शन के लिए हम परिप्रेक्ष्य बनाते हैं उस परिदृष्टि में एक अपेक्षा रहती है जिसे जगत् के 'पूरेपन' की अपेक्षा कह सकते हैं। हम में एक गहरी आस्था रहती है कि जगत् किसी अनाख्येय अर्थ में एक 'पूरा' अवयवी है, घटनायें सामान्य रूप से वैसी ही होती रहेंगी जैसी होती चली आई हैं। इसे भी एक तरह का 'पूरेपन' का बोध कह सकते हैं। इस बोध में एक अगाध उत्प्रेक्षा है, एक अतल-ग्राह्य अर्थ में जगत् के सम्पूर्ण होने की अटल कल्पना है जिसके बिना भी कर्म का कोई अर्थ नहीं बनता। इसी को ऊह्य रखते हुए अनुमान सम्भव होता है और कर्म में 'परिप्रेक्ष्य' की बात सार्थक होती है। इस पूरेपन को ध्यान में रखते हुए ही सर्वज्ञ की कल्पना होती है–जो किसी अर्थ में इसके बाहर होता है। इस पूरेपन का भूत-भविष्य-वर्तमान में विभाजन नहीं हो सकता है, न इसके ऐसे अवयव बनाए जा सकते हैं जिन्हें निर्धारित घटनायें कहा जा सके। पर *हम* इस कल्पित पूर्ण के भीतर रहते हैं। अपने वर्तमान से बँधे रहते हैं। हमारे लिए भविष्य अज्ञात ही रहता है–घटनाओं को *अपनी तरह* आँकते हुए उनकी सम्भावनाओं का ही हम परिप्रेक्ष्य बनाते हैं। पर सर्वज्ञ के लिए भविष्य भविष्य ही नहीं–उसके लिए 'कर्म' की ही कोटि नहीं बनती। उसके लिए काल में विगत-वर्तमान-आगत का भेद ही नहीं उभरता। *हमारे* जीवन-यापन का वर्तमान ही यह भेद बनाता है और वही परिप्रेक्ष्य भी साधता है जहां आगत अनिवार्यतः अज्ञात पर निर्मेय होता है। हमारे लिए वर्तमान ही परिप्रेक्ष्य का केन्द्र होता है। वर्तमान में रहते हुए, उसे अन्यथा करते हुए हम आगत साधते हैं–विगत से आते घटना-प्रवाह को लक्ष्य में रखते हुए निरंतर आगत-निर्मिति का प्रयास करते

रहते हैं। जब हम 'पूरा' परिप्रेक्ष्य ध्यान में रखने की बात करते हैं तो 'पूरा' शब्द को लक्षणा में ही लेते हैं। तात्पर्य सर्वथा पूरे से हो ही नहीं सकता। उतने से ही होता है जितना अधूरा सा भी हम ध्यान में 'पूरी तरह से' बना कर रख सकें–'युक्त और संगत' कर्म-विचार के लिए जितने विगत, वर्तमान और सम्भावित आगत का 'पूरा और ठीक' ज्ञान कर सकें। अपने कर्म को किसी उपेय का उपाय बनाने के लिए यह अनिवार्य भी है। कर्म करते करते हमारा वर्तमान आगे की ओर बढ़ता रहता है तो हमारा परिप्रेक्ष्य भी बदलता रहता है–ध्यान में रखना होता है कि हमारे क्रियमान कर्म से आने वाली परिस्थिति, जो अभी आई नहीं है, और जिसके लिए कुछ और होने की सम्भावना का द्वार अभी खुला है, वह कैसे देखी-समझी जाए।

कर्म का औचित्य-विचार करते हुए एक बात और भी ध्यान में रखना ठीक जान पड़ता है। पूरे परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखने का उद्देश्य प्रभव-दृष्टि को ही, स्वस्ति, मंगल, अभ्युदय इनकी पुष्टि को ही अधिक से अधिक प्रशस्त करना है। तो फिर इस अभ्युदय का स्वरूप क्या हो? यह प्रश्न भी स्वाभाविक होगा। और अभ्युदय को तोलते हुए धर्म-अर्थ-काम, इन तीनों का 'उदय'–विकास–ही लक्ष्य होगा। अब ऐसे अभ्युदय का अर्थ क्या? यह एक अलग प्रश्न हो जाता है। अभ्युदय के आदर्श भिन्न हो सकते हैं। और यहीं यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या अन्याय से साधा गया अभ्युदय सचमुच अभ्युदय हो भी सकता है? या इस प्रश्न को यों देखें–हमारा उद्देश्य इतना तो रहेगा ही कि उदय केवल अर्थ और काम का ही न हो, धर्म का भी हो, और फिर क्या उपाय के धर्म्य-अधर्म्य होने की उपेक्षा करते हुए हम धर्म का अभ्युदय साध सकते हैं? मनुष्य का भविष्य सँवारने की ऐसी भी दृष्टियाँ हैं जो केवल अर्थ-काम को ही दृष्टि में रखती हैं, धर्म को छलावा मानती हैं, या अर्थ-काम के ही किसी न किसी अर्थ में अधीन। पर यह धर्म की नहीं नीति की बात है–ऐसी नीति जो बृहस्पति के नाम पर चलती आई है–जहां धर्म के दिखावे को भी नीति में शामिल कर लिया जा सकता है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। पर हम आनृशंस्य के सन्दर्भ में जिस प्रभव की बात कर सकते हैं, या धर्म-मात्र की बात करते हुए जिस अभ्युदय को धर्म की तुला बना सकते हैं वह नीति मात्र नहीं हो सकता–उपाय के धर्म्य होने की उपेक्षा नहीं कर सकता। धर्म की बात करते हुए विचार की कोटि में यह प्रश्न भी आता ही है कि क्या आगे की परिस्थिति के लिए अभी की इस परिस्थिति के कर्म को 'उपाय' मात्र समझ लेना उचित होगा? उसमें भी 'उपेय' होने का स्वभाव तो होना ही चाहिए–'अनुपेय' तो वह नहीं ही हो होना चाहिए, क्योंकि जो कर्म अपने आप में धर्म्य नहीं होगा वह आगे की परिस्थिति में धर्म कैसे साध सकता है?

ये प्रश्न सच पूछिए तो प्रश्न इसलिए बन जाते हैं क्योंकि हम कितनी भी परिस्थिति का विस्तार विचार की आँख के सामने रखें कभी सचमुच सम्पूर्ण को ध्यान में नहीं रख सकते। मैंने ऊपर दो प्रश्नों की बात की थी और यहीं दूसरा प्रश्न

सिर उठाता है। सम्पूर्ण का ध्यान सर्वज्ञ रख सकता है, तब क्या सर्वज्ञ के लिए कर्म के औचित्य की समस्या उठ भी सकती है? जब सर्वज्ञ की बात होती है तो उसे हम सर्वशक्तिमान भी मान कर चलते हैं। पर यह आवश्यक नहीं। हो ही सकता है कि कोई सब कुछ जानता हो, कर कुछ भी नहीं कर सकता हो। पर एक कल्पना यहाँ हम और भी कर सकते हैं कि कोई ऐसा सर्वज्ञ हो जो कर्म तो कर सकता हो, पर कर्म सीमित शक्ति से ही कर सकता हो—मनुष्य की तरह ही कर्म कर सकता हो, सर्वशक्तिमान न हो, सीमित शक्तिमान हो। कृष्ण जैसे अवतारों को शायद हम इस रूप में भी देख सकते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति जब कर्म करे तो भविष्य के प्रति क्या दृष्टि रखेगा? भविष्य को ध्यान में रखना उसके लिए आवश्यक नहीं है। भविष्य तो वह जानता ही है। इसलिए उपाय के प्रति, नीति के प्रति ध्यान की बात उसके लिए नहीं उठ सकती। पर क्या करना उचित होगा? धर्म का यह प्रश्न तो फिर भी उसके लिए प्रश्न रहेगा ही। उसे उपाय के ही औचित्य को ध्यान में रखना होगा।

पर यहाँ एक जड़ को ही काटता हुआ प्रश्न उठ सकता है : सर्वज्ञता के साथ सर्वशक्तिमत्ता तो क्या, कर्ममात्र की सम्भावना भी क्या संगत-उपपन्न-हो सकती है? कर्म हो ही तब सकता है जब भविष्य में क्या होगा, यह नियत न हो, सम्भावित हो, और सम्भावना के एकाधिक द्वार खुलते हों, जिनमें से एक की ओर कर्म करने वाला पाँव उठाता है। क्या होना है, यह नियत हो तो एकाधिक सम्भावना का कोई अर्थ नहीं होता। सर्वज्ञ में अगर कर्म की भी शक्ति हो तो तभी हो सकती है जब वह जान ही नहीं सकता कि आगे क्या होगा—अर्थात् कर्म की शक्ति होने पर सर्वज्ञ सर्वज्ञ नहीं हो सकता। सर्वज्ञता के साथ सर्वशक्तिमत्ता का ही नहीं, सीमित शक्तिमत्ता का भी होना अनुपपन्न दिखता है।

विचार के इस संकट को टालने के लिए हम दो-एक दिशाओं की टोह ले सकते हैं। नियति के अर्थ पर और ज्ञान के स्वरूप पर ध्यान दे सकते हैं। मान लें कि त्रिकाल की अणु से अणु घटना भी क्या होगी यह पहले से तय है, तो भी कर्म का अर्थ और संकल्प के औचित्य का अर्थ बन सकता है, अगर हम घटना के संसार को अलग मानें और कर्म के जगत् को इससे अछूता। यों नियतिवाद के साथ कर्म की संगति बिठाई जा सकती है। वैसे इसमें भी समस्या दिख सकती है। 'अछूता' का क्या अर्थ? क्या संकल्प का जगत् देश-काल-पात्र से अछूता होगा? पर फिर संकल्प करने या संकल्प के होने का ही क्या अर्थ होगा? संकल्प तो हम देश-काल की घटनाओं के संदर्भ में ही करते हैं और संकल्प भी काल में होता है। करने वाले हम भी देश-काल में ही होते हैं। संकल्प का देश-काल से सम्बन्ध ही न हो तो संकल्प क्या हो, यह प्रश्न ही अप्रश्न हो जाता है— और संकल्प का होना भी न होने के समान। दूसरी बाह्य और आंतरिक घटनाओं के बीच एक स्वतन्त्र घटना के रूप में ही संकल्प संकल्प बनता है और ऐसा ही हमें अनुभव होता है।

फिर भी, इस उलझन को स्वीकार करते हुए भी हम यहां 'अछूता' का अर्थ उत्प्रेक्षा के साथ एक बार यह मान ले सकते हैं कि संकल्प का जगत् रहता तो घटनाओं के जगत् के बीच ही है, फिर भी उससे अछूता इस अर्थ में है कि उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। उस पर आक्षेप कर सकता है कि हो कुछ भी रहा हो, घटनाचक्र चाहे जैसा भी नियतिचक्र से बँधा हो, पर *होना* यह चाहिए–संकल्प यह करता चल सकता है। और एक खरे अर्थ में कर्म का अर्थ होता ही यही है : औचित्य का अपना स्वतन्त्र सार्थक संसार बुनना, चाहे बास्तव कहलाने वाला घटना-जगत् कुछ भी हो–कितना ही नियत शृंखलाबद्ध क्यों न हो। यही हमारी संकल्प की शक्तिमत्ता है।

यहाँ इस कल्पना के बारे में मैं इतना और कहना चाहूँगा कि धर्म-संकट इससे भी टल नहीं जाता। क्योंकि इसमें भी क्या करना चाहिए–या क्या संकल्प हो– यह प्रश्न सचमुच ही प्रश्न रह जाता है। प्रश्न है तो उत्तर एकाधिक हो ही सकते हैं। संकल्प का अनेकान्त तभी टल सकता है जब धर्म भी एक ही हो; संकल्प में सम्भावनाओं के एक से अधिक द्वार ही न हों। धर्म-विभाग की बात ही मिथ्या हो। पर संकल्प के लिए धर्म के एक ही होने का क्या अर्थ होगा? संकल्प की शुद्धि? स्वार्थ त्याग कर परार्थ-भाव? ऐसा करना–या (इस संदर्भ में) ऐसा करना चाहना–कि संकल्प ऐसा हो जो मेरे लिए ही नहीं सब के संकल्प मात्र के लिए उचित हो? दूसरें को जड़ न समझना, उपाय न समझना, अपने ही जैसा संकल्पवान् प्राणी समझना, उपेय समझना? पर ये तो संकल्प को अनेकान्त से हटा नहीं सकते। क्योंकि परिस्थिति से नहीं हटा सकते। अन्य के प्रति संकल्प; ऐसा संकल्प जो अन्य का भी संकल्प बन सके, यह तभी हो सकता है जब अन्य भी हो–और अन्य को देश-काल-पात्र के बाहर–परिस्थिति के बाहर–किसी संकल्प-लोक में रखने का क्या अर्थ होगा? और अगर परिस्थिति को ध्यान में रखकर हम संकल्प करें तो बात केवल संकल्प की नहीं रह जाती, *कर्म* की भी हो जाती है। क्या *करना* चाहिए? यह प्रश्न परिस्थिति से नहीं हटता दिखता, चाहे परिस्थिति अधूरी सामने हो या पूरी की पूरी सामने हो। यह ठीक है कि धर्म के लिए संकल्प-शुद्धि साध्य है, पर धर्म-संकट उभरता ही इस शुद्धि में है। शुद्धि न हो तो हम अपनी सी करेंगे ही, लेकिन फिर धर्म क्या है? यह प्रश्न ही क्यों उठेगा? संकट क्यों होगा? धर्म अगर परार्थ-भाव में है तो यह भाव संकल्प की शुद्धि की अपेक्षा रखता ही है। 'धर्म उपेय है', 'साध्य है', संकल्प-शुद्धि के अभाव में ऐसी किसी औचित्य-बोध की ही बात नहीं की जा सकती। यहां कोई भी भाव या स्थिति ऐसी नहीं लगती जो धर्म-विभाग को ही टाल दे सकती हो। संकल्प सत्य की ओर झुके या अहिंसा की ओर या न्याय की ओर?...ऐसे प्रश्न का यहां कोई उत्तर नहीं। ऐसा प्रश्न संकल्प शुद्धि में, कर्म के औचित्य-बोध में ही उभरता हैं। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि परिस्थिति कुछ भी

हो, धर्म कितना ही संकट में उलझा हो, संकल्प की साधना यही है कि औचित्य की धूनी जगाये रखें। पर संकट भी औचित्य के भीतर जागता रहेगा।

लेकिन चलिए जो भी हो, जिस बात पर हम विचार कर रहे हैं उसकी कड़ी को आगे बढ़ायें। परिस्थिति-चक्र के नियत होने के साथ भी संकल्प और कर्म की सम्भावना को कैसे बनाए रखा जा सकता है इसकी हमने एक कल्पना की। अब प्रश्न है : क्या सर्वज्ञता के साथ भी कर्म की ऐसी सम्भावना को बनाए रखा जा सकता है? यह सवाल मुझे पहले सवाल से ज्यादा टेढ़ा लग रहा है। सर्वज्ञता का सम्बन्ध ज्ञान से है। हम सर्वज्ञ के संकल्प की बात करना चाहें तो भी एक द्वैत मानना होगा। एक ओर ज्ञान, दूसरी ओर संकल्प। ज्ञान सिद्ध-प्रदत्त विषय या वस्तु का ज्ञान होता है—ज्ञान का सम्बन्ध *साध्य* विषय या वस्तु मानें तो ज्ञान और संकल्प में भेद क्या करेंगे? सर्वज्ञ की कल्पना में भी ज्ञान सिद्ध-प्रदत्त-विषयों के ज्ञान के रूप में ही कल्पित है - 'सब कुछ का ज्ञान' अर्थात् 'जो कुछ है—उपस्थित है—उसका ज्ञान'। सर्वज्ञ के *संकल्प* की बात करें तो फिर जगत् को यों बाँट लेना होगा कि एक ओर वस्तु-जगत् हो और दूसरी ओर संकल्प-जगत्। संकल्प-जगत् साध्य होगा और वस्तु जगत् सिद्ध-प्रदत्त। लेकिन फिर एक में हम सर्वज्ञ हों, दूसरे में नहीं, यह कुछ अटपटी सी बात लगती है। पर अटपटापन तो 'सब कुछ जानना' इस धारणा में भी लग सकता है, क्योंकि यों साधारण भाव से सर्वज्ञ होने की बात सीधी-सी परिचित-सी लगती भी हो, तो भी इसे विचार में कोई सार्थक रूप देने लगें और इसका अर्थ विवेचना के रास्ते निकालने लगें तो बात सीधी नहीं रह जाती। ज्ञान का स्वरूप और विषय या वस्तु-स्वरूप ही प्रश्न बन जाता है, और इस प्रश्न का कोई सीधा सा उत्तर है ही नहीं।

पर हम विचार का जैसा सन्दर्भ बनाते हुए बात कर रहे हैं, उस दिशा में सर्वज्ञ को नहीं ढूँढ कर दूसरी दिशा लें। ईश्वर के सर्वज्ञ होने की जिस अर्थ में साधारणत: कल्पना की जाती है, उस अर्थ में ज्ञान का एक परिमित-सा सुलभ, सुख-बोध्य ही अर्थ होता है। मैं समझता हूँ 'सर्वज्ञ' का साधारण तात्पर्य यह है कि मनुष्य होने के नाते हम पर जो कुछ बीतता है, बीत चुका है, बीतेगा, उसका ज्ञान। उन घटनाओं का ज्ञान जो हमारे कर्म-जगत् और भोग-जगत् को, इच्छाओं, एषणाओं, मंगल, स्वस्ति की साधनाओं, संकल्पों, स्वप्नों को बनाने-बिगाड़ने में समर्थ या असमर्थ हों। पिछली चर्चा में हमने जिसे 'वासना' कहा है उसकी बुनावट व्यवहार के जिस 'बाह्य' लोक में होती है, उस लोक की ऐसी घटनाओं का ज्ञान जो 'वासना' के किसी रूप को चरितार्थ करने में साधक या बाधक हों। ऐसे ज्ञान का निदर्श हम ज्योतिषी को मान सकते हैं, उसके मनुष्य सम्बन्धी भविष्य-ज्ञान को या हमारे बोध के ऐसे कुछ अतीन्द्रिय व्यापारों को, जिनमें होने वाली घटनाएँ आँखों के आगे कौंध जाती हैं। ज्योतिषी 'सब कुछ' नहीं जान सकता और न उसकी वाणी संशय-मुक्त होती है। पर सर्वज्ञ सब कुछ जानता है और नि:संशय जानता है। उसे 'परम'

ज्योतिषी कहा जा सकता है। सर्वशक्तिमान् भी कहें तो इस अर्थ में है कि वह मानव-लोक में आने वाली घटनाओं को टाल भी सकता है, कुछ और घटा सकता है जो प्रतिकूल की गति तोड़ दे और हमारे कुशल के अनुरूप हो। पर मान लीजिए सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान न हो, हमारी तरह ही सीमित शक्ति वाला हो, तो क्या उसका कर्म करना सार्थक होगा?

यहाँ मुझे एक ही उत्तर सूझ रहा है। वह हमारे जैसा होगा तो कर्म उसे करना ही होगा। फिर कुछ भी करते हुए, 'क्या किया जाये'? इसकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा। चाहे परिणाम क्या होने वाला है यह मालूम ही हो। धर्म और इतिकर्त्तव्यता के लिए कर्म का औचित्य कर्म में तो होता ही है, उसके परिणाम में हो या न हो। पर युक्ति अगर इस दिशा में यहाँ आकर थमती है तो फिर सर्वज्ञ के लिए परिस्थिति-ज्ञान के होने–न होने का कोई अर्थ नहीं रहता। क्योंकि परस्थितियों का नियत होना भी उसके धर्म-जीवन को निरस्त नहीं कर देगा। उसके लिए एक यह भी प्रश्न हो सकता है, जो औरों को नहीं होता, कि आगे क्या होने वाला है यह किसी को बताऊँ या न बताऊँ, बताऊँ तो किसे बताऊँ, किसे नहीं?

पर क्या उसके लिए यह भी प्रश्न हो सकता है कि धर्म-विचार में परिस्थिति को ध्यान में रखना भी चाहिए या नहीं? रखना चाहिए तो कितना और कैसे?

इस प्रश्न का कोई भी उत्तर मुझे अभी नहीं सूझ रहा है। पाठकों को लगे कि हाँ, प्रश्न सचमुच प्रश्न है, तो आशा है वे बात को आगे बढ़ायेंगे। मैं यहाँ दुबारा युद्ध के प्रश्न पर आता हूँ।

हमने पीछे देखा कि युद्ध को आनृशंस्य की कोटि में रखना अटपटा सा लगता है–इसमें न अवध है न प्रभव, न प्राण-रक्षा, न कोई मंगलमयी परिणाम-दर्शिता, और जिस आधार पर हमने युद्ध को फिर भी आनृशंस्य में ज्यूं त्यूं रखना चाहा था, वह उपचार मात्र लग सकता है–डूबते को तिनके का सहारा। कृष्ण ने जो धर्म-विभाग की बात की है आनृशंस्य के संदर्भ में की है, और मैंने भी पिछले अध्याय में धर्म-विभाग को आनृशंस्य की धारणा के साथ ही उभारा था। यह प्रश्न उठाया था कि क्या धर्म-विभाग की धारणा को रखते हुए आनृशंस्य में हम धर्म का वह तत्त्व पा सकते हैं जो धर्म के क्षेत्र से धर्म-संकट का बीज दूर कर दे? पर आनृशंस्य ही क्यों? किसी भी परम धर्म को लें। कोई भी धर्म निकष के रूप में ही परम होता है और अन्य धर्मों को ऊह्य रखता है। धर्म-विभाग नहीं टाल सकता। इसलिए धर्म-विरोध–धर्म-संकट–भी नहीं टाल सकता। धर्म एक और अखण्ड हो तभी धर्म-संकट टल सकता है, पर तब धर्म का हमारे किए-जाते कर्म से भी सम्बन्ध टल जाता है। धर्म में अभी 'नियति' और 'सर्वज्ञ' के प्रश्न को लेकर जिन युक्तियों से हम निकल कर आए हैं, उनमें मैं समझता हूँ यह बात उभर आई है कि कर्म करते हुए देश-काल-पात्र का

ध्यान आवश्यक है, चाहे वह हमारे लिए अनिवार्य रूप से बहुत सीमित ही रहता हो। अगर देश-काल-पात्र का कुछ भी ध्यान रखें तो धर्म-विभाग से नहीं कतरा सकते, और धर्म-विभाग में धर्म-संकट का बीज भी अनिवार्य है—सत्य, अहिंसा, न्याय जैसे विभिन्न धर्म सामने आते हैं, जो सभी परम कहला सकते हैं, और ऐसे हैं कि स्वरूप से ही टकराते है। इन सबको एक ही सम्पुट में समेट लें, ऐसे किसी आनृशंस्य जैसे 'सर्वोपरि', सर्वधर्मसमन्वित धर्म की कल्पना करना संगत नहीं जान पड़ता। और अगर कोई एक विशुद्ध शिव-संकल्प रूपी धर्म धर्म का मर्म है—और लगता भी है कि उसके बिना धर्म का अर्थ ही क्या—तो वह कर्म-क्षेत्र में नहीं उतारा जा सकता; कर्म के क्षेत्र में उतरे तो धर्म-संकट में भी उलझेगा।

❐

व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म

सोचता हूँ, पिछली बातों से कड़ी जोड़ता हुआ आगे बात बढ़ाऊँ। एक विशेष प्रश्न को महिम करना चाहूँगा। संजय से संवाद के जिस उपाख्यान की हमने अब तक चर्चा की उसमें एक और प्रश्न उभर कर आया था, जिस पर विशेष विमर्श नहीं हुआ। प्रश्न था : क्या धर्म-विचार में व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म में विवेक आवश्यक नहीं? युद्ध की बात ही व्यष्टि और समष्टि की इति-कर्त्तव्यता में भेद लाती दिखती है। प्रश्न हो सकता है : धर्म-विभाग करें तो क्या धर्मों में व्यष्टि और समष्टि के आधार पर भी एक कोटि-भेद नहीं करना चाहिए? और फिर समष्टि की इति-कर्त्तव्यता में धर्म-संकट का स्थान क्या?

यहां समष्टि-धर्म की और उसके अन्तर्विरोधों की चर्चा करूँगा।

पिछली चर्चा में धर्म का अनैक्य ही नहीं, यह भी उभरा है कि धर्म का स्वरूप ही अनेकमय है, और अनैक्य ऐसा है कि एक धर्म दूसरे धर्म को काटता है, उसका साथी नहीं होता; और उस सन्दर्भ में सत्य और अहिंसा का विरोध हम देख आए हैं। सत्य के लिए जब युद्ध अवश्यम्भावी ही नहीं, उचित ठहरने लगे—जैसा कि पीछे हमने देखा—तो सत्य और अहिंसा को 'साथी' तो नहीं ही कह सकते हैं।

यहां हम 'अनेक' के एक और भी गहरे—तलस्पर्शी कहिये या चरमस्पर्शी—पक्ष की ओर भी ध्यान दे सकते हैं : अनेक मूलत: होता ही विरोधगर्भ है। इसीलिए किसी क्षेत्र में समन्वय की बात करते हुए हम एक की ही बात करना चाहते हैं, अनेक को किसी अर्थ में 'नहीं है' की कोटि में रखना चाहते हैं; कहते हैं 'उपाधि है', या 'प्रतीयमान है' (लगता है, है नहीं), या किसी एक का प्रकार है—या किसी अर्थ में अवयवी नहीं अवयव है जो अपने से परे 'एक' अवयवी की अपेक्षा रखता है। अनेक का अलग अस्तित्व नहीं बनता, अपने आप में अनेक का भेद अभेद के बिना कुछ रूप ही नहीं लेता, वह किसी अर्थ में 'एक'-सापेक्ष होता है। पर हम मान भी लें कि अनेक सचमुच अनेक है, उसका एक एक अपने आप में स्वतन्त्र है तो वह निर्विरोध कैसे रह सकता है? हम विरोध का निषेध करना चाहें तो अनेक का भी निषेध करना होगा। हम कहने को कह सकते हैं कि एक एक को अगर सचमुच स्वतन्त्र कहा जाए तो उनमें स्वातन्त्र्य का ऐसा अभेद होगा कि हर एक अपने-आप में अलग भी रहे और निर्विरोध भी रहे। पर फिर उनके बीच किसी भी सम्बन्ध की बात न हो पायेगी, किसी 'प्रकारता' का, किसी भी 'साथ' का प्रश्न नहीं उठेगा; हम किसी भी अर्थ में यह भी नहीं कह पायेंगे कि दो 'एक' किसी एक ही क्षेत्र के पदार्थ

भी हैं। फिर धर्म जैसे किसी 'एक' क्षेत्र विशेष या चेतना की वृत्ति या प्रवृत्ति विशेष की बात नहीं हो सकती।

यही विडम्बना हमें सामने खड़ी दिखाई दे रही है। सत्य और अहिंसा एक-दूसरे का निषेध पालते हुए दिख रहे हैं। दोनों साथ नहीं रह सकते, पर दोनों ही धर्म भी हैं। दोनों पर धर्म टिका है, हालांकि दोनों एक-दूसरे को काटते दिखते हैं, स्वरूप से ही परस्पर-विरोधी हैं। दोनों के बीच सेतु-घटन सम्भव नहीं दिखता। साथ ही संकट यह भी है कि दोनों में से एक के बिना भी धर्म का क्षेत्र पूरा बनता नहीं दिखता।

सोचा जा सकता है कि आनृशंस्य की धारणा में दोनों के बीच एक सेतु बनता है। पर संभव दिखता नहीं है। बात उठी थी कि आनृशंस्य को 'एक'-धर्म, प्रभव, में समेटा जा सकता है। प्रभव का अर्थ हिंसा से विरति को अपने में समो लेता है : अवध के बिना प्रभव का अर्थ ही नहीं बनता। प्राणी होंगे तभी तो प्राणी-लोक का सर्वतोभद्र मंगल, कल्याण, 'श्री', इनकी साधना होगी! पर ऐसा है तो हम यह भी पूछे बिना नहीं रह सकते कि आनृशंस्य अगर प्रभव-स्वरूप है तो क्या सत्य का भी उसमें समावेश नहीं हो जाता?

मैं नहीं समझता कि आनृशंस्य के इस व्यापक अर्थ के सम्पुट में सत्य भी आ जाता है। इसी पर विचार करता हूँ। धर्म में दो तत्त्व ऊह्य दिखते हैं : स्वातन्त्र्य और अनैक्य। इनके बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती—धर्म का क्षेत्र ही नहीं बनता, धर्म की वृत्ति या प्रवृत्ति का कोई सार्थक तात्पर्य ही नहीं निकलता। कर्म के औचित्य को जब हम धर्म का नाम देते हैं तो एक पूर्वाग्रह—ऊह्य मान्यता—होती है कर्त्ता का कर्म में स्वतन्त्र होना। दूसरा ऊह्य हम देख आए हैं : धर्मों का अनैक्य। पर अनैक्य धर्मों का ही नहीं कर्त्ताओं का भी होता है। कर्म एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ता के प्रति करता है। एक ही कर्त्ता हो तो कर्म का अर्थ ही क्या होगा?

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है, और तीखा प्रश्न होगा, कि मान लीजिए एक ही कर्त्ता हो तो क्या कर्म की और कर्म के औचित्य, धर्म की बात नहीं हो सकती? प्रश्नकर्त्ता को एक ही कर्त्ता के कर्म का उदाहरण भी मिल जाएगा। ईश्वर को लीजिए (या ईश्वर को न मानें तो ईश्वर की धारणा को लीजिए—हम विचार तो कल्पना ही के सहारे कर सकते हैं)। ईश्वर एक भी है, स्वतन्त्र भी और वह कर्म भी करता है—सृष्टिकर्म और उसका पालनकर्म—और जो कुछ करता है 'उचित' करता है; उसका कर्म स्वभाव से ही उचित है, नहीं तो उसे 'ईश्वर का कर्म' कहने का कोई अर्थ नहीं बनता।

इस कल्पना में हम धर्म में कर्त्ताओं के अनैक्य का अपवारण देख सकते हैं। पर साथ ही जैसे कर्म की हम बात कर रहे हैं—जिसे मनुष्योचित कर्म कह सकते हैं—उसका भी निषेध हो जाता है। मनुष्य के लिए इति-कर्त्तव्यता का प्रश्न मनुष्य के

सन्दर्भ में ही उठता है। इस सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य के साथ कर्त्ता का अनैक्य भी अयुतसिद्ध सा है; दोनों का अविनाभाव है। यों तो धर्म का प्रश्न प्राणिमात्र के प्रति हमारे आचरण में उठता है, पर कर्म का सार मनुष्य के प्रति कर्म में ही है। फिर, एक बात तो है ही : प्राणिमात्र के प्रति जो इति-कर्त्तव्यता का प्रश्न उठता है वह धर्म के एक देश का ही प्रश्न होता है—अहिंसा का प्रश्न होता है, सत्य का नहीं—क्योंकि सत्य या न्याय का प्रश्न तभी उठता है जब जिसके प्रति कर्म किया जाता है उसे भी स्वतन्त्र कर्त्ता माना जाए। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के परस्पर 'व्यवहार' को पूरी तरह 'कर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। क्योंकि जिसके प्रति कर्म किया जा रहा है उसे हम अपने बर्ताव के लिए दायी नहीं ठहरा सकते। धर्म में—और सत्य-धर्म में तो अवश्य ही—स्वातन्त्र्य परस्पर-दायित्व की भी अपेक्षा रखता है। यह मनुष्य में ही होता है।

दायित्व की धारणा को थोड़ा परख कर देखें। दायित्व में किसी के प्रति उत्तर-दायित्व का भी बोध काम करता है। उत्तर-दायित्व को हम यों समझ सकते हैं कि उसके पीछे सत्य का एक प्रण होता है : दिए गए वचन को सत्य रखने का प्रण—चाहे वह 'वचन' ऊह्य ही हो; तभी हम 'उत्तर'-दायित्व की बात करते हैं, 'वचन क्यों नहीं रखा गया, उत्तर दो'। उत्तर-दायित्व में दायित्व का एक परस्पर-भाव भी बनता है। फिर भी हम कह सकते हैं कि परस्पर-भाव के दो भिन्न पक्ष आ कर मिलते हैं यहां। एक पक्ष में कर्तृत्व ही प्रधान है, प्रतिकर्तृत्व नहीं, दूसरे में दोनों। आपात दृष्टि से लग सकता है कि दायित्व-बोध में दाय-प्रतिदाय दोनों का पलड़ा भारी पड़ता है। पर दायित्व प्राणिमात्र के प्रति भी हो सकता है, जहां दायित्व में परस्पर-भाव की कोई अपेक्षा नहीं होती - क्योंकि जिसके प्रति हम अपने आप को दायी समझते हैं उसे अपने प्रति दायी नहीं समझते। पशु का उदाहरण लें या शिशु का। ऐसे दायित्व को हम न निभा पायें तो पश्चात्ताप का भी बोध होता है, और कर्त्ता किसी अर्थ में अपने आप को दण्ड का भागी मान सकता है। पर सही अर्थ में दायित्व दूसरे स्वतन्त्र कर्त्ता या कर्त्ताओं के प्रति होता है। दायित्व जब किसी ऐसे कर्त्ता के प्रति हो जो आप ही की तरह दायित्व-बोध रखता है तो दायित्व का धरातल पूरा बनता है। और तब दायित्व के परस्पर-बोध के साथ दण्ड की बात गहराती है—फिर पश्चात्ताप तक और अपने-आप को स्वदण्ड देने तक सीमित नहीं रह जाती। हमें लगता है कि दूसरा अब किसी सार्थक भाव से हमें दण्ड देने का 'अधिकारी' बन गया है। यह बात और है कि दण्ड क्या हो, कैसा हो, यह प्रश्न फिर भी धर्म का ही प्रश्न रह जाता है। साथ ही देखिये प्रश्न तब और भी गहराने लगेगा अगर हम दो की जगह तीन कर्त्ताओं की कल्पना करें। ऐसी अवस्था में एक और दायित्व का समावेश हो जा सकता है, परिस्थिति में भी और हमारे विचार में भी। दायित्व का प्रश्न अगर दो के बीच है तो दोनों किसी तीसरे के पास आ सकते हैं, उसे बीच में रख सकते हैं। तीसरे का यह

धर्म बन जा सकता है–बल्कि आप कह सकते हैं कि बन जाना चाहिए–कि वह मध्यस्थ रह कर सत्य का विचार करे। न्याय करे। सत्य का सम्बन्ध यहां प्रकट ही तीनों के दायित्व-बोध से होगा। जिन दो के बीच न्याय का प्रश्न है उनका दायित्व किसी वास्तव या ऊह्य 'वचन' के प्रति होगा, जब कि मध्यस्थ के दायित्व में सत्य का एक और भी आयाम होगा : दोनों में कौन 'सही' है इस सत्य का निर्णय करना, दण्ड का विधान करना। यह दायित्व धर्म को मनुष्य के कर्त्ताभाव के ही नहीं ज्ञान के भी केन्द्र में रख देता है। न्याय में सत्य-विचार के लिए ऐसे भी प्रमाण चाहियें जो प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित हों। या 'ज्ञान' शब्द यहाँ 'छोटा' लगे तो हम कह सकते हैं कि यह कर्त्तव्य धर्म को मनुष्य के सम्पूर्ण धर्म-बोध की नाभि पर बिठाता जान पड़ता है–क्योंकि न्याय में अवध और प्रभव भी अवधेय रहते हैं। यही न्याय के प्रसंग में 'सत्य' शब्द की यहां उपयुक्तता का बीज लगता है। 'सत्य' का मैंने पहले 'न्याय' के पर्याय की तरह भी प्रयोग किया है। पर पर्याय न भी हो तो पर्याय कहला सके ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध उभरता ही है। फिर भी बात विचार चाहती है। विचार करूँगा। पर एक और बात यहाँ मुझे उठती लगती है, उस पर पहले विचार करना चाहता हूँ।

मैंने परस्पर-भाव में कर्त्ता के एक, दो और तीन होने की बात की–देखा कि दायित्व के संदर्भ में परस्पर-भाव की पर्याप्ति तीन की मांग करती है–दूसरे शब्दों में कर्त्ता के 'अनेक' होने की। पर यहां 'अनेक' के प्रत्यय को कर्म की दृष्टि से लेता हुआ बात बढ़ाता हूँ–इस अनैक्य पर कर्त्ता के अनैक्य के संदर्भ में विचार करता आगे बढ़ूंगा। कर्म का अनैक्य तो धर्म का बीज ही है–तभी 'किं मया कर्त्तव्यम्' की और कर्मों के बीच विवेक करने की बात उठती है–चाहे कर्त्ता के अनैक्य से प्रश्न में एक दूसरा (न्याय करने के दायित्व का) आयाम आ जाता हो। कर्म का अनैक्य न हो तो चयन का, उचित-अनुचित का–और यों धर्म का–प्रश्न ही नहीं उठता।

पर एक अजीब बात यह है कि धर्म-बोध कर्म के संभाव्य अनैक्य में से किसी 'एक' को पाने के लिए ललकता है और विवेक के किसी एकान्त एक में अपने अनेक भाव से छुटकारा पाना चाहता है। चाहता है, अनेक हट जाए और वह एक मिल जाए जो उचित है, जो हो ही एक सकता है। नहीं तो कर्म होगा कैसे? कर्म का यह स्वभाव ही जान पड़ता है कि अनेक किसी एक में अवसित हो; नहीं तो कर्म ही सम्भव नहीं। कर्म का अनेक सम्भावना का ही अनेक हो सकता है, 'करने' का नहीं। धर्म-चिन्तन के विवेक का ध्येय ही होता है कि सम्भावना का अनेक उचित एक में सिमट जाए (यह बात और है कि 'एक' कर्म किसे कहें, विचार के लिए इसकी अलग समस्या रहती है, जैसा हम पिछली चर्चाओं में देख आए हैं)।

आप पूछ सकते हैं, क्या यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कर्म *करने* में भी अनेक हों? कुछ ऐसे कर्म होते ही हैं, जैसे विचारकर्म, शिल्पकर्म, जिनमें एक से

अधिक सम्भावनाओं को एक-साथ बढ़ाया जा सकता है, चाहे सम्भावनाएँ एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत दिशाओं में जाती हों। कोई कह सकता है कि बिल्कुल उसी क्षण तो एक से अधिक सम्भावना किसी भी कर्म में नहीं उठाई जा सकती। पर यह बाधा काल के नियत क्रमशील होने की बाधा है, जिसमें दो क्षण एक-साथ नहीं होते। पर हम जिस 'एक साथ उठाने' की बात कर रहे हैं उसमें प्रसंग काल का है ही नहीं। काल वहाँ आगन्तुक सी बात है। विचारकर्म और शिल्पकर्म जैसे कर्म में क्षणों का वास्तव क्रम एक उपाधि मात्र है, कर्म के मर्म से बाहर। माना, काल की नियत क्षण-परम्परा हमें इन कर्मों की अनेक सम्भावनाओं को एक क्षण में, एक साथ, सचमुच पनपाने नहीं देती, लेकिन काल ठहर पाता तो हम ऐसा कर सकते थे। यहाँ अनेक को एक-साथ उठाने में कोई स्वरूपगत बाधा नहीं है। क्षण-परम्परा आड़े न आती तो यह सम्भव था ही। तभी हम इसके होने की कल्पना कर सकते हैं। पर धर्म कहलाने वाले कर्म में मैं समझता हूँ यह कल्पना ही बाधा का शिकार हो जाती है। कर्म में हम अनेक को जब हटा देते हैं तभी कर्म सम्भव होता है। या बात को यों देखिए : अगर एक-साथ कई कर्मों के 'करने' की कल्पना की जाए तो फिर हमारा लोक, हमारा संसार, जिसमें हम कर्म करते हैं, उसे भी अनेक मानना पड़ेगा। सभी कर्म करने वालों के लिए एक-साथ अनेक। शिल्पकर्म और विचारकर्म के लिए कर्त्ताओं का अनैक्य अनिवार्य नहीं जान पड़ता। लेकिन धर्म का प्रश्न उठता ही इस अनैक्य के कारण है। हमने दायित्व की बात की। दायित्व होता ही अन्य के प्रति है। अपने प्रति दायित्व की बात भी की जा सकती है, पर उसमें चूक होना और दूसरे के प्रति दायित्व में चूक कर बैठना, इनमें साफ ही बड़ा अन्तर है। हम यहां तक कह दे सकते हैं कि अपने प्रति दायित्व धर्म का नहीं, किसी और साधना का होता है, धर्म का दायित्व अन्योन्मुख ही होता है। धर्म की बात उठती है तो ऐसे संसार में जहाँ कर्म करने वाले अनेक हैं, एक साथ अनेक। परस्पर-भाव में अनेक। कर्म के इस संसार को हम एक नहीं अनेक मानना चाहें—किसी गहरे अर्थ में परस्पर-विभक्त मानें—तो ऐसा मानने का अर्थ ही क्या हो सकता है? यह एक न हो तो कर्म का ही कोई अर्थ नहीं बनता दीखता। यही नहीं, बात को हम और वजन दे सकते हैं। शायद हम यह भी कह सकते हैं कि अपने अपने अनुभव के देशकालमय संसार को जो हम एक समझते हैं उसका आधार ही कर्म-लोक का एकत्व है, जहां व्यष्टि-रूप में हमारा कर्त्ताभाव कर्त्ता-समष्टि के एकत्व में बसता है। ऐसा न हो तो कर्मक्षेत्र ही बाधित हो जाएगा।

'बाधा' की बात को सामने रख कर भी हम कर्म, विचार और कल्पना में एक स्वरूप-भेद उभरता देखते हैं। कल्पना को हम 'निर्बाध' मानते हैं, पर 'अनर्गल' नहीं। कल्पना एक संगति ढूँढती है। कल्पना में संगति न हो तो कहते ही हैं कि बात बनी नहीं। यह संगति अनेक रूप ले सकती है। पर कल्पना 'बाधित' भी हो सकती

है, नहीं तो उसमें और अनर्गल प्रलाप में भेद नहीं होगा। यह संगति किसी भी कल्पना-लोक में एकसूत्रता होने का ही दूसरा नाम है। संगति ही 'एक' कल्पना को 'एक' बनाती है। पर कहना न होगा, कल्पना में परस्पर भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोध का आभास देने वाले अनेक लोक भी एक साथ सम्भव हैं। एक साथ अनेक संगतियाँ हो सकती हैं।

यहाँ कल्पना के अनेक में मैंने परस्पर-भेद के साथ परस्पर-विरोध का *आभास* होने की बात की है। *वास्तव* विरोध की बात जानबूझ कर नहीं की है, क्योंकि एक कल्पना-लोक दूसरे कल्पना-लोक के साथ रह सकता है, उसके होने को ही 'बाधित' नहीं कर देता। यहीं विचार कल्पना से भिन्न है। कल्पना ही की तरह विचार-लोकों में अनैक्य हो सकता है। पर यहाँ युक्ति-तर्क का बन्धन होता है। सत्य की जिज्ञासा होती है। दो विचार-लोक गहरे अर्थ में परस्पर-बाधित होते हैं। एक सत्य हो तो दूसरे का सत्य बाधित होगा। एक से दूसरा व्याहत हो जा सकता है। अयुक्त, अनुपपन्न। एक को मान लें तो दूसरे को उसके साथ ही नहीं मान सकते। यह ठीक है कि हम दो परस्पर-बाधित विचारों को सामने रखकर साथ-साथ देख सकते हैं। पर तब हम उन्हें कुछ-कुछ कल्पना ही की कोटि में रख देते हैं। मानने—नहीं मानने की बात नहीं उठाते। पर जैसे भी उन्हें देखें, उनका परस्पर बाध भी हमें दिखता है। 'बाध' है ही विचार का शब्द। दो भिन्न विचारों में ही नहीं, एक विचार-परम्परा में भी विचार-सूत्रों की परस्पर-व्याहति से—बाध से—बचना आवश्यक होता है।

फिर भी हम कल्पना कर सकते हैं कि एक ही विचार-कर्त्ता विचार की संगति को बाध से यथामति बचाते हुए एक साथ कई विचार-परम्परायें साध सकता है—चाहे एक परम्परा दूसरे को व्याहत ही क्यों न करती हो। बस, एक परम्परा अपने आप में ही बाधित नहीं होनी चाहिए। विचार का इतिहासकार कुछ ऐसा ही करता है, चाहे फिर बात *विचार करने* की नहीं रहती हो।

कर्म के क्षेत्र में भी संगति की बात की जा सकती है। धर्म की बात कर्म की संगति की ही बात है। नीति को धर्म का स्वरूप-बाध कह सकते हैं—जहां धर्म ही की बात नहीं रहती। पर कर्म की संगति जो भी हो, यहाँ कल्पना और विचार जैसा काल से निर्बाध, एक साथ कई धाराओं में बह सकने वाला अनैक्य भी बाधित रहता है।

फिर भी प्रश्न उठाया जा सकता है : क्या ऐसे संसार की हम कल्पना नहीं कर सकते जो सभी कर्म करने वालों के लिए एक साथ अनेक हो? हर कर्त्ता की हर कर्म में एक चेष्टा अपने आप में एक अलग इकाई हो—चाहे 'एक' का अर्थ हम यहां कुछ भी लगायें? लगता नहीं है। ऐसी कल्पना सम्भावना की कसौटी पर खरी नहीं उतरती दीखती। प्रश्न यह उठेगा कि फिर कर्मकर्त्ता भी क्या एक है या अनेक? कर्तृत्व के

ऐक्य के बिना कर्म का कोई अर्थ नहीं बनता–क्रिया मात्र का चाहे बनता भी हो, जहाँ कर्तृत्व की बात ही नहीं उठती। और कर्तृत्व की धारणा 'एक' कहला सकने वाली कर्म-परम्परा–या कर्म-शृंखला कहिए–ऐसी किसी आपस में गुँथी कड़ी की–एकसूत्रता की–अपेक्षा रखती है। एक के बाद एक कर्म करता हुआ कर्त्ता एक कड़ी बनाता है। ऐसी एक कर्म-शृंखला बनाने वाले को ही हम कर्त्ता कहते है। उसी के लिए फल की बात उठाते हैं। अगर कोई कर्त्ता एक साथ कई कर्म-शृंखलाएँ बनाने में सक्षम हो तो उसे हम 'एक' कर्त्ता कैसे कहेंगे? एक कर्म-परम्परा के कर्तृत्व का जो अधिष्ठान हो उस को ही कर्त्ता कहते हैं। दायित्व-बोध को ध्यान में रखें तो भी यह बात उभर आती है। जहां यह कर्तृत्व किसी कारण टूटता है–मोह में, पागलपन में, आवेग की विवशता में, या अनात्मस्थता की किसी और अवस्था में–वहां कर्तृत्व के ही बाधित होने की बात की जाती है, या की जा सकती है; कर्त्ता के अनेकत्व की नहीं। वहां फिर बात *कर्म* की रहती ही नहीं, *क्रिया* जैसी कोटि में आ जाती है।

ऐसे 'एक' कर्त्ताओं का अनेक होना और एक साथ अनेक होना, यही हमारा कर्मक्षेत्र है। हमारा मानव-लोक है, संसार है, जिसके अपने आप में अनेक होने पर कर्म की बात ही वृथा लगती है। ऐसे ही कर्म-लोक में फल की बात उठती है। दायित्व बनता है।

कर्त्ताओं के अनैक्य में परस्पर दायित्व की बात उठती है–और फिर न्याय का प्रश्न खड़ा होता है। दण्ड की भी बात उठती है। दण्ड कैसा भी हो, 'प्रायश्चित्त' जैसा स्वदण्ड हो, या पर के द्वारा दिया गया दण्ड, पर दण्ड का प्रश्न उठता है। दण्ड के औचित्य का–धर्म्य होने का–गहन प्रश्न भी उठता है। दण्ड के औचित्य के प्रश्न का उठना धर्म के स्वरूप की ओर एक विचित्र सा संकेत करता है–एक ऐसा संकेत जो धर्म में विरोध की ओर भी एक विचित्र इंगित है। इसकी चर्चा आगे करूँगा।

हमने धर्मशील कर्त्ता को स्वतन्त्र भी कहा और अनेक भी। पर कर्त्ता को धर्मशील कहने में ही यह तत्त्व निहित है कि स्वतन्त्र कर्त्ता धर्मतन्त्र होता है। स्वतन्त्र इस अर्थ में होता है कि अपने विवेक से–अपने बस में और यों अपने ही 'तन्त्र' में, अपनी स्वीकृत व्यवस्था में, रह कर–धर्म का पालन करता है। पर कर्त्ता के धर्मतन्त्र होने का क्या अर्थ है?

धर्मतन्त्र होने का एक मूलगत अर्थ है : धर्म की एक ऐसी व्यवस्था का अंग होना जो कर्त्ताओं के अनैक्य को एक में बटोरती है। इसी व्यवस्था के आधार को कृष्ण ने 'सत्य' कहा है–जो परस्पर-व्यवहार के न्याय को नींव देता है। तभी धर्मयुद्ध का औचित्य उन्होंने सत्य के नाम पर ठहराया। 'सत्य' यहाँ 'धर्म के तन्त्र' का–व्यवस्था का–सम्यक् होना है। जैसा होना चाहिए वैसा होना है–कम से कम अपने आदर्श रूप में। 'आनृशंस्य' की तरह हम 'सत्य' को भी परम धर्म कह सकते

हैं, अन्य धर्मों का निकष। सत्य अनेक कर्त्ताओं के *न्याय्य* तन्त्र या व्यवस्था की नींव हैं, स्तम्भ है। प्रश्न होगा कि इस व्यवस्था का एक एक कर्त्ता के स्वातन्त्र्य और कर्त्ताओं के अनैक्य से क्या सम्बन्ध है? स्वातन्त्र्य तो एक एक कर्त्ता का प्रातिस्विक होता है पर जिस लोक में हम धर्म की बात करते हैं उस का धारण जो औचित्य-व्यवस्था करती है वहां स्वतन्त्र कर्त्ताओं का अनैक्य होता है। अनेक में एकसूत्रता कैसे बनती है? हम कह सकते हैं कि धर्मतन्त्र स्वातन्त्र्य के अनैक्य को ही एकजुट रखने की 'उचित' व्यवस्था है। पर फिर भी हम पूछ सकते हैं कि इस तन्त्र का फिर प्रत्येक कर्त्ता के अलग अलग स्वतन्त्र होने से क्या सम्बन्ध है? यह भी सोचिए : स्वतन्त्र कर्त्ता क्या अपने लिए अपना सा स्वेच्छा या स्वैर तन्त्र नहीं बनाना चाहेगा? नहीं तो स्वतन्त्र क्या हुआ? कर्त्ता अगर धर्मतन्त्र है तो उसे परतन्त्र क्यों नहीं कहें? वह स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है?

यहाँ कोई भी उत्तर दिया जाए, इतना तो स्पष्ट है कि स्वतन्त्र का अर्थ स्वैरतन्त्र नहीं हो सकता : स्वातन्त्र्य में हम जो तन्त्र बनाते हैं उसका स्वेच्छा से क्या, इच्छा-मात्र से भी सम्बन्ध नहीं बनता दिखता।

पर अनेक को एक में पिरोने वाले तन्त्र का इच्छा से सम्बन्ध जोड़ने का एक विकल्प आधुनिक चिन्तन में आज बड़ा प्रभावशाली है। बल्कि यों कहना चाहिए कि यह विचार का अनतिक्रमणीय संस्कार सा बन गया है। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक मनुष्य की स्वेच्छा की सुरक्षा के लिए ही मनुष्य-समष्टि ने अपनी इच्छा से एक समय-बन्ध स्वीकार किया है—परस्पर-व्यवस्था का एक ऐसा समझौता स्वीकार किया है जो अधिक से अधिक कर्त्ताओं को अधिक से अधिक इच्छा के प्रयोग के लिए स्वातन्त्र्य दे सके। अन्यथा स्वेच्छाधारी स्वतन्त्र कर्त्ता के रूप में हम दूसरे स्वतन्त्र कर्त्ताओं के बीच रहते हैं तो दूसरे की इच्छा हमारी अपनी इच्छापूर्ति में बाधक हो सकती है। जैसे हमारा कर्म दूसरे के प्रति होता है, हमारी इच्छा भी दूसरे की ओर उन्मुख रहती है—हम चाहते हैं कि दूसरा हमारी इच्छा की पूर्ति का साधन हो। इच्छा का यह जाल टकराहट बुनता है। कर्म की समस्या ही यह है कि हमारी अलग-अलग इच्छाएँ आपस में जूझती रहती हैं। पर मनुष्य बुद्धिमान जीव है। स्वेच्छा-सिद्धि के इस घातक टकराव को टाल कर स्वेच्छा-सिद्धि को बचा ले निकलने के लिए मनुष्य ने एक समझौता किया है : आपसदारी का एक मूलभूत 'आदिम' समझौता जो समाज का भी 'आदि' है, इसलिए इतिहास के बाहर है, पर वही कालातीत समझौता हमारे देश-काल में स्थित समाज को *मनुष्य*-समाज भी बनाता है। यह आपसदारी का समझौता कोई निर्धारित संविधान नहीं है, पर एक व्यवस्था-सूत्र का प्रच्छन्न स्वीकार है। परस्पर-विधान के एक ऐसे सूत्र का स्वीकार है जिसे यों रख सकते हैं : 'हम एक-दूसरे की इच्छा को अधिक से अधिक अवकाश देंगे, उसमें व्यवधान नहीं बनेंगे; बनें तो दण्ड के भागी होंगे। हमारी व्यवस्था—हमारा

तन्त्र—यह चेष्टा करता रहेगा कि अधिक से अधिक की इच्छा-पूर्ति को अधिक से अधिक अवकाश मिले।' बुद्धिमानी का यह आदिम समझौता ही मनुष्य की व्यवस्था और न्याय की आधार-शिला है। यही समाज को समाज बनाता है, पर समाज के देश-काल-बद्ध स्वभाव से घिरा रहने के कारण, विशेषकर बुद्धि के न्यूनाधिक विकास के कारण, भिन्न समाजों और भिन्न कालों में इस समझौते का पालन ऊँच-नीच की सीढ़ियाँ चढ़ता-उतरता रहता है। फिर भी यह आद्य संधि या समय-बन्ध ही मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छापूर्ति का साधक है—उसे *स्थान* देता है। पर है यह समय-बंध, तो इसका हमें अपनी स्वेच्छापूर्ति ही की खातिर पालन भी करना पड़ता है। हमारी व्यवस्था—जो हमारी *दण्ड*-व्यवस्था है—वह ध्यान रखती है कि इसका पालन हो। और यों भी हमारी समझदारी कहती ही है कि इस समय-बन्ध का हम ध्यान रखें तो अपने समाज-तन्त्र, राज्य-तन्त्र और व्यवहार-तन्त्र (कानून) को सबकी—या अधिक से अधिक की—स्वेच्छा-सिद्धि का मार्ग बनाने में सक्षम कर सकते हैं; इसमें अधिक से अधिक ऐसा ढाँचा साध सकते हैं ताकि अधिक से अधिक स्वतन्त्र कर्त्ता अधिक से अधिक स्वेच्छापूर्ति का अवसर पा सकें, अपने स्वातन्त्र्य की सिद्धि कर सकें।

तन्त्र या व्यवस्था का यह चित्र, जो आज आदर्श चित्र भी माना जाता है, उसके विषय में एक सीधा सा प्रश्न तो पहले ही उठता है : क्या यह चित्र किसी *धर्म*-तन्त्र का चित्र कहलाने योग्य है भी? या यह नीति-तन्त्र का चित्र है? सुविधा-तन्त्र का? मुझे लगता है कि यह धर्म और नीति दोनों के बीच कहीं झूलता हुआ चित्र है। ऐसा क्यों कह रहा हूँ, कुछ उभारना चाहूँगा। इस चित्र में स्वार्थ और परार्थ-भाव, इन दोनों का विचित्र सा मेल है। विचित्र सा यों कि यह स्वार्थ में ही परार्थ को पकड़ना चाहता है। चित्र का भाव यह है कि हैं तो हम स्वार्थी, पर स्वार्थ के लिए ही हमें परार्थ का भी ध्यान रखने को बाध्य होना चाहिए। हम परार्थी हैं नहीं, पर अपने आप को परार्थी भी रखना चाहिए, क्योंकि इसी में हमारा स्वार्थ है। इस चित्र में अगर कोई सच्चाई है भी तो यह बात नीति की ही हो सकती है, धर्म की नहीं। चेष्टा यहां स्वार्थ में ही परार्थ को अपचित कर देने की है।

प्रश्न स्वाभाविक होगा कि ऐसी चेष्टा भी क्या सर्वथा स्वार्थ के—स्वेच्छा-मात्र के—भीतर से जाग सकती है? अगर चेष्टा बुद्धि-जात है तो बुद्धि को ही क्या स्वार्थ-साधिका या इच्छा-साधक मात्र के रूप में लेना ठीक है? क्योंकि स्वार्थ में परार्थ को अपचित या अवसित कर देने की यह चेष्टा नितान्त स्वार्थ-प्रेरित भी नहीं हो सकती। इस चेष्टा की 'आदि' प्रेरणा स्वार्थ मात्र से स्पष्ट ही ऊपर उठी हुई है—चाहे बुद्धि को यहां बनिया-बुद्धि के ही रूप में समझा गया है। आपसदारी के समझौता-सिद्धान्त में समाज-व्यवस्था के परस्पर-भाव का जो चित्र हमारे सामने है उसमें एक बाजार की सी बात है। निरे बनियेपन की। तभी यहां दण्ड का भय समझौते के 'धारक' के रूप में उभरता है। जिस समझौते को यहाँ व्यवस्था का आधार बनाया जा रहा है, व्यापार

की साझेदारी का सा समझौता है, न मानें तो दण्ड का डर है। परस्पर-भाव यहां मेरे भीतर से नहीं उभरता, बाहर से थोपा जाता है। अब अगर हम कुशल व्यापारी हों और नीति की सही चाल चलना जानते हों तो समझौते से धोखा करने से चूकना क्या ठीक होगा? मूर्खता ही होगी। स्वरूप-च्युति भी होगी। हमारे स्वेच्छा-साधक स्वार्थ-*स्वरूप* की हानि होगी; कुनीति होगी। कहाँ की बुद्धिमानी होगी? चतुराई के साथ परार्थ-भाव को कपट-रूप से आगे रखते हुए अगर हम स्वार्थ साध सकें तो न साधना अपने ही साथ धोखा होगा। क्योंकि स्वार्थ साधना और अधिक से अधिक इच्छा-पूर्ति करना, यही अगर हमारा स्वभाव है तो जहाँ तक हो सके, जैसे भी हो सके, हमें वही करना चाहिए। दण्ड हम पर लगाम लगाता है तो दण्ड को भरसक छल-बल से निहत्था कर देना चाहिए। यह मान कर चलना चाहिए कि दण्ड देने वाला भी परार्थ-भाव से नहीं, अपने स्वार्थ से ही सबका ध्यान रखता है—व्यवस्था के पीछे भी स्वार्थ का ही तो समझौता है!

स्पष्ट ही 'समझौते' का यह स्वार्थ-प्राण चित्र पूरी तरह स्वार्थ पर आधारित नहीं हो सकता। ऐसा होता तो खोखला सा लगता; हम पर उतना छा नहीं पाता जितना कि आज छाया हुआ है। इसमें एक प्रच्छन्न परार्थ-कामना है जो इसे निरे बनियेपन से उबारती है। इसमें अपनी ही नहीं मानव मात्र की अधिक से अधिक इच्छापूर्ति की बात है। इस बात को स्वार्थ के साथ—अपनी इच्छापूर्ति के साथ—जोड़ा गया है; उसी में निहित, सम्मिलित माना गया है। बात को कुछ ऐसे रखा गया है मानो सबकी अधिक से अधिक इच्छापूर्ति की कल्पना न हो तो अपनी इच्छापूर्ति भी संशय में पड़ जाएगी। पर इस युक्ति में न कोई दम है, न इसका कोई आधार है। इसका कोई आधार हो ही नहीं सकता—उस दृष्टि में तो बिल्कुल नहीं हो सकता जो मनुष्य को इच्छामय मानती है। स्वेच्छापूर्ति साधना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा मनुष्य व्यवस्था की ओर झुके भी तो केवल इसलिए झुक सकता है क्योंकि उसकी इच्छा अन्य को भी अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाना चाहती है—ऐसे में दण्ड का ही साम्राज्य हो सकता है, व्यवस्था उभरे भी तो दास-व्यवस्था ही उभरेगी, कोई परस्पर-भाव-जन्य 'समझौता' कैसे बनेगा? यह प्रश्न प्रश्न ही रह जाता है। हम अगर कहें कि समझौते के आधार पर व्यवस्था की चेष्टा, यह *बुद्धि* का काम है तो बुद्धि फिर इच्छा की साधक भर नहीं रहती, बुद्धि की एक अलग 'चाह', अलग साधना, बन जाती है जो इच्छा से स्वतन्त्र है, स्वार्थ से भी स्वतन्त्र है। बुद्धि द्वारा ऐसी व्यवस्था-साधना जहां दूसरों की इच्छा का भी ध्यान हो, यह स्वेच्छा-वृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। फिर यह भी सोचिये। किसी समझौते से मनुष्य मात्र की इच्छापूर्ति की साधना ऐसी व्यवस्था की ही साधना हो सकती है जो आने वाली पीढ़ियों के स्वार्थ को भी ध्यान में रखे—बल्कि उसी को अधिक ध्यान में रखे, क्योंकि अधिक से अधिक मनुष्य तो आने वाले ही हैं, अभी हैं नहीं। और अधिक से अधिक स्वार्थ की साधना के लिए

व्यवस्था में बदलाव भी साधते रहना पड़ेगा, जो भविष्य-मुखी ही हो सकता है—ऐसी साधना आगे की पीढ़ियों को किसी अर्थ में साथ रखते हुए ही हो सकती है—जो बदलाव हम आज लायेंगे उसका फल हमारी सन्तति को ध्यान में रखे बिना नहीं साधा जा सकता—और यही हमारी सन्तति के साथ भी होगा। पर आने वाले की परवाह करना, यह कैसा स्वार्थ हुआ? दूसरे को—ऐसे अनजाने-अनपहचाने दूसरे को जो आज हमारे लिए इच्छा-पूर्ति में बाधक हो नहीं सकता—ऐसे दूसरे को ध्यान में रखना, अगर यह भी हमारे स्वार्थी स्वभाव से उपजती इच्छा है तो प्रश्न होगा ही : ऐसे किसी भी मनोभाव को क्या हम स्वार्थ का या इच्छापूर्ति का नाम भी दे सकते हैं? फिर स्वार्थ और परार्थ में भेद ही क्या?

जिस चित्र पर हम विचार कर रहे हैं, प्रकट है कि वह चित्र एक ऐसे परस्पर-भाव को ऊह्य मान कर चल रहा है जो स्वार्थ और इच्छामात्र की परिधि में नहीं ठहर सकता। मनुष्य मात्र के सुख की बात में उसी अहिंसा और प्रभव की ध्वनि है जिसे कृष्ण ने धर्म का मर्म कहा है। यह सहज, निःस्वार्थ परस्पर-भाव की बात है, स्वेच्छा की, या स्वार्थमय स्वैरता की नहीं। ऐसे परस्पर-भाव की कल्पना तभी हो सकती है जब 'स्व' और 'पर' में कहीं कोई गहरा अभेद हो—जिन 'अनेक' कर्त्ताओं की हमने बात की है उनमें कोई स्वभाव-सिद्ध एक-भाव हो। वास्तव में ऐसे किसी अभेद के बिना धर्म की ही नहीं, नीति-निष्ठ समझौते की भी बात नहीं हो सकती। समझौता—चाहे सौदे के लिए ही किया गया हो—केवल स्वार्थ की धरती पर नहीं बन सकता—किसी और गहरे परस्पर-भाव को ऊह्य रखता है।

और मनुष्य की जिजीविषा, उसकी साधना, उसका स्वभाव भी फिर 'इच्छा' पर या इच्छापूर्ति पर नहीं ठहर सकता। जैसे ही हम पर की इच्छापूर्ति की बात करने लगते हैं, बात ही बदल जाती है। प्रश्न उठने लगता है कि क्या अब 'इच्छा' की बात करना उचित भी है? अगर इच्छा का सम्बन्ध स्वार्थ से है तो दूसरे की इच्छा का ध्यान केवल अपनी *इच्छा* की प्रेरणा से नहीं हो सकता। अगर हम कहें कि होता है, दूसरे की इच्छापूर्ति की भी इच्छा होती ही है—तो फिर मानना पड़ेगा कि 'इच्छा' का क्षेत्र न 'स्व' तक सीमित है न 'स्वार्थ' तक; उसमें एक स्व-पर का अभेद या युगल भाव है। पर फिर स्वेच्छा में स्वैरता ही क्या रही? क्योंकि दूसरे की इच्छा के लिए हम अपनी इच्छा का त्याग भी करते हैं। इसे क्या कहेंगे? चलिए 'इच्छा' ही कह दें, तो 'इच्छा' 'इच्छा' के बीच कोटि-भेद मानना पड़ेगा। 'स्वेच्छापूर्ति' और 'परेच्छापूर्ति' में इच्छा का द्विस्वभाव अनायास ही उभरता है। 'परेच्छापूर्ति' के साथ 'त्याग', 'संयम', 'कर्त्तव्य' जैसे शब्द आ जुड़ने लगते हैं, जिनका सम्बन्ध स्वेच्छा से नहीं, स्वेच्छा के बाध से है। मनुष्य की व्यवस्था का आधार भी तब ऐसे परस्पर-भाव में उभरता दीखेगा जो इच्छा पर नहीं किसी और गहरी वृत्ति पर, औचित्य-बोध को समोती वृत्ति पर, टिका है। इसीलिए मनुष्य की व्यवस्था के साथ धर्म की बात

सार्थक ठहरती है—ऐसे धर्म की बात जो एक औचित्य-बोध के साथ हमारी व्यवस्था का धारण करता है और जिसका स्वतन्त्र कर्त्ताओं के रूप में हम अपने विवेक से धारण करते हैं।

एक आपत्ति हो सकती है। ऐसे कई भाव हैं—या 'भावनायें' कहिये—जिनके बस रहते हुए हम परेच्छा को सहज ही स्वेच्छा की कोटि में ही रखते हैं; यहां प्रयोजन त्याग, संयम, कर्त्तव्य जैसे किसी 'धर्म' का पालन नहीं होता, बल्कि अपने 'स्व' में ही और डूबते हुए हम परेच्छा का 'वरण' करते हैं। जैसे प्रेम में, वात्सल्य में, स्नेह में—या किसी के मोह में। यों स्वेच्छा की परिधि परेच्छा को सहज भी समेट ले सकती है; और इसके लिए इच्छा की कोई दूसरी कोटि बनाना ठीक नहीं जान पड़ता। जरूरी नहीं कि परेच्छा में स्वेच्छा का 'बाध' ही हो।

पर एक युक्ति पर ध्यान दें। यह ठीक है कि ऊपर जिन भावों की बात की गई है उनमें सचमुच ही लगता है कि स्वेच्छा और परेच्छा में अभेद सा आ समाया है। ऐसे भाव और भी हो सकते हैं। और किस भाव में क़ितनी दूर तक और कहाँ तक स्वेच्छा-परेच्छा एक हो जाते हैं, यह अपने आप में जिज्ञासा का विषय हो सकता है। पर इसका दायरा सीमित ही होता है। जिस परस्पर भाव की हम यहाँ बात कर रहे हैं वह भाव इससे कुछ अलग है। हमने ऊपर कर्त्ताओं के अनैक्य की बात की है। हमारे लिए यह 'पर' का सचमुच 'पराया' अनैक्य होता है। प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, मोह जैसे भावों में हम जिस 'पर' की बात करते हैं, वह अक्सर कोई दूसरा 'एक' ही होता है। पर दूसरे सचमुच अनेक हों, विशिष्ट 'अपने' न हों, तो फिर क्या परेच्छा स्वेच्छा में ही सिमट सकेगी? धर्म की बात ऐसे अनैक्य में ही उठती है। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य.. की उपेक्षा करती है। प्रेम हो या न हो, सत्य—न्याय—की बात उठ सकती है—प्रेम को नकार सकती है; ऐसी परिस्थिति में भी उठ सकती है जब बात किसी 'स्व'-विशेष की परेच्छा-स्वेच्छा की हो ही नहीं। तब और भी कठिन हो कर उठ सकती है। जैसे युद्ध की घड़ी में।

परेच्छा की परवाह, स्वेच्छा का स्वेच्छा से ही बाध, यह तो प्रेम-स्नेह में ही नहीं, नीति में भी हो सकता है, जैसा हम आगे कुछ विस्तार से देखेंगे। अन्तर यह है कि नीति में स्वेच्छा का बाध अधिकतर या किसी बृहत्तर स्वेच्छापूर्ति के हेतु किया जाता है। प्रेम में यह 'अहैतुक' होता है। और धर्म में भी। करने के लिए ही किया जाता है। तभी धर्म के प्रसंग में 'इच्छा' की बात असंगत बैठती है। किसी और वृत्ति की बात करनी चाहिए। वैसे भी अगर हम केवल इच्छातन्त्र होते तो धर्म की ही नहीं, प्रेम की या नीति की भी बात नहीं उठती। नीति में भी तत्काल की इच्छा का बाध होता ही है; उस पर लगाम लगानी पड़ती है। हम ऊपर चर्चा के आरंभ में ही देख भी आए हैं कि हमारी प्रवृत्ति में इच्छा-भिन्न दूसरी वृत्तियाँ हैं ही—इच्छा के (काम के) और सोपान भी हैं और ये ही हमें स्वतन्त्र बनाते हैं—'धर्म-काम' इसी अर्थ में 'काम'

है। इच्छा हमें स्वतन्त्र नहीं करती, पर धर्म की कामना करती है, चाहे उसे काम का ही नाम दें। इच्छा के तन्त्र को हम 'पारतन्त्र्य' कहें या न कहें, और न कहें तो क्या कहें, यह अलग प्रश्न हो सकता है, पर इच्छातन्त्र को हम 'स्वातन्त्र्य' का तो नाम नहीं दे सकते।

फिर भी दे ही देते हैं; जब देते हैं तो एक तरह के अपोह के, व्यावृत्ति के रूप में देते हैं; जो भ्रम में डालती है। हम यों प्रयोग करते हैं : दूसरे की इच्छा के बस में होना 'परतन्त्र' होना है –और यह सोचना सहज ही लगता है कि इससे बड़ा पारतन्त्र्य क्या हो सकता है? अब 'परतन्त्र' नहीं होना ही 'स्वतन्त्र' होना है–तो निष्कर्ष निकल ही आया कि अपनी इच्छा में रहते हुए, उसे साधते हुए हम स्वतन्त्र होते हैं : दूसरे की नहीं, अपनी इच्छा के बस होना स्वतन्त्र होना है। पर इच्छा के बस में होना–चाहे अपनी ही इच्छा क्यों न हो–यह स्वतन्त्र होना कैसे कहला सकता है? अगर यही स्वतन्त्र होना होता तो स्वतन्त्र होना एक गहरे, व्याकुल करते प्रश्न के रूप में बार-बार हमारे भीतर से उमड़ कर नहीं आता रहता। अगर हमारी प्रवृत्ति पूरी तरह इच्छामयी होती तो हम एक कार्य-कारण प्रवाह में बहते रहते, स्वतन्त्र-परतन्त्र की बात ही कहाँ उठती? सच पूछिए तो इच्छातन्त्र से मुक्ति ही स्वतन्त्र होने का द्वार है।

हम यहाँ स्वेच्छा और स्वातन्त्र्य में जो अन्तर कर रहे हैं, उस के बारे में प्रश्न होगा–उसे कैसे आँकें, कैसे समझें? स्वेच्छातन्त्र को हम (एक पुराने शब्द की अनुवृत्ति करते हुए) स्वैर-तन्त्र कह सकते हैं–कुछ ऐसा कह भी आए हैं। पर स्वैर-तन्त्र शब्द बनने में ही टूटता हुआ भी दिख जाता है : स्वैर वही है जो तन्त्र-बाहर हो। थोड़ा भी विचार कर देखिए तो स्वेच्छा या स्वैरता के साथ तन्त्र शब्द जोड़ना ही अटपटा लगता है, क्योंकि तन्त्र शब्द 'व्यवस्था' के अर्थ में आता है। इच्छा और इच्छापूर्ति के कार्य-कारण प्रवाह में भी एक शृंखला या विन्यास हम देख सकते हैं, एक ऐसा 'बंध' या 'ढाँचा' जिसे विचार में स्फुट किया जा सकता हो, पर ऐसे ढाँचे को धर्म के संदर्भ में 'व्यवस्था' का नाम देना कतई उचित नहीं जान पड़ता। इसे क्रिया-व्यवस्था कह सकते हैं। पर जैसी व्यवस्था की हम बात कर रहे हैं और जिसे धर्म के सन्दर्भ में समझना चाह रहे हैं–ऐसी व्यवस्था का सम्बन्ध क्रिया से नहीं कर्म से बनता है, और तभी स्वातन्त्र्य से।

'स्वतन्त्र' को यों समझ कर देखें : अपने तन्त्र में, अपनी व्यवस्था में होना। अब यह व्यवस्था इच्छा की तो नहीं हो सकती–चाहे इच्छा इसका अंग हो सकती हो। पर व्यवस्था फिर है किसकी? हममें इच्छा ही नहीं और भी वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ हैं, स्वातन्त्र्य का उन्हीं से सम्बन्ध होना चाहिए। पर किससे? हम उस वृत्ति को कोई भी नाम दें–चलिए 'विवेक' कह लें–या कोई अलग नाम न दें और कहें कि हमारी मनुष्य-सुलभ प्रवृत्तियों में एक प्रवृत्ति ऐसी है जो दूसरी प्रवृत्तियों से भिन्न है, जो हमें 'कर्म' की प्रेरणा देती है, जहां इति-कर्त्तव्यता के औचित्य का प्रश्न उठता है : इसी

औचित्य के तत्त्व को हम 'धर्म' का नाम देते हैं, विचार से इसकी टोह भी लेते हैं, क्या किया जाए, इसके शास्त्र भी बनाते हैं। यों इसे अनाम भी रख सकते हैं। पर तब विचार करने में कठिनाई होगी, और यह प्रश्न तो फिर भी होगा कि इस वृत्ति का या प्रवृत्ति का तन्त्र से और स्व से क्या सम्बन्ध है?

प्रश्न को व्यावृत्ति के रास्ते परखें तो मुझे लगता है कुछ सूझ-बूझ पा सकते हैं। हमने ऊपर विचार और कल्पना की बात की थी। इनका सम्बन्ध भी स्वातन्त्र्य से जोड़ा जा सकता है। देखा जा सकता है कि इनमें भी स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध स्वेच्छा से नहीं है। हम पूछ सकते हैं कि इनके स्वातन्त्र्य में और कर्म (या धर्म) के स्वातन्त्र्य में क्या भेद है? ऐसी व्यावृत्ति से कर्म-स्वातन्त्र्य का स्वरूप कुछ खुल सकता है। इच्छा से भिन्न किसी और आधार का सुराग मिल सकता है।

पर चौखट पर ही आकर कोई करारा सा प्रहार दे जा सकता है। बात को यों रोक दे सकता है : चलिए, विचार को एक तरफ रखिए पर कल्पना तो इच्छा-तन्त्र, इच्छासार ही है; 'रस' या 'रञ्जन' जैसा कुछ ढूँढती है, जिसमें इच्छापूर्ति की तृप्ति और सुख होते हैं। कल्पना के लिए इच्छा साधक है, वह 'सत्य' या धर्म जैसा कुछ नहीं ढूँढती जहाँ इच्छा बाधक होती हो।

कल्पना का इच्छा से सम्बन्ध यों भी देखा जा सकता है। मीमांसकों ने धर्म के विधि-निषेधों की बात करते हुए एक मुहावरे का प्रयोग किया है, 'रागतः प्राप्तः'—'वह जो सहज इच्छा से अपने आप सिद्ध है', जिसके लिए 'चेष्टा' नहीं करनी पड़ती, जैसी कि धर्म में करनी पड़ती है। कल्पना को हम रागतः प्राप्त कह सकते हैं। धर्म और विचार को हम 'आयास सिद्ध' मानें भी तो कल्पना को तो रागतः प्राप्त कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती लगती। पर हाँ, इसके विपरीत यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि बात अगर आयास-अनायास या सहज-असहज की है तो फिर यह भी ध्यान रखना होगा कि विचार और धर्म में भी आयास से मुक्ति को, 'सहज' को बड़ा मोल दिया जाता है। और यों भी देखें : धर्म और विचार अगर हमारी प्रवृत्तियाँ हैं तो किसी अर्थ में ये भी 'रागतः प्राप्त' हैं ही। पर इतना मान लेने पर भी प्रतीति यही गवाही देती है कि रागतः प्राप्ति का जो स्वभाव-सम्बन्ध कल्पना से बैठता है वह धर्म और विचार से नहीं बैठता जान पड़ता। धर्म में इच्छा बाधक हो सकती है। विचार में तो उसका बाधक होना स्वतःसिद्ध सा लगता है, पर कल्पना में उसकी गति विपरीत ठहरती है।

पर हम इस बात को उभार आए हैं कि कल्पना और विचार दोनों में हम एक 'संगति' ढूँढते हैं। धर्म की भी साधना सदृश है। संगति की तलाश वहाँ भी होती है। कल्पना, विचार और धर्म को हम व्यावृत्ति के रास्ते समझना चाहें तो यह देखना काम का हो सकता है कि इनकी संगतियों में क्या भेद है, इनके साधक-बाधक क्या है?

एक बात तो पहले ही सामने आ जाती है : विचार हो या धर्म या कल्पना, सच पूछिए तो इनमें किसी में भी संगति-साधना इच्छा या स्वेच्छा को आधार नहीं बनाती। इच्छा तीनों ही संगतियों में बाधक हो सकती है। तीनों में हम 'स्वतन्त्र' तो होते हैं पर 'स्वैर' नहीं। तीनों में हम एक व्यवस्था ढूँढते हैं, जो इच्छा की बात नहीं होती। हाँ, चलिए, यह सच भी हो कि हमारे स्वभाव का जो इच्छामय अंग (या 'कोष') है वही हमें कल्पनाशील भी बनाता है, नहीं तो हममें वह प्रवृत्ति नहीं होती—इस बात को मान भी लें तो भी इच्छा को हम किसी अर्थ में कल्पना का जनक या कारण ही कह सकेंगे, कल्पना की संगतियों का आधार नहीं। विचार और धर्म की ही तरह वहां भी *संगति* रागतः प्राप्त नहीं होती। संगतियों की सम्भावनाएँ चाहे कल्पना में विचार और धर्म से कहीं अधिक उर्वर हों, पर वे स्वेच्छा-सिद्ध नहीं होतीं।

इच्छा और कल्पना के एक और सम्बन्ध की बात की गई है। आलंकारिकों में कुछ नव्य-नैयायिक भी हो गए हैं; उनमें से कुछ कहते थे कि इच्छा के बल पर हम असत्य वचन की भी सत्य रूप में कल्पना कर सकते हैं—कल्पना ही नहीं कर सकते सत्य के रूप में उसका *ज्ञान* कर सकते हैं, और ज्ञान-जन्य *अनुभव* कर सकते हैं। ऐसा तब होता है जब इस प्रक्रिया में कल्पना को रस या चमत्कार जैसा कुछ मिलता हो। ऐसे 'ज्ञान' को 'आहार्य ज्ञान' कहा गया है—इच्छा के सहारे अवास्तव का वास्तव के रूप में 'ले लिया गया' ज्ञान। मुखचन्द्र में मुख और चन्द्र का जो बाधित अभेद है उसे इच्छा अबाधित के रूप में साध देती है। हम चाहते हैं कि अभेद का बोध हो, और यही इच्छा बाध को दूर कर देती है। यहां जिसे 'आहार्य ज्ञान' कहा जा रहा है, उसे ज्ञान नहीं कल्पना ही कहना उचित है, और यों इच्छा का कल्पना से सम्बन्ध-सामीप्य भी उभर आता है—इच्छा कल्पना की साधक या जनक ही नहीं, सहचरी भी कहला सकती है। पर जाँचने की बात यहाँ यह है कि यहाँ इच्छा शब्द का प्रयोग ही संदिग्ध लगता है—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, इनसे बनते बोध और अनुभव को किसी तरह—'आहार्य' के नाम पर—खींच कर ज्ञान की कोटि में ला रख देने से क्या सिद्ध होता है? इन्हें असत्य तो फिर भी कहा ही जा रहा है! इच्छा इस असत्य को सत्य कैसे बना दे सकती है? सच पूछिए तो यहां इच्छा की—और जिस तथ्यात्मक अर्थ में 'सत्य' को लिया जा रहा है उस रूप में सत्य की—बात उठाना ही असंगत है। बात यहां वस्तु-ज्ञान की है ही नहीं, कल्पना की है—लक्ष्य सत्य नहीं रस है और इस लक्ष्य में इच्छा की कोई भूमिका नहीं है। रूपक अगर अच्छा न हो, उसमें प्रतिभा न हो, संगति न हो, तो रस की निष्पत्ति नहीं कर सकता—यह बात हमारी इच्छा की—हमारे चाहने न चाहने की—नहीं है, कल्पना के स्वतन्त्र रूप से समर्थ होने की बात है। सत्य या धर्म में तो इच्छा के साधक होने की बात और भी असंगत लगती है।

विचार, कल्पना और धर्म के भेद के स्वरूप को कुछ और भी विवरण के साथ उभारना चाहें तो तीनों के अपने-अपने लक्षणों की गहराई से थाह लेनी होगी। पर यह जिज्ञासा यहाँ प्रसंग बाहर लग रही है। प्रश्न अपने आप में गहरा और जटिल है, लेकिन विचार को अलग दिशा में ले जाता है। भेद की कुछ थाह हम ले चुके हैं, जितनी मुझे यहाँ हमारे काम की लगी। पर स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में एक भेद जो हम उभार आए हैं उस पर कुछ और कहना यहाँ अनुकूल होगा। हमने ऊपर देखा कि कल्पना और विचार में यह सम्भव है कि एक ही साथ विभिन्न निर्मितियाँ बनाई जा सकें। और इसी कारण यह भी सम्भव है कि कल्पना या विचार को कोई एक दिशा में बढ़ा कर भी हम वापिस मुड़ आयें और दूसरी दिशा में चल पड़ें। पर कर्म में यह सम्भव नहीं। इस सम्भावना में एक बड़ा बाध है, कर्त्ताओं का अनैक्य। विचार और कल्पना में यह बाध नहीं होता, क्योंकि कल्पना या विचार की संगतियाँ स्वयंभू सी होती हैं। स्वप्रतिष्ठ। अपने आप में पर्याप्त। कर्त्ताओं के अनैक्य से उनके बनने न बनने पर कोई असर नहीं पड़ता दीखता। पर कर्म होता ही ऐसे क्षेत्र में है जहाँ अनेक कर्त्ता एक-दूसरे के साथ, एक-दूसरे के प्रति कर्म करते हैं। ऐसे में किसी एक कर्त्ता के लिए सम्भव नहीं कि किए हुए कर्म को वापिस समेट ले।

इससे कर्म का स्वातन्त्र्य भी कुछ और पहेली सा हो जाता है। कल्पना और विचार में माना कि संगति किसी स्व की इच्छा के अधीन नहीं होती, फिर भी उनमें कोई भी 'स्व' एक साथ कई दिशाओं की सार्थक यात्रा कर सकता है। पर कर्म में यहाँ बाध है। कर्म में हम जिधर चल पड़ें वहाँ से कहीं और की दिशा तो ले सकते हैं, पर वापिस नहीं लौट सकते।

इससे एक प्रश्न उठता है। कर्म में हम जो कर बैठें उसे बदल नहीं सकते तो संगति कैसे साध पाते हैं? क्या कर्म में संगति साधने का कुछ अर्थ बनता भी है? फिर एक बात और है। संगति की साधना एक की साधना है पर कर्म में तो अनेक का अनिवार्य गुँथाव है—कइयों का एक साथ स्वतन्त्र-भाव से कुछ साधना। यहां संगति का क्या अर्थ बनता है?

इस प्रश्न के विचार में यहाँ अभी नहीं जाऊँगा, पर संक्षेप में—और इसलिए शायद अधूरी सी—एक बात कहना चाहूँगा। कर्म में हम ('मैं' नहीं 'हम') जो साधते हैं उसी को 'संस्कृति' जैसे नाम देते हैं। समष्टि के 'पुरुषार्थ' की भी बात की जा सकती है—अभ्युदय', या कृष्ण के शब्दों में, 'प्रभव', यह विशेषकर परस्पर-भाव में किए जाते कर्म का उद्देश्य है। इस साधना में संगति की साधना तो होती ही है। उसके बिना सार्थक कुछ बनेगा ही नहीं।

पर यह संगति साधता कौन है? स्वतन्त्र तो हम व्यक्ति रूप में हैं, समूह-रूप में नहीं। और अगर हैं तो इस स्वातन्त्र्य का क्या अर्थ? हम एक सामान्य प्रश्न भी यहां कर सकते हैं—विचार और कल्पना से भिन्न, कर्म के स्वातन्त्र्य का ही क्या अर्थ?

कर्म के स्वातन्त्र्य पर आने से पहले 'स्वतन्त्र' की धारणा पर ही विचार करें। एक तरह से देखें तो धारणा में एक विरोध झाँकता लगता है। कारण यह है कि 'स्वतन्त्र' में 'स्व' और 'तन्त्र' का सम्बन्ध ही असंगत जान पड़ता है। 'स्व' और 'तन्त्र' में एक विरोध है, या विरोध का आभास तो है ही। कोई भी 'तन्त्र' किसी 'स्व' का नहीं हो सकता। इच्छा स्व की किस अर्थ में होती है, प्रश्न उठाया जा सकता है; पर इच्छा को हम स्व के साथ, व्यक्ति-विशेष के साथ, ही जोड़ते हैं। पर तन्त्र के लिए तो 'स्व' स्वरूप से ही बाधक लगता है। तन्त्र के पीछे एक तत्त्व या आधार होता है जो सामान्य, सार्वजनीन न हो तो तन्त्र ही क्या? तन्त्र किसी विशेष स्व से बँध जाए तो लगता है उसका स्वरूप ही बाधित हो गया। 'तन्त्र—या व्यवस्था—कहने का ही कोई अर्थ नहीं रहा।

पहले विचार में यही प्रतीत हो सकता है, पर आगे हम 'स्व-तन्त्र' का व्यष्टि से भी सम्बन्ध साधेंगे।

एक बात देखिये। स्वातन्त्र्य का अनुभव तो हम व्यक्ति के रूप में ही करते हैं—अगर किसी विशेष 'स्व' के स्वतन्त्र होने का कोई अर्थ नहीं बनता तो फिर स्वतन्त्रता की बात ही क्या हुई? और उसके बिना धर्म ही नहीं विचार—और आप कह सकते हैं, कल्पना भी—इनकी वृत्ति या इनकी ओर प्रवृत्ति का ही क्या अर्थ हुआ? लगता है, हमें चाहिए कि हम 'तन्त्र' की ही बात करें, उसके साथ 'स्व' को क्यों जोड़ रहे हैं? पर संकट यह है कि 'स्व' को न जोड़ें तो किसी भी तन्त्र से 'मेरा' क्या सम्बन्ध या सरोकार?

यहां मुझे लगता है कि स्वेच्छा और स्वतन्त्रता में एक और अन्तर की ओर ध्यान दें तो कुछ बात आगे बढ़ पायेगी। जो प्रश्न उठा है टेढ़ा है—एक ओर 'स्व' के व्यष्टि-सीमित विशेष स्वभाव का इंगित है, दूसरी ओर उसमें एक सामान्य स्वभाव या धरातल का संकेत है जो उसे स्व के घेर से निकालता है। एक वैषम्य सा आगे आता है। उधर हम अभी नहीं बढ़ेंगे। पर साफ ही अपने आप में 'स्व' की खोज भेद और विशेष की ओर ही ले जाती लगती है। किसी एक 'परम' विशिष्ट की ओर। ऐसे विशेष की खोज विचार को लाचार सा कर दे सकती है; विचार सामान्य में स्थित होता है। विशेष सामान्य का निषेध है। फिर हमें तो एक नहीं, अनेक झुण्ड के झुण्ड नितांत विशिष्ट स्व चाहियें; इन्हें कहां ढूंढ़ेंगे? क्योंकि स्व सचमुच स्वभाव से ही विशेष हो तो एक ही हो सकता है, अनेक नहीं; और अनेक हों भी तो उनके किसी एक लोक की बात कैसे होगी जहां सब साथ होते हैं? विशेषों के परस्पर-भाव का क्या अर्थ होगा? यहां हम अगर स्व के लक्षण की ओर न बढ़ कर स्वेच्छा और स्वतन्त्रता के भेद पर ध्यान दें तो शायद बात कुछ आगे बढ़ निकले। स्व के विशेष और सामान्य रूप पर भी प्रकाश पड़े।

मैं समझता हूँ कि बात शुरु करने के लिए हम कह सकते हैं कि स्वेच्छा एक स्थिति है, जब कि स्वतन्त्रता एक खोज है। इच्छा में हम होते हैं, 'स्वतन्त्रता' में होना चाहते हैं। इच्छा सिद्ध है, स्वतन्त्रता साध्य है। यों तो हम कहते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं, और उसी अभिप्राय से कहते हैं जिस अभिप्राय से यह कहते हैं कि हममें इच्छा है। सुनने में दोनों बातें एक सी लगती हैं : दोनों का ही इंगित किसी भाव या स्थिति की ओर जान पड़ता है। पर दोनों में भेद है : तत्त्व का भेद। इच्छा की ओर उँगली उठा कर हम बता सकते हैं, हमारी अमुक इच्छा है। स्वतन्त्रता वैसी कोई 'चीज़' नहीं। प्रश्न हो सकता है कि 'हमें स्वतन्त्र होना चाहिए', यह बात स्वतन्त्रता की इच्छा की ही बात है। पर स्वतन्त्रता की इच्छा को स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। इसे इच्छा से मुक्ति की इच्छा कह सकते हैं। आप कह सकते हैं कि फिर भी यह कहलाई तो इच्छा ही। पर स्पष्ट ही यह प्रयोग का भ्रम है। इसे ही दूर करने के लिए हम इच्छा के प्रकार-भेद की, और प्रकार-भेद ही नहीं, कोटि-भेद की बात आरंभ के अध्यायों में कर आए हैं। इच्छा में कोटि-भेद न करें तो प्रवृत्ति मात्र इच्छा हो जाएगी; फिर प्रवृत्तियों में भेद कैसे करेंगे? मनुष्य को हम स्वतन्त्र कहना चाहें तो उसे इच्छामय नहीं बना दे सकते। पर स्वातन्त्र्य को स्थिति भी नहीं कहा जा सकता। संविधान दावे के साथ कहता है कि हम जनमते ही स्वतन्त्र हैं। पर यह लक्षणा या उत्प्रेक्षा की ही बात है। जनमते तो हम इच्छा के साथ भी हैं; पर यह कहने के लिए किसी संविधान या विधान की आवश्यकता नहीं होती। स्वतन्त्रता के लिए क्यों होती है? स्पष्ट ही इच्छा के होने में और स्वतन्त्रता के होने में अन्तर है। स्वतन्त्रता में 'होना चाहिए' का भाव इसी से प्रकट है कि उसका विधान या 'संविधान' किया जा रहा है। स्वतन्त्रता का हम संधान करते हैं—अपने में भी, और दूसरों में भी। इसे इतना उचित समझते हैं कि संविधान में इसे 'है' की कोटि तक में रख देते हैं।

आदर्श है स्वतन्त्रता, और किसी समाज के संविधान में जब ऐसे आदर्श का विधान हो, उसे 'है' का दर्जा दिया जा रहा हो, तो अर्थ यही हो सकता है कि हम परस्पर-भाव से स्वतन्त्रता के आदर्श को साधते रहें, यह हमारा *दायित्व* है—इच्छा हो या न हो। यह इच्छा की बात नहीं हो सकती।

पर क्या 'स्थिति' की भी बात नहीं हो सकती? हमने जब कहा 'दायित्व है' तो बात स्थिति की ही हुई। और स्थिति की बात न हो तो कानून का अंग कैसे बनेगी—हम स्वतन्त्र हों नहीं तो अपने किए के लिए दायी कैसे ठहराए जायेंगे? तो फिर भी अभी जो मैंने कहा, स्वतन्त्रता स्थिति नहीं खोज है, उसका क्या आशय ठहरता है? यह भी सोचिये : किसी भी खोज के लिए खोजने वाला तो चाहिए और खोजने वाला 'स्थितिमान' ही तो कहलायेगा? माना कि खोजना एक गतिमान व्यापार है, एक कर्म; लेकिन खोजने वाला भी अगर एक व्यापार हो तो अर्थ ही क्या बना?

सच पूछिए तो स्वतन्त्रता की हम बात करते हैं तो कर्म की ही बात करते हैं–स्वतन्त्रता का *होना* (इस अर्थ में चाहे 'स्थिति' भी कह लीजिये), कर्म का, *करनी* का–होना है, जो चरिष्णु ही होती है। अर्थ यह बनता है कि स्वतन्त्रता एक प्रवृत्ति है। व्यापृत होना ही उसका प्राण है। यह ठीक है कि किसी अर्थ में हम स्वतन्त्रता की 'स्थिति' में न हों तो स्वतन्त्रता का व्यापार भी निरर्थक सी बात होगी। इस हेतु हम दायित्व या विवेक जैसी वृत्ति की बात करते हैं (जो हममें 'स्थित' होती हुई) स्वतन्त्र *कर्म* को गति देती है। अब, हम यहाँ चाहें तो इच्छा को भी वृत्ति कह सकते हैं और उसकी अपनी अलग प्रवृत्ति की बात कर सकते हैं। यों एक को 'स्थिति' और एक को 'खोज' कहने जैसी विचित्र कोटियों से भी बच जायेंगे। बात हमारी प्रवृत्ति के भिन्न *व्यापारों* की हो जाएगी। यही ठीक भी है। 'स्थिति', 'गति' जैसे प्रयोग क्रिया के लिए ठीक हैं, कर्म के लिए भ्रान्ति पैदा कर सकते हैं। इच्छा और स्वतन्त्रता, दोनों को भिन्न प्रवृत्तियां कहना अधिक उपयुक्त है।

पर विचार का उद्देश्य यहाँ केवल कोटियाँ बनाने का और कोटियों को सुथरा सँवरा करने का नहीं है। इच्छा और स्वतन्त्रता दोनों अगर वृत्तियां हैं तो फिर दोनों में साम्य उभर आता है। पर हमारी चेष्टा तो यह देखने की है कि इच्छा और स्वतन्त्रता में जो साम्य *दिखता* है वह कैसा भेद छुपाये है? उस भेद को उभारने के लिए ही मैं 'स्थिति' और 'खोज' जैसे पदों की ओर गया था। पर दिखता ही है कि ये पद ठीक नहीं हैं। तभी हमने दूसरी दिशा ली। पर जैसी भी पदावली का हम प्रयोग करें, एक निगूढ़ अर्थ में हम मान कर चलते हैं कि भेद है और इस भेद पर सचमुच कुछ कहने की बात भी है जरूर। हमारा अनुभव ही हमें कहता है–अभी भी कह रहा है–हममें एक द्वैत है : इच्छा में (उसे 'स्थिति' या 'प्रवृत्ति' जो भी कहें) उस *में* हम 'स्व' को पाते हैं, पर साथ ही यह भी पाते हैं कि हम स्व से परे दूसरों के साथ ऐसे किसी तन्त्र की–व्यवस्था की–खोज करते रहते हैं जो न्याय्य भी हो, कल्याणमय भी हो। ऐसे तन्त्र को हम साधते हैं, उस में हम 'स्व' को पाते नहीं हैं। पाने की ललक ही रहती है। पर साथ ही स्व को हम जिस स्थिति में पाते हैं, वह इच्छा की ही नहीं, व्यवस्था की भी होती ही है। व्यवस्था हम पर ऊपर से ही थोपी सी होती है। हम उसे बदलना चाहते हैं–क्योंकि जैसी होना चाहिए वैसी होती नहीं है। अब इस चाह को 'इच्छा' कहिये या कुछ और, फर्क नहीं पड़ता; पर यह इच्छा दूसरी इच्छाओं से भिन्न है। भेद करने के लिए इसे विवेक कह देते हैं। विवेक भी स्व में ही होता है, पर यह इच्छा की तरह 'मेरा' नहीं 'हमारा' होता है–अपने स्व के अनुभव में ही इस बात का हम गहरा बोध और आश्वासन पालते हैं।

अब तक की बात कुछ टेढ़ी-बाँकी चली है, पर इतना तो प्रकट है कि 'स्वतन्त्र' का 'स्व' किसी 'मैं' का स्व नहीं हो सकता। 'स्व' के अनैक्य में पिरोया हुआ ही 'स्व' हो सकता है।

हमने ऊपर देखा कि यह 'स्व' एक समझौते का 'स्व' माना जा सकता है। पर ऐसा मानने पर 'स्वतन्त्रता' की बात 'स्वेच्छा' के ही पसारे को बढ़ाने की बात होगी, जब कि समझौते के लिए स्वेच्छा से भिन्न किसी वृत्ति को मानना ज़रूरी लगता है; ऐसी वृत्ति जिसमें स्व के लिए पर के साथ सँभली हुई चाल चल सकने की सामर्थ्य हो। इस वृत्ति को हम बुद्धि भी कह सकते हैं। उस अर्थ में कह सकते हैं जिस अर्थ में 'बनिया बुद्धि' में 'बुद्धि' का प्रयोग है। वैसी ही *नीति*-बुद्धि। यही कहना ठीक भी होगा, क्योंकि समझौते में 'स्व' का अनेक एक एक में बिखरा हुआ ही रह सकता है, हर एक अपनी अपनी इच्छा साधता हुआ दूसरे के साथ रहता भर है, स्व-पर में कोई भीतर का अभेद यहां नहीं उभर कर आता। और यों जो तन्त्र बनता है उसमें 'अहिंसा', 'प्रभव', 'कल्याण', 'अभ्युदय' आदि की बात करें यह असंगत ही लगता है। न्याय की बात शायद कर सकते हैं–पर सत्य को नहीं, दण्ड को प्रहरी बना कर।

बहुत प्राचीन काल से ही 'समझौते' के सिवा और भी दृष्टियाँ रही हैं जो मनुष्य के तन्त्र को स्वार्थमयी नीति- बुद्धि से नहीं बाँधतीं, धर्म के विवेक के साथ जोड़ती हैं–जहां स्व-पर का परस्पर-भाव मनुष्य की सहज औचित्य-प्रवृत्ति में बसा देखा जाता है। ऐसी ही एक दृष्टि हमारे यहाँ भी है। उसको **महाभारत** के आधार पर खड़ा करने की चेष्टा करता हूँ। इस दृष्टि में तन्त्र का जो चित्र बनता है वह ऊपर ऊपर से कुछ समझौता वाले चित्र जैसा लग सकता है और उसी जैसा अक्सर कहा भी जाता है। क्योंकि उसी के अनुरूप ढाल कर कहा जाता है। कारण यह है कि हम अपनी बात को जब तक पश्चिम की छाया में न देखें हमें बात ही नहीं दिखती; पर यह नीति का नहीं धर्म का चित्र है। स्वतन्त्रता की बात करता है, स्वेच्छा की नहीं।

आज कलियुग है। धर्म केवल एक पाँव पर खड़ा है, इसलिए उखड़ा ही है, खड़ा नहीं। जिसके चार पाँव हों, एक पर कैसे खड़ा रह सकता है? इसीलिए आज हम धर्म को नीति में उतार रख देने की बात करते हैं। पर सत् युग में ऐसा नहीं था। तब धर्म चारों पाँवों पर खड़ा था। और तब लोगों में एक स्वभाव-सिद्ध परस्पर भाव था। मनुष्य सहज ही एक-दूसरे का भावन करते थे ('भावन' में यहाँ 'प्रभव' की भी ध्वनि साफ है)। बात को **महाभारत** के शब्दों में लें–वैसे इस तरह की बात अन्यत्र पुराणों में भी मिल सकती है। कथन भीष्म का है (राजधर्मानुशासन पर्व, शांति पर्व में 59वां अध्याय, गीता प्रेस संस्करण) और वे इस बात पर विचार कर रहे हैं कि मनुष्य को राजतन्त्र की, राजा की, दण्ड की, इन बातों की आवश्यकता ही क्यों हुई, यह तो मनुष्य-भाव में जो कुछ भद्र है उस की विभीषिका है।

अब जो कलि है, उसके विपरीत, भीष्म एक आद्य, धर्ममयी स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं "*न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः, धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति च परस्परम्*।–न राज्य था न राजा, न दण्ड था न दण्ड देने वाला, धर्म

से ही सारी प्रजा एक-दूसरे की रक्षा करती थी।'' पर फिर यह हुआ : ''*पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत। खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्* //–धर्म से एक-दूसरे का पालन करते हुए लोग थक गए और मोह के शिकार हो गए।'' और तब : ''*ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ, प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्* /–यों मोह के वश हो जाने पर मनुष्य की 'प्रतिपत्ति' (परस्पर विश्वास, भरोसा, श्रद्धा) भ्रम में खोती गई और धर्म नष्ट हो गया।'' वे स्वार्थी हो गए। स्वेच्छाशील लाभ के वशीभूत हो गए, इच्छा के मोह से विवेक आच्छन्न हो गया : ''*नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा, लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम* /–प्रतिपत्ति के नष्ट होने पर लोग लोभ के वश हो गए; (कामना और इच्छा के वश हो गए, उनकी प्रवृत्ति धर्मतः न हो कर रागतः हो गई)।'' ''*अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः। कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो।। तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्। रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर।।* (लोभवश) जो नहीं मिला है, उसकी चिन्ता करते हुए मनुष्य में काम जाग उठा। कामवश हो जाने पर उनमें राग आ पैठा। और युधिष्ठिर, सुनो, जो रागवश होता है, उसे क्या करना चाहिए क्या नहीं, इसका कोई ज्ञान नहीं होता।''

इसके बाद ही राजधर्म, राज्य और राजा की सृष्टि हुई। दण्ड प्रयोग में आ गया।

दीख ही रहा है, **महाभारत** का यह चित्र समझौते वाले चित्र से बिल्कुल अलग है। यह परस्पर-भाव का, स्व के सहज परार्थ-भाव का चित्र है। स्वार्थ इसमें आगन्तुक है। विस्वभाव। परस्पर-भाव के विवेक से किया गया कर्म मनुष्य का स्वभाव है, उससे च्युति ही स्वेच्छा में स्थिति है। समझौते वाले चित्र की तरह यह चित्र भी एक 'आदर्श' चित्र है। एक 'काष्ठा' की, एक 'परम' स्थिति का वर्णन है, जो विचार-कल्पना की ही बात हो सकती है। कही यों गई है कि मानो इतिहास की है, पर किसी सचमुच के वृत्तान्त का यहाँ कोई चित्रण नहीं है। समझौते वाले चित्र ही की तरह मनुष्य और उसके अनैक्य में जो अनुस्यूत ऐक्य है उसके 'आद्य'–आधारभूत–स्वरूप को उभारने की यहां भी चेष्टा है। पर यहाँ स्वार्थ को नहीं परार्थ-भाव को मनुष्य के स्वभाव का ही अंग कहा गया है। स्वार्थ-भाव को तो उसकी च्युति के रूप में आँका गया है।

मनुष्य यहाँ स्वभाव से धर्मतन्त्र है, स्वेच्छा-तन्त्र तब होता है जब धर्म से 'खिन्न' हो जाता है, इच्छा की ओर फिसल जाता है, जब उसमें वह जागरूक भाव–वह विवेक–नहीं रहता, जो धर्म के लिए आवश्यक है। इस भाव से हटना ही मोह की स्थिति है–जागरूक विवेक का सुप्त हो जाना। स्वरूप-च्युति। और तब हम इच्छा मात्र के विवश प्रवाह में अंधे से बहते चले जाते हैं।

फिर भी एक बात यहाँ लक्ष्य करने की यह है कि इस चित्र का मनुष्य धर्ममय और इच्छामय दोनों है और उसकी इच्छा मोहरूपी है। अगर उसमें इच्छा का अभाव होता तो उसके परस्पर-भाव में गाँठ आती ही नहीं। यह इच्छा-स्वभाव मोह का ही परिणाम हो सकता था। अभिनव गुप्त के शब्दों में मनुष्य 'मानुष्येण उपहत:' है—स्वार्थ-परार्थ के बीच उलझा हुआ।[1] वह अपने को कलियुगी ही पाता है। सत् युगी होना तो आदर्श है, पुरुषार्थ है, खोज है। पर आदर्श तो दिगंत की ओर ही दृष्टि रखता है, वह सत् युग जैसा ही कुछ हो सकता है; इच्छामय होना क्या आदर्श होगा ! लेकिन साथ ही यह भी मानना होगा कि मनुष्य का जो आदर्श है, किसी अर्थ में मनुष्य सचमुच वही है, चाहे लगता कुछ और हो नहीं तो आदर्श का भी क्या अर्थ होगा? इसी होने के लिए ऊपर हमने 'स्थिति' से भिन्न 'खोज' या 'प्रवृत्ति' पदों का प्रयोग किया। इच्छा का 'होना' स्पष्ट ही ऐसा नहीं है।

अब, इतना कहने के बाद, स्वातन्त्र्य के लिए हम कह सकते हैं कि मनुष्य का धर्मतन्त्र होना ही उसके 'स्व' का तन्त्रमय होना ही नहीं 'स्व'-मय होना भी है—क्योंकि 'स्व' का परार्थ से प्रेरित होना, यही उसका सच्चा स्वभाव है। स्वातन्त्र्य की यही सहज प्रेरणा धर्म की बीज है। यह बीज ही हमारा 'स्व' है। पर यह स्वेच्छा की तरह अनायास नहीं है, आयास चाहता है, इसीलिए भीष्म ने कहा है कि धर्म से एक-दूसरे का पालन करते हुए लोग थक गए, खिन्न हो गए। 'स्व'-च्युत हो गए। धर्म 'स्व-वश' होने की साधना चाहता है ('तन्त्र' में 'वश' की भी ध्वनि है ही)। कृष्ण ने इसे ही 'आत्मवान्' होना कहा है—जिसे विवेकवान् होना भी कह सकते हैं। 'स्वतन्त्र' का अर्थ बंध-मुक्ति भी होता है। 'आत्मवान्' होने का अर्थ स्पष्ट ही इच्छा-तन्त्र से मुक्ति है। सच पूछें तो यों कहना चाहिए कि 'इच्छा के अतन्त्र से मुक्ति है'—क्योंकि 'तन्त्र' अगर व्यवस्था का नाम है तो उसका इच्छा से सम्बन्ध ही नहीं ठहरता।

पर यह व्यवस्था क्या है? एक विचार हमारी बातों में आ चुका है : यह व्यवस्था सिद्ध नहीं, साध्य है—जैसा कि भीष्म की बातों से भी उभरता है। पर साध्य में कुछ सिद्ध होना ऊह्य है; साधक ऊह्य है। सच पूछें तो सिद्ध एक वृत्ति है, या प्रवृत्ति कहिये। वही 'साधक' को भी परिभाषित करती है। इस प्रवृत्ति का मूल या आधार या 'बीज' एक परस्पर-भाव है जो मनुष्य के अनैक्य को एकसूत्रता देता है। हमने इसे विवेक भी कहा। भीष्म ने इसे भी 'धर्म' ही कहा है—यह कहते हुए कि सत् युग में धर्म से प्रजा एक-दूसरे का पालन करती थी। 'धर्म' शब्द यहां प्रवृत्ति और उसका फल (सत्—या सत्य, या न्याय—की अवस्था), दोनों की ओर संकेत करता है। स्व की दृष्टि से स्व का पर से सहज, स्वभाव-निष्ठ परस्पर-भाव यहां 'धर्म' है, क्योंकि इस परस्पर-भाव के बिना धर्म की बात ही नहीं हो सकती। या यों कहें कि यह परस्पर भाव ही धर्म (धर्म्य अवस्था) का आधार है। पर धर्म स्वभाव-सिद्ध होने

के साथ साध्य भी है। भीष्म कहते हैं : 'धर्म' का 'पालन' करना पड़ता है : यह सिद्ध सही, पर इसे साधना भी पड़ता है, नहीं तो 'खिन्न'–अवसन्न–हो जा सकता है। तात्पर्य यही निकलता है कि धर्म एक 'प्रवृत्ति' है–इच्छा-भिन्न विवेक का व्यापार है। जब हम अहिंसा, प्रभव, अभ्युदय, या एक शब्द में कहें तो 'आनृशंस्य' की बात करते हैं तो परस्पर-भाव के 'साध्य' होने की ही बात करते हैं। ये आदर्श हैं जो बीज रूप से हमारे 'स्व' में हैं, पर जो पालन और विरोधी प्रवृत्तियों से संघर्ष चाहते हैं, उत्कर्ष चाहते हैं, पल्लवन चाहते हैं। यत्नशील विवेक चाहते हैं। विवेक ही नहीं प्रतिभा चाहते हैं। क्योंकि आनृशंस्य क्या हो? अभ्युदय क्या हो? यह प्रज्ञा के उन्मेष की खोज है, कोई पूर्वसिद्ध पदार्थ नहीं। मनुष्य के इतिहास को, उसकी संस्कृति को इस साधना के रूप में भी देखा जा सकता है। देखा भी गया है। इसीलिए धर्म को 'खोज' कह सकते हैं।

एक और बात यहाँ जोड़ी जा सकती है। आनृशंस्य, प्रभव, ये समष्टि-धर्म हैं; इनका सम्बन्ध समूह, अनैक्य के साथ है। धर्म मात्र का ही समूह-धर्म होना स्वाभाविक है। पर ऐसे धर्मों की भी बात की जा सकती है, और परस्पर-भाव के ही सम्बन्ध में ही की जा सकती है, जिनका सम्बन्ध समष्टि से नहीं व्यष्टि से है, पर जो व्यष्टि और समष्टि के बीच धर्म के सूत्र भी हैं : ऐसे धर्म व्यष्टि के कुछ गुण हैं : मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, पर-दुःख-दुःखित्व ... ये न हों तो किसी धर्ममय परस्पर-भाव की भी बात नहीं की जा सकती। मैंने ऊपर दायित्व की बात की थी। उसका सम्बन्ध परस्पर-भाव के एक-दूसरे पक्ष से है जिसकी बात आगे करता हूँ।

आगे बढ़ने से पहले एक बात और। करुणा, मैत्री ... इनके बारे में कुछ और यहाँ कहना उचित होगा। करुणा, मैत्री ... ये व्यष्टि-धर्म हैं, पर इनका मर्म व्यष्टि और व्यष्टि के बीच अभेद में है। इसीलिए इन्हें परस्पर-भाव का बीज और आनृशंस्य का आधार कहा जा सकता है। इसे ध्यान में रखें तो स्वातन्त्र्य की बात यहाँ नये सिरे से उठा सकते हैं। एक नये प्रश्न के साथ। हमने यह देखा कि कर्म में स्वातन्त्र्य का 'तन्त्र' से ही सम्बन्ध अधिक है। वह भी ऐसा तन्त्र जिसमें 'स्व' का नहीं 'पर' का ही जोर है : तन्त्र स्व-अर्थ नहीं पर-अर्थ हो कर ही सार्थक है। और फिर यह तन्त्र विचार और कल्पना की तरह धर्म की अनेकानेक सहस्फूर्त सम्भावनाओं के वैविध्य को एक साथ समोये भी नहीं रहता है। स्वतन्त्र होने का सम्बन्ध जहाँ तक किसी निर्बंध, उन्मुक्त वैयक्तिकता से है, कर्म में उसका बाध ही दिखाई देता है। क्योंकि वैयक्तिकता का सम्बन्ध कहीं स्वेच्छा से भी है ही।

पर मैं समझता हूँ कि धर्म में स्वेच्छा की या स्वैर-भाव की न सही 'स्वच्छन्द' होने की फिर भी बात की जा सकती है। एक गहरे अर्थ में की जा सकती है। हम यह देख चुके हैं कि कर्म में ही नहीं कल्पना और विचार में भी 'स्वतन्त्र' होने का सम्बन्ध 'स्वेच्छा' से नहीं है। सम्बन्ध वहाँ भी तन्त्र से है, हालांकि सम्भावनाओं के अनेक

द्वार एक साथ अपावृत रहते हैं, जिनमें 'स्व' निर्बंध संचार कर सकता है। इसे भी हम 'स्वाच्छन्द्य' कह सकते हैं। छन्द में लय का ऐसा 'तन्त्र' होता है जिसमें व्यवस्था तो होती है, पर व्यवस्था के साथ वैविध्य भी होता है। छन्द स्वभाव से विविध है। वहाँ बन्धन होता है, पर बन्धन के साथ ही एक अनायास प्रवाह होता है जो कई दिशायें लेता रह सकता है। ऐसा प्रवाह जिसमें 'स्व' उन्मुक्त बह सकता है। विवेक के साथ बह सकता है। अनुभूति यहां बन्धन की नहीं, मुक्ति की ही होती है।

मैंने धर्म के जिस परस्पर-भाव की अभी बात की इसे आनृशंस्य के साथ जोड़ा है। इसमें विवेक की ही नहीं, प्रतिभा की भी बात की है। प्रतिभा की बात करें तो उसे स्वाच्छन्द्य से कैसे हटा सकते हैं? प्रतिभा निर्बंध नवोन्मेष है, सृजन है; स्वाच्छन्द्य के बिना उसकी बात ही क्या? लेकिन फिर धर्म में उसका स्थान कहाँ? पर धर्म में एक गहरे स्वाच्छन्द्य-धर्मी 'सहज' की भी झलक हम अभी अभी देख आए हैं। हमने परस्पर भाव का सम्बन्ध मैत्री, करुणा जैसे भावों से जोड़ा है जिनका आधार व्यष्टि है। ये व्यष्टि को समष्टि से जोड़ते हैं। समष्टि की ओर उन्मुख होते हैं। ये भाव हैं; इनके साथ स्वाच्छन्द्य की बात सार्थक है। धर्म में भाव की बात करने से हम कतराते हैं। और भाव के साथ विवेक के अभाव का और रागतः प्राप्ति का विवेक-विरोधी इच्छा-सम्बन्ध, ये सहज भी जान पड़ते हैं। पर मनुष्य में भाव विविध और बहुमुखी है। भाब को हटा कर भी धर्म की बात करना कठिन और असंगत जान पड़ता है, जैसा हम आगे के विमर्श में और साफ देखेंगे। पीछे भी कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की प्रवृत्ति में निहित श्रेयस् बोध की भाव-निष्ठता के संकेत हमने देखे थे। 'वासना' की बात करते हुए हमने रस-बोध को दो भागों में बाँटा था : प्रवृत्तिमुखी रस और निवृत्तिमुखी रस। प्रवृत्तिमुखी रसों को हमने रस-बोध की नींव ठहराया था। मनुष्य के स्वभाव, उसकी स्वस्ति-एषणा के आधार के रूप में देखा था। यह भी देखा था कि जिन्हें निवृत्ति-प्राण रस कह सकते हैं उनमें जगत् के प्रति निवृत्ति का निर्वेदमय अमंगल-बोध प्रवृत्ति का उपजीवी है। रसबोध के साथ भावना का सम्बन्ध स्फुट है। पर फिर भी हम कह सकते हैं कि उस सन्दर्भ में जिन भावों की बात होती है, उनसे धर्म के जिस परस्पर-भाव की हम बात कर रहे हैं उसका सम्बन्ध स्फुट नहीं है। स्पष्ट ही भिन्न भावों में विवेक करने की आवश्यकता है। मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, सहानुभूति ... ये ऐसे भाव हैं जो रस-बोध में निहित स्नेह, वात्सल्य, रति आदि से भिन्न हैं। स्नेह, वात्सल्य, रति... ये 'स्व' के स्वभाव में ही बसते हैं। सिद्ध होते हैं। पर मैत्री, करुणा... इनमें साध्य होने का आयाम ही इन्हें 'धर्म्य' बनाता है। हम इनमें होते तो हैं पर इन्हें साधना ही इनकी बड़ी बात है। यह ठीक है, पर इनका बीज हमारे स्वभाव-सिद्ध भाव-स्वरूप में ही होता है; कथा-साहित्य में भी इनकी अभिव्यक्ति होती ही है। हां, इनका एक गहरा साध्य-पक्ष भी है जिसका हमारी रहनी से सम्बन्ध होता है, रस-बोध मात्र से नहीं। और तब किसी भी साधना

की तरह इनकी साधना का भी सृजन से, प्रतिभा से सम्बन्ध उजागर होता है। ऐसी किसी भी साधना का ध्येय यह भी होता है कि निर्बंध भाव से, सहज होकर अपनी गति से, अपनी लय से हम इनमें बढ़ें। यही कर्म में स्वच्छन्द होना है। विभिन्न धर्मशील लोगों में इस स्वच्छन्द भाव की 'स्व'-गति देखी भी जा सकती है। एक तो इसी बात में कि परस्पर-भाव के विभिन्न धर्मों में - मैत्री, करुणा, अनुकम्पा आदि में - भेद है। ये एक ही भाव के नाम-भेद नहीं हैं। भेद क्या है? यह अपने आप में एक पैठ का प्रश्न है, जिस पर धर्म के सन्दर्भ में विचार नहीं हुआ है, पर जो विचार-योग्य है। भेद में यहाँ नहीं जाऊँगा; भेद है यह ऊह्य मान कर चलता हूँ। पर भेद अगर है तो भिन्न व्यक्तियों के धर्म-भाव में–या धर्म-साधना कहिये–उसमें यह भेद उभर कर आगे आता दीखेगा। भेद मैत्री आदि भावों में प्रधानता-गौणता की दृष्टि से भी हो सकता है–किसी में कोई भाव प्रधान हो, किसी में दूसरा। या हम अगर मानें कि इन भावों में भेद होते हुए भी अविनाभाव है–ये होते साथ ही हैं और समरस होते हैं–तो भी इनके विन्यास में या 'व्यूह' में भेद की बात सार्थक जान पड़ती है। और यों व्यक्ति की भाव-प्रवणता के आधार पर उसकी धर्म-साधना में हम 'स्व' के स्वाच्छन्द्य का अनन्य, विलक्षण उन्मेष देख सकते हैं।

एक प्रश्न और उठता है। जो बात यहाँ कही गई है क्या वह स्नेह, वात्सल्य आदि के लिए नहीं कही जा सकती? ये भी केवल सिद्ध नहीं साध्य होते हैं। बात स्पष्ट ही विमर्श चाहती है। पर यहाँ इतना ही कहूँगा : करुणा, मैत्री, सहानुभूति, अनुकम्पा आदि, ये भी विशेष-परक होते हैं, पर इनमें–और विशेषकर इन जैसे भावों में–एक और सर्वतोमुखी व्यापकता होती है जो समष्टि के प्रति भी उन्मुख रहती है। स्नेह, वात्सल्य आदि भी होने को तो व्यापक हो सकते हैं, पर समष्टि के रूप में मानव-सामान्य से इनका सम्बन्ध उतना स्पष्ट नहीं दिखता है।

मैत्री, करुणा आदि का सम्बन्ध धर्म के भाव-पक्ष से जुड़ता है। आनृशंस्य को आधार और आदर्श बनाता है। परस्पर-भाव में बसता है। धर्म के इस परस्पर-*भावित* पक्ष को हम धर्म का ऐक्य-पक्ष कह सकते हैं। यह 'अभेद' की ओर उन्मुख है। लेकिन हमारे मनुष्य-भाव में अनैक्य भी उतना ही गहरा है जितना ऐक्य। अनैक्य का सम्बन्ध आनृशंस्य से नहीं सत्य से बनता है। अनैक्य को जो व्यवस्था आपस में पिरोती है उसका सम्बन्ध सत्य से अधिक उभरता है। अगर ऐक्य का परस्पर-भाव निर्विरोध, एक-सार होता तो शायद व्यवस्था की बात ही नहीं उठती। सत् युग में हम क्या किसी व्यवस्था की बात कर सकते हैं? धर्म चारों पाँवों पर खड़ा था, हम पूरी तरह धर्ममय थे, फिर व्यवस्था क्या? व्यवस्था बाहर का नियन्त्रण चाहती है, दण्ड चाहती है। पर फिर सत् युग में हम धर्म को *साध्य* भी नहीं कह सकते। वह तो स्वभाव ही था। लेकिन अब हमारा परस्पर-भाव है ही ऐसा कि उसे साधना भी पड़ता है। आत्मवान् होकर विवेक के साथ साधना पड़ता है। धर्म की वृत्ति हम में है, पर

उसे जगाना-पालना पड़ता है। प्राचीन स्मृतिकारों के शब्दों में यही हमारा पशु-भिन्न मनुष्य-भाव है जिसमें धर्म की वृत्ति सिद्ध भी है, साध्य भी। धर्म के सत्य-पक्ष से जुड़ी वृत्ति को हम दायित्व का नाम दे सकते हैं।

दायित्व का सम्बन्ध 'सत्य' से है तो न्याय और व्यवस्था से है। आनृशंस्य के भाव-निष्ठ परस्पर-भाव से इसका भेद स्पष्ट है। धर्म का सम्बन्ध जब हम आचार-व्यवहार के नियम और विधि-विधान या विधि-निषेध की परम्पराओं से जोड़ते हैं—राज्य-धर्म, व्यवहार-धर्म (कानून) आदि की बात करते हैं तो इंगित 'सत्य' की ओर ही होता है।

धर्म के इस पक्ष का पहले पक्ष से अन्तर उजागर करें तो कुछ बातें एकबारगी कही जा सकती हैं। एक तो धर्म के इस पक्ष में बहिरंग प्रधान है। इसी कारण व्यवस्था की बात करते हुए समझौते जैसे सिद्धान्त की बात उठाना हमें संगत सा भी जान पड़ता है। इसे धर्म का ह्रास कहिये या संकट कहिये या विडम्बना कहिये, पर यह सच है कि परम्पर-भाव के लिए भी की गई किसी व्यवस्था में 'समझौते' की, 'संधि' की, 'समय बन्ध' की उपस्थिति अनिवार्य ही ठहरती है। व्यवस्था का प्रबन्ध या बन्ध ऐसे बाहरी नियमों और उपायों पर टिका होता है जो हमें बंधन लगते हैं, मैत्री आदि की तरह सहज 'अन्तरंग', स्वच्छन्द नहीं होते। पर यह प्रबन्ध *केवल* बहिरंग नहीं होता। इसमें कुछ अन्तरंग भी होता है, नहीं तो इसे 'धर्म' कहना अनर्थक होगा। 'नीति' कह सकते थे। आप कह सकते हैं विचार की दृष्टि से इसे 'नीति' कहने में एक लाघव भी है। लाघव यह कि इससे 'धर्म' नाम की एक अलग प्रवृत्ति या क्षेत्र का स्वीकार आवश्यक नहीं रहता, जैसा कि **महाभारत** में है। परस्पर-भाव को स्वार्थ और स्वेच्छा पर ही टिका कर रखा जा सकता है। हाँ, यह कह सकते हैं कि इच्छा मात्र से पूरी तरह काम नहीं चल सकता, क्योंकि इच्छा अपना ही भविष्य नहीं देख सकती, नीति-निर्धारण कैसे करेगी? 'बुद्धि' जैसी वृत्ति का स्वीकार जरूरी होगा। पर बुद्धि का स्वीकार तो हम सहज ही कर सकते हैं, दूसरे और कारणों से कर सकते हैं और यह मान सकते हैं कि बुद्धि स्वेच्छा और स्वार्थ में निहित स्वेच्छा और स्वार्थ से बाहर जाते 'बृहद्' प्रयोजनों की भी द्रष्टा है। इच्छा में दृष्टि नहीं होती। इच्छा बड़ी तात्कालिक होती है। पर बुद्धि अनुमान के आधार पर उसे तत्काल की कैद से छुड़ा कर त्रिकाल-दृष्टि देती है, उसके क्षेत्र को बढ़ाती है। ग्रह सिखाती है कि कुछ इच्छाओं का बाध इच्छा ही के भले के लिए हो सकता है। यों बुद्धि इच्छा की आँख का काम करती है, उसे 'नीति' सिखाती है। समझाती है कि परस्पर-भाव के समझौते में ही स्वेच्छा का 'कल्याण' है।

पर धर्म की बात बुद्धि मात्र से बनती नहीं दीखती। या फिर 'बुद्धि' को ही एक और आयाम, और गहराई देनी होगी। उसे हमारे सहज स्वार्थ और स्वेच्छा के सहायक के रूप में ही देखना काफी नहीं होगा. हममें एक गहरी स्वभाव-सिद्ध

परार्थ-बुद्धि की बात करनी होगी, क्योंकि इसके बिना तो समझौते की भी बात नहीं बनती। पर 'बुद्धि' की बात न कर हम 'विचार' की बात कर सकते हैं। हममें परार्थ-बुद्धि है, इससे हम इन्कार नहीं कर सकते, तो विचार में उसकी स्वीकृति आवश्यक है, उस पर विमर्श भी आवश्यक है। विचार के लिए हम यहाँ चाहे 'बुद्धि' शब्द को ही लें, पर उसे फिर धर्म से जोड़ना पड़ेगा। 'बुद्धि' का ऐसा अर्थ भी यों तो परम्परा-सिद्ध है। **गीता** में ही मिल जाएगा। 'धर्म-बुद्धि' जैसे प्रयोग भी समीचीन ही हैं। पर 'बुद्धि' का प्रयोग कहीं कहीं बात की पकड़ को भ्रम में भी डाल सकता है। दायित्व-बोध को ही लें। इसके लिए बुद्धि की बात समीचीन नहीं ठहरती लगती—'दायित्व-बुद्धि', यह शब्द अटपटा लग सकता है। फ़िर दायित्व-बोध धर्म के एक ऐसे पक्ष की ओर इंगित करता है जिसे उसका सत्य या न्याय में स्थित समष्टि-व्यवस्था का पक्ष कह सकते हैं, जो कि अवध-प्रभव (आनृशंस्य) से भिन्न उभरता दिखता है। प्रयोग-भ्रम से बचने की चेष्टा में और आनृशंस्य-भिन्न सत्य-संस्थ व्यवस्था को धर्म-वृत्ति की परिधि में लाने के लिए ही मैंने 'दायित्व' जैसे भिन्न शब्द का प्रयोग किया है। यह ठीक है कि 'धर्म-बुद्धि' व्यापक शब्द है। उसमें आनृशंस्य आ जाता है। पर दायित्व तो भी अलग खड़ा दिखता है। इसका प्रयोग यह दिखाने के लिए है कि धर्म का सम्बन्ध व्यष्टि से ही नहीं, एक ऐसे व्यवस्था-बोध से भी है जो समष्टि में स्थापित है, समष्टि के परस्पर-धारण का वह व्यापक व्यापार है जो व्यष्टि के धर्म का भी धारण करता है।

समष्टिगत सत्य का धर्म-संकट आनृशंस्य के धर्म-संकट से कहीं विकट होता है—जैसा कि संजय-संवाद की कथा में भी उभरता है। होता यह भी धर्मशील *व्यक्ति* को ही है, क्योंकि जागरूक विवेक का आधार व्यक्ति ही होता है, पर इसकी समष्टि-व्यापकता भी स्पष्ट होती है। पर प्रभव का भी सम्बन्ध समष्टि से है; आनृशंस्य के भी समष्टि-प्रवण, समष्टि-व्यापक रूप की हम कल्पना कर सकते हैं। ऐसी व्यापकता आनृशंस्य में संभव भी है, अगर उसका सम्बन्ध राजधर्म से हो—व्यष्टि के रूप में भी राजा का कर्म समष्टि-कर्म का आयाम रखता ही है। यहां **महाभारत** से एक और कहानी लेता हूं।

एक राजा था, क्षेमदर्शी। गुण आँक कर ही नाम दिया गया लगता है। राजा युद्ध में सब कुछ हार गया। बार-बार चेष्टा की, राज्य पराया ही रहा। थक कर, निराश हो कर राजा राजनीति के ज्ञानी-गुणी एक मुनि के पास गया, जिनका नाम था कालकवृक्षीय। राजा वृत्ति से भी, स्वभाव से भी और संस्कार-शिक्षा से भी पूरा क्षत्रिय था। राज्य चलाने के सिवा उसे कुछ नहीं आता था। उसने कालकवृक्षीय से कहा, "ब्रह्मन्, पुरुष मात्र अर्थ का (धन और प्रभुत्व का) भागी—'हिस्सेदार' 'अधिकारी'—होता है, पर मेरे जैसा पुरुष बार-बार चाहते हुए और चेष्टा करते हुए भी राज्य न पा सके तो फिर क्या करे? मैं यह भी नहीं चाहता कि आत्मघात कर लूँ

या दैन्य से–असम्मान से–जीऊँ। या पराधीन हो कर जीऊँ। और फिर यह भी मुझसे नहीं होगा कि लोक में ओछा बनूं, क्षुद्र, अभद्र कर्म करूँ। बताइये, फिर मैं क्या करूँ?''2

कालकवृक्षीय ने पहला तो रास्ता संन्यास का–निर्वेद का–बताया जो क्षेमदर्शी को नहीं जँचा। क्षेमदर्शी निवृत्ति में नहीं प्रवृत्ति में ही क्षेम ढूँढ रहे थे। कहने लगे कि ऐसे भी लोग होते हैं जो धन, जन, अभिजन और ऐश्वर्य का सम्पूर्ण त्याग कर देते हैं। मैं नहीं कर सकता। मैं यह मान भी लूँ कि ये धन, जन सब असत् हैं–मिथ्या मोह हैं–तो भी मैं इनका त्याग नहीं कर पाऊँगा। इसलिए वैराग्य का नहीं कोई दूसरा पथ बताइये जिससे मेरा दु:ख और दीनता दूर हों। मुनि ने दुबारा फिर धन-जन के नश्वर होने का ही उपदेश दिया। कहा कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, उस भविष्य की ओर देखो जब कि आज जो लोग बीस या तीस साल के हैं वे भी न रहेंगे। यों देखोगे तो अभी जो कुछ है, जो कुछ तुम अभी हो, उसका मोह टूट जाएगा। ऐसा न कर सको तो एक और बात सोचो। संसार में निर्धन तुम अकेले ही नहीं हो, और भी हैं, जो तुम जैसी ही बुद्धि और उत्साह रखते हैं, पर तो भी तुमसे हीन दशा में हैं, पर तुम्हारी तरह दीन नहीं हो जाते। उनसे तुम कुछ सीखो। धन-जन का होना- न होना ये केवल पौरुष की ही नहीं, भाग्य की भी बात है। बात को मन से मान लो। सोचो, तुम्हारे जैसे और भी हैं जो कि धनी हो कर फिर निर्धन हो जाते हैं पर ठीक ही जीते रहते हैं। मन नहीं मार लेते। तुम्हें चाहिए कि दूसरों के धन को सहना सीखो। कई लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि वे ही हैं जो धन के योग्य हैं, दूसरा नहीं। ऐसा सोचना ठीक नहीं। केवल धन के लिए धन कब अच्छा होता है? तुम जैसे प्रज्ञावान को संतोषशील होना चाहिए।

ये विचार ऐसे थे जिन्हें राजा आप भी अपने मन में जगा सकता था। इसके लिए वह मुनि के पास नहीं आया था। मुनि को भी शायद कुछ ऐसा ही लगा, उन्होंने बात बदल दी। उपदेश देना छोड़ा और नीति की बात पर आ गए। बोले कि अगर तुममें सचमुच क्षत्रिय का पुरुषार्थ है और कुछ कर दिखा सकते हो तो एक उपाय बताता हूँ। फिर से राज्य और धन तुम्हारे हाथ होंगे। राजा बोला, मैं तो आया ही इसीलिए हूँ।

मुनि ने पहले जो उपाय बताया उसके दो पक्ष थे–अंतरंग और बहिरंग। पहले उन्होंने मानस या अन्तरंग उपाय बताया। बोले, पहले तो तुम्हें दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष, भय ये छोड़ देने होंगे। इन्हें छोड़ दो और छोड़ कर तुम अपने शत्रु की ही सेवा करने की ठान लो। उसकी सभा में जाओ और हाथ जोड़ कर उसके आगे खड़े हो जाओ। उसे मनाओ, उसके विश्वासपात्र सेवक बन जाओ। अपनी सच्चाई का उस पर सिक्का जमाओ। तुम्हारी सच्चाई से खुश होकर, जो माँगोगे वह पद शत्रु तुम्हें देगा। फिर तुम उसी के धन से अपने लिए साथी जुटाने में लग जाओ। राजा को ही नहीं प्रजा को भी अपने आचरण से खुश करो। धन-दान से रिझाओ। धीरे-धीरे तुम्हें

भरोसे का आदमी माना जाने लगेगा। सबके लिए प्रमाण, मर्यादा, कसौटी। विश्वासपात्र बन कर तुम भीतर ही भीतर फूट डालने में लग जाओ। मन्त्रियों को भी अपने साथ मिलाओ। तुम्हारे जो मित्र राजा रहे हैं उनकी मदद से सेना जुटाओ। यों तुम राज्य जीत लोगे। या शत्रु के शत्रुओं से मिल जाना। कहते हैं, बेल से ही बेल फोड़ा जाता है, शत्रु के शत्रुओं से ही उसका नाश करवाओ। इस रास्ते भी राज्य हथिया सकते हो। या फिर शत्रु को भोग-विलास में आसक्त कर दो, यों भी उसे जीत सकते हो। दिखावे के लिए उसे बार-बार व्यसन से रोकते रहो, रोकते हुए भी व्यसन में डालते रहो, ताकि तुम पर आँच न आए। व्यसन में डाल कर उसके महत्त्व-बोध को उकसाओ : उससे इतने इतने बड़े काम करवाओ जो पूरे न हो सकें, जिनसे उसका कोष लुट जाए, शक्ति टूट जाए, राज्य-तन्त्र चरमरा जाए। फिर उसका किसी शत्रु से विरोध करवा दो। एक बड़ा उपाय धर्म का भी है। धर्म के नाम पर उसे तोड़ो : उससे बड़े-बड़े यज्ञ करवाओ, उससे कहो कि धर्म और पुण्य ये बड़े पुरुषार्थ हैं, धर्म करने वाला स्वर्ग को जाता है। धर्म में व्यय करवाओ। लोभी ब्राह्मण तुम्हारे काम आयेंगे, भेड़ियों की तरह उसे नोच खायेंगे। पते की बात यह है कि रास्ता चाहे 'धर्म' का हो या 'अधर्म' का, किसी भी रास्ते उसका कोष खाली करवा दो, फिर तुम्हें कुछ नहीं करना होगा, उसके शत्रु ही तुम्हारा काम कर देंगे। एक और काम कर सकते हो। उसकी प्रजा को सताओ, दु:खी कर दो, गुप्त रूप से बढ़ी हुई खेती को नष्ट करवाओ कि लगे प्राकृतिक घटना थी। राजा दु:खी हो तो उसके आगे संसार की नश्वरता की बात करो, योग और वैराग्य की महिमा गाओ। उसे निर्वेद होगा तो तुम्हारा काम आसान होगा। ऐसे ही और भी कई कपट प्रयोग हैं जो किए जा सकते हैं, हाँ, करने वाले में आत्मसंयम चाहिए। तभी अन्तरंग उपाय पहला उपाय है : दम्भ, अहंकार आदि पर विजय।

क्षेमदर्शी यथा नाम तथा गुण थे—अपना ही नहीं, सबका क्षेम चाहते थे—उन को ये बातें बिल्कुल भी रास न आईं। बोले : "मैं कपट से नहीं जीना चाहता, अधर्म से कभी राज्य और श्री नहीं लूँगा। मैंने आपसे अपने हित का रास्ता पूछा था। आपने जो कहा है, हित की बात नहीं कही है।" राजा के लिए क्षेम, हित, इनका मूल आनृशंस्य था। मुनि ने जो नीति बताई थी उसका राजा ने आनृशंस्य के नाम पर खण्डन किया। बोले : "*आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषु:। नाहमेतदलं कर्तुं नैतत् त्वय्यभ्युपपद्यते ॥*—मैं इस लोक में आनृशंस्य धर्म से जीना चाहता हूँ, आप जो कह रहे हैं, ठीक से कर नहीं पाऊँगा।" बोले कि ऐसी बातें करना आपको भी शोभा नहीं देता। यह सुनकर मुनि ने बात का मोड़ ही बदल दिया। राजा को ऋजु आचरण का रास्ता बताया, जिसमें स्वार्थमयी नीति की नहीं निश्छल धर्म-व्यवहार की बात थी। नीति से वे धर्म पर आ गए। बोले, तुम कुलीन हो, अनृशंस हो, बहुश्रुत भी हो, और फिर राज्य-कर्म से प्रेम रखते हो, उसका मर्म समझते हो। तुम सच्चे मंत्री

बन सकते हो। तुम्हें कौन मंत्री नहीं बनाना चाहेगा? फिर कलाकवृक्षीय ने क्षेमदर्शी को उसी राजा के यहाँ मन्त्रीपद दिलवा दिया जिस राजा से वे अपना राज्य हार चुके थे। जीतने वाले राजा विदेहराज जनक थे। जनक से कालकवृक्षीय ने कहा कि अच्छा मन्त्री बड़ा दुर्लभ होता है और अच्छे मन्त्री के बिना राज्य तीन दिन भी नहीं चल सकता। क्षेमदर्शी को मंत्रीपद पर रख लो, तुम्हारा क्षेम होगा। रही पिछली जय-पराजय की बात, उसका तो चक्र चलता रहता है, तुम भी तो अपने जीवन में दोनों को ही देखते रहे हो।

आगे की कहानी और संवाद यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं, पर विदेहराज जनक ने क्षेमदर्शी से जो वचन कहे उनमें से कुछ यहाँ लिखने का लोभ हो रहा है। जनक ने कहा : मैं तुम्हारी कोई अवमानना नहीं करता हूँ कि मैंने तुम्हें जीत लिया है, न तुम्हारी बुद्धि की अवमानना करता हूँ कि अकुशल थी। और न तुम्हारे पौरुष की मेरे मन में अवहेलना है। मैंने तुम्हें जीता है, ठीक है, पर तुम्हारे गुणों से जीता भी गया हूँ। तुम मुझसे ऐसा बर्ताव करो जैसा जीते हुए को करना चाहिए *(जितवद् वर्तता भवान्)*।

एक बात कहानी में बड़ी तीखी उभर कर आती है। अचंभे में भी डाल दे सकती है—नीति और धर्म के *साम्य* की बात। बात नीति की हो या धर्म की, दोनों में ही स्वेच्छा की आवेगमयी प्रेरणा का स्थान नहीं। नीति का उपदेश देते हुए भी कालकवृक्षीय क्षेमदर्शी से कहते हैं कि तुम्हारा पहला काम होगा दम्भ, काम, क्रोध, अहंकार, हर्ष, भय पर विजय। स्वतन्त्र होना अगर इच्छा-मुक्त हो कर आत्मवश होना है या आत्मवान होना है तो इसे भी हम स्वतन्त्र होना कह सकते हैं। और नीति के साधक को भी स्वतन्त्रता का साधक कह सकते हैं। पर क्या यह उचित होगा? क्योंकि ऊपर से बात यहाँ चाहे निरहंकार होने की हो, भीतर साम्राज्य यहाँ इच्छा का ही है। स्वार्थ का। इच्छापूर्ति के लिए ही इच्छा पर नियन्त्रण की बात है यहां। पर यह भी देखिये कि हम यहां धर्म-बुद्धि से नीति-बुद्धि में दोष ढूँढें तो किसी विशुद्ध समझौते की दुहाई नहीं दे सकते। कोई किसी के यहाँ जाकर उसका मन्त्री बन जाता है तो यह समझौता ही है। पर समझौता तो किया ही स्वार्थ के लिए जाता है, इसलिए जो कपटभरी नीति कालकवृक्षीय ने क्षेमदर्शी को समझाई, उसमें इस दृष्टि से दोष क्या है? स्वार्थ ही चरम हो तो गुण की ही बात है, दोष नहीं निकाला जा सकता। स्वार्थ का कोई भी समय-बन्ध (समझौते का शर्त-नामा) यह शर्त नहीं रख सकता कि निष्कपट रहो। शर्त यही हो सकती है कि पकड़े न जाना। इसीलिए काम, क्रोध, भय आदि पर संयम जरूरी है। परार्थ के लिए नहीं, स्वार्थ के लिए, कि कहीं फिसल न जायें, कहीं भेद न खुल जाए। जिस भय पर विजय की यहां बात है, दण्ड का भय है। यह भय बड़ा बेकाबू कर देता भय होता है, इसीलिए नीतिवान को कहा गया है. इस पर काबू रखे। इसके वश हो जाएगा तो नीति के प्रयोग क्या करेगा?

तो स्पष्ट ही नीति में धर्म के गुण हो सकते हैं। आत्मसंयम के गुण। फिर अन्तर क्या है? एक अन्तर तो धर्म को उपाय-रूप में अपनाने में है, जैसा कि कालवृक्षीय के उपदेश में ही आता है। वे कहते ही हैं कि धर्म का *दिखावा* नीति के बड़े काम का होता है। पर फिर धर्म उपेय नहीं रहता है। उपाय ही बन जाता है। उसे धर्म कहना ही भ्रान्ति होगी। प्रकट ही है कि कालकवृक्षीय धर्म की बात नहीं करते, धर्म का धोखा खड़ा करने की बात करते हैं। जिस अहंकार-दमन की वे बात करते हैं, वह अहंकार का ही विकट रूप है क्योंकि कपट है। और यहीं धर्म और नीति का भेद भी प्रकट है। भेद यहां भाव का, प्रवृत्ति का भेद है। नीति में मैत्री, करुणा आदि का वास्तव मोल नहीं। दायित्व का मोल नहीं। ये कपट के साथ मेल नहीं खा सकते; कपट में इनका आभास ही हो सकता है। कपट के साथ सचमुच निरहंकार होने की बात मिथ्या होती है। असंगत ही ठहरती है। यह बात कहानी में भी आई है। क्षेमदर्शी ने कालकवृक्षीय की बात का निराकरण करते हुए पहली ही बात कही : *"न निकृत्या, न दम्भेन ब्रह्मन् इच्छामि जीवितुम्*–दुष्ट भाव के साथ, कपट के साथ (निकृत्या) और दम्भ (अहंकार) के साथ जीना नहीं चाहता हूँ।" कालकवृक्षीय ने नीतिवान के लिए 'दम्भ' (अहंकार) पर विजय का उपदेश दिया था, 'दम्भ' शब्द का ही उन्होंने भी प्रयोग किया था। क्षेमदर्शी ऐसे 'दम्भ-जय' को दम्भ ही बता रहे हैं, और ठीक ही बता रहे हैं, क्योंकि यह कपट में और यों स्वार्थ में बसा हुआ है–दम्भ-जय का आभास भर है, जय नहीं। आनृशंस्य के निरहंकार में और नीति के निरहंकार में तत्त्व का अन्तर है। नीति में निरहंकार नहीं, निरहंकार का धोखा होता है। आभास होता है, सत्य नहीं। बल्कि आभास से भी बुरा है–क्योंकि आभास–भ्रान्त-दर्शन–अपने आप को भी हो सकता है –मैं अहंकार में भी निरंहकार का मिथ्या बोध कर सकता हूं। पर यहां बात दिखावे की है–धोखा देने की; आभास का बोध यहां कर्त्ता को नहीं होता–दूसरों में नीति-कौशल से जगाया जाता है। घोर स्वार्थ की ही स्थिति है यह, परार्थ की कदापि नहीं, जो आनृशंस्य का बीज है। यह भी देखिये कि क्षेमदर्शी का स्वभाव संन्यासी का नहीं था–किसी 'परम' आत्म को वे नहीं साध रहे थे, जहाँ स्वार्थ-परार्थ की बात ही नहीं हो सकती। वे प्रवृत्तिप्राण थे; उनमें स्वार्थ का अभाव नहीं था, पर उनका प्रवृत्ति-बीज मैत्री और निर्वैर में था, स्वार्थ में नहीं। यही उनका आनृशंस्य था।

पर एक प्रश्न और उठ सकता है जिसके समाधान की ओर कहानी में कोई इंगित नहीं है, पर प्रश्न समुचित है। प्रश्न यह है कि राजा क्षेमदर्शी जब कहानी के अन्त में जनक के मंत्री बने तो उन्होंने व्यवस्था क्या की? व्यवस्था में उन्होंने आनृशंस्य के अवध और प्रभव को कैसे रूप दिया? और साथ ही सत्य की–न्याय की–रक्षा कैसे की? और बड़ा प्रश्न यह है कि दोनों के वैषम्य को कैसे सुषम किया? इस प्रश्न का उत्तर हम **महाभारत** में अन्यत्र आए राजधर्म-विधान के लक्षणों के

आधार पर कुछ दे सकते हैं। पर इन विधानों में आनृशंस्य और सत्य में टकराव का बोध और उससे निबटने का कोई अभिप्राय नहीं रहता है। पर टकराव गहरा है—तत्त्व का टकराव लगता है। ऐसा नहीं लगता कि किसी रास्ते मिटाया जा सके। **महाभारत** ने टकराव खड़ा किया है। कुछ समाधान की ओर मुड़ना भी प्रत्याशित था—ऐसा समाधान जो धर्म के ही क्षेत्र में रहे, **गीता** की तरह धर्म-अधर्म के परे न ले जाए। पर **महाभारत** उस दिशा में नहीं बढ़ता।

पाद-टिप्पणियां :

1. अभिनव ने 'मानुष्येण उपहतः' इन शब्दों का प्रयोग अपनी **गीताव्याख्या** में किया है। युद्धक्षेत्र में अर्जुन की किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि उसका मनुष्यभाव ही उसे सता रहा था, जो कि ज्ञान और अज्ञान इन दोनों के बीच फँसा रहता है। उसके इस मनुष्य-भाव को देखते हुए ही भगवान ने गीता का उपदेश दिया : *अत उभयोर्ज्ञानयोर्मध्ये श्री भगवतानुशिष्यते। भगवानुवाच। त्वं मानुष्येणोपहत इति । मानुष्यः मनुष्यभावः*। देखिये **गीता** पर अभिनव की व्याख्या : वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर संपादित **श्रीमद्भगवद्गीता**, द्वितीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, 1978, पृ. 39। मानुष्य भाव की 'उपहति' केवल ज्ञान-अज्ञान के बीच की नहीं है और भी संकटमयी द्वैधी स्थितियाँ हैं। वैसे ज्ञान और अज्ञान को सबका परम संकेत माना जा सकता है। विवेक और मोह भी ज्ञान-अज्ञान का ही द्वन्द्व है।

2. *राजोवाच– "अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः। अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन् किंकर्त्तुमर्हति॥ अन्यत्र मरणाद् दैन्यादन्यत्र परसंश्रयात्। क्षुद्रादन्यत्र चाचारात् तन्मामाचक्ष्व सत्तम॥"* **महाभारत**, शांति पर्व का राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय 104, 4-5, गीता प्रेस संस्करण।

❐

सत्य और आनृशंस्य

बात फिर वहीं आकर ठहरी है जहाँ प्रश्न सत्य और आनृशंस्य के विरोध का है—धर्म के भीतर ही उभरता विरोध। आनृशंस्य को अहिंसा का—प्रवृत्तिमयी प्रभव-निष्ठ अहिंसा का—पर्याय कह सकते हैं—आनृशंस्य का यह अभिप्राय राजा क्षेमदर्शी की कहानी से और स्फुटतर हो जाता है। इसका सम्बन्ध हमने कुछ भावों से भी जोड़ा—मैत्री, करुणा। यहां और भी भाव गिनाये जा सकते हैं—अनुकम्पा, परदु:ख-दु:खित्व। ऐसे भावों को परस्पर-भाव-निष्ठ धर्म का बीज भी कहा जा सकता है।

पर भाव व्यष्टि को केन्द्र बनाता है। विशेष व्यष्टियों के बीच गहराता है। पिछले अध्याय में आनृशंस्य को लेकर जो प्रश्न मैंने उठाया था वह धर्म की समस्या को स्पष्ट ही व्यष्टि से हटा कर समष्टि की ओर ले जाता है। प्रश्न था, क्षेमदर्शी अगर आनृशंस्य से राज्य चलाते तो व्यवस्था कैसी करते? सत्य को, न्याय को, दण्ड को आनृशंस्य में कैसे समेटते? और भी गहराई से पूछें तो : व्यवस्था का धर्म क्या है?

सच पूछिए तो आनृशंस्य को व्यवस्था का धर्म कहना ठीक नहीं—चाहे आनृशंस्य उस परस्पर-भाव का बीज हो जो मनुष्य की व्यवस्था को नींव देता है—कर्त्ताओं के अनैक्य को एक अंतरंग ऐक्य का सूत्र देता है। सत्य को ही व्यवस्था का धर्म कहना चाहिए। सत्य का सम्बन्ध दायित्व-बोध से है, न्याय से है जो व्यवस्था के परम औचित्य की धारणा है। सत्य समष्टि-धर्म है। प्रभव का यहां भी महत्त्व है, पर सत्य को केन्द्र में रखते हुए, अवध को नहीं। सत्य के साथ दण्ड की घनिष्ठता है। आनृशंस्य और प्रभव का युगल सत्य और प्रभव के युगल से बहुत भिन्न है। इसकी चर्चा हम पहले भी कर आए हैं।

एक प्रश्न उठ सकता है। व्यष्टि-निष्ठ आनृशंस्य का आधार हमने 'भाव' में ढूँढ़ा। सत्य के वैसे किसी आधार की बात हो सकती है क्या जिसके बोध का अनुरणन हम अपने भीतर भी पा सकें? हमने दायित्व की बात की। इसे हम अपने ही बोध में सत्य की ओर उन्मुख एक धर्म-संगत, परार्थ-प्राण प्रवणता या प्रवृत्ति कह सकते हैं। पर एक और अच्छा, एक और गहरा शब्द भी हम यहाँ प्रयोग में ला सकते हैं—जो अब बात का अन्त करते हुए हमें बात के आरम्भ तक भी ले जाएगा। शब्द है 'श्रद्धा'। पहले ही अध्याय में मैंने श्रद्धा की बात की है। 'सत्य' के ही सम्बन्ध में की है। आपको याद होगा कि **जैमिनीय ब्राह्मण** के एक प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सच्चा यज्ञ—या यज्ञ का मर्म कहिए—श्रद्धा में सत्य का आहुति देना है। बात चिवित्र सी लग सकती है। उलटी सी लग सकती है। प्रोफेसर दयाकृष्ण ने बातों बातों में प्रश्न उठाया भी था : श्रद्धा में सत्य की आहुति? क्या मानी? 'सत्य में श्रद्धा की आहुति'

होना चाहिए। श्रद्धा सत्य का आधार नहीं हो सकती; सत्य को ही श्रद्धा का आधार होना चाहिए। आक्षेप उचित ही लगता है।

पर इस प्रयोग को विसंगत और प्राचीनों का निर्विचार कथन कह कर टाल देना भी मुझे ठीक नहीं लगा था। कुछ विमर्श कर चुका हूँ, अब यहां कुछ और करना उचित समझता हूँ। 'श्रद्धा' के प्राचीन प्रयोग को ही विमर्श का आधार बनाऊँगा। मैंने प्राचीन विचार के सूत्रों को थोड़ी गहराई से टटोला तो लगा कि बात वैसी अटपटी नहीं जैसी सुनते ही एकबारगी लग सकती है। बात गहरी है और गहराई से संधान चाहती है, और मैं समझता हूँ कि धर्म के प्रसंग में, और जिसे हम धर्म का सत्य कह रहे हैं उस प्रसंग में, बड़ी सार्थक है। याज्ञवल्क्य ने बात यज्ञ के प्रसंग में उठाई थी और यज्ञ का प्रसंग धर्म जैसा प्रसंग ही है। वहाँ भी कर्म के अन्तरंग औचित्य की खोज जागती है। ऋत की खोज जागती है।

विमर्श का प्रश्न होगा : श्रद्धा सत्य का आधार कैसे? किस अर्थ में? और यों दोनों का सम्बन्ध क्या? धर्म के प्रसंग में उसकी विशेष सार्थकता क्या? आगे विचार करता हूँ।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि जिसे मैं सत्य कह रहा हूँ उसका व्यष्टि-रूप में अपने अन्दर बोध हमें दायित्व जैसे अनुभव में होता है। यह मैत्री जैसे भावों से भिन्न है जिन्हें हमने आनृशंस्य से जोड़ा है। दायित्व-बोध का सत्य से सम्बन्ध देखने के लिए प्रतिज्ञा-पालन को लें - वचन 'रखने' की बात को। 'वचन' का यह प्रयोग, मैं समझता हूँ, उस 'सत्य' के स्वरूप की ओर कुछ इंगित करेगा जिस सत्य को हम यहाँ उभारना चाह रहे हैं।

सत्य-वचन *कहना* और वचन का सत्य *रखना*–इनमें स्पष्ट ही भेद है। पहले का सम्बन्ध किसी सामने खड़े, प्रदत्त, 'सिद्ध' सत्य से है जो हमारे कहने में अनुकृत, अनूदित-सा होता है। हमारा कहना सत्य तब होता है जब उस सत्य की ओर हम सही संकेत कर दें जो 'है'। उसका उसी रूप में 'कथन' कर दें जैसा वह है। कथन का अपना ढाँचा, अपना स्वरूप, अपना विन्यास और व्याकरण, या मर्यादा कहिये, ये सत्य को किस रूप में शब्द देते हैं यह प्रश्न और है, पर यहाँ विचार का विषय नहीं।

एक बात स्पष्ट है। सत्य वचन रखना आदर्श है और इसलिए साध्य, जब कि सत्य वचन के *कथन* का सम्बन्ध सिद्ध वस्तु से होता है। वचन रखना आन्तर प्रयत्न की अपेक्षा रखता है और यह प्रयत्न संकल्प और निष्ठा की। यहाँ कहा जा सकता है कि हमने मैत्री आदि जिन भावों की चर्चा की है वे भी वास्तव में साध्य ही हैं। पर इन भावों के साध्य होने में और वचन के साध्य में एक भेद यह है कि भाव का साध्य यहाँ शील की, पर के प्रति सद्भाव की गहराई साधता है, वचन रखने की साधना यह है कि जो सत्य नहीं है, 'सिद्ध' नहीं है, उसे सत्य की, 'सिद्ध' की, कोटि में ले आए।

इसीलिए वचन-पालन को सत्य का पालन भी कहा जाता है। वचन-पालन का सम्बन्ध सत्य की 'कर्त्तव्यता' से है। ऐसा सत्य जिसे हमारा कर्म सत्य *करता* है। जो पहले से सत्य नहीं होता। पर बात यहां नितांत असत् को सत् करने की भी नहीं—सत्य को ही सत्य करने की बात है—'सत्य' प्रतिज्ञा को ही सत्य किया जाना चाहिए, जैसा कि अर्जुन की प्रतिज्ञा के प्रसंग में चर्चा कर भी आए हैं। बात अव्यक्त को व्यक्त करने जैसी है।

अव्यक्त सत्य 'श्रद्धा' के रूप में रहता है। श्रद्धा उस सत्य को सत्य रखती है जो सत्य 'होना चाहिए'। यों तो जो 'है' उसके विषय में भी किसी अर्थ में श्रद्धा की बात की जा सकती है। इस अर्थ में श्रद्धा जिज्ञासा का वह भाव है जो खरेपन के साथ सत्य की ओर उन्मुख रहता है; मिथ्या के बहलावे में मोह में नहीं आ जाता, उसी को सत्य कहना चाहता है जो प्रामाणिक रूप से 'है'। नि:सन्देह 'है'। पर ऐसे सत्य का सम्बन्ध ज्ञान से है, कर्म से नहीं। ज्ञान का सम्बन्ध 'सिद्ध', ज्ञेय, विषय से होता है; और ज्ञान की श्रद्धा है कि विषय सचमुच 'है', उसका अपना स्वरूप है, जिसे प्रमाण-व्यापार आँक सकता है, कह सकता है। यह भी कुछ सत्य को सत्य करने जैसी बात है। पर कर्म से भिन्न है।

जैसा कि मीमांसा बहुत पहले ही कह आई है, विषय का यह ज्ञान कर्म की इति-कर्त्तव्यता का—कर्म के औचित्य का, धर्म का—आधार नहीं हो सकता। प्रमाण-व्यापार में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपपत्ति-मूलक तर्क, ये आधार होते हैं। इनमें 'क्या है' का वचन होता है। पर हम यहां 'क्या हो', 'क्या होना चाहिए', की दिशा में बढ़ना चाहते हैं। वचन रखना चाहिए, और क्या वचन रखना चाहिए, यह संधान उस ज्ञान की परिधि के बाहर है जिसकी जिज्ञासा यह होती है कि जो कुछ है, उसे कैसे जानना और कहना चाहिए। वचन रखना, यह धर्म का *साध्य*-सत्य है। यह सत्य उस तरह वस्तु-तन्त्र नहीं हो सकता जैसे ज्ञान का सत्य। ज्ञान के सत्य को साधने का जो प्रमाण-व्यापार होता है उससे कर्म का सत्य नहीं पकड़ा जा सकता।

पर 'प्रामाणिकता' की माँग कर्म के सत्य की—धर्म की—खोज में भी नहीं छूटती। कोरी कल्पना को हम यहाँ भी आधार नहीं बना सकते। प्रामाणिकता की माँग हमारे अन्तरंग की माँग है। मिथ्या न ज्ञान का लक्ष्य हो सकता है, न कर्म का। श्रद्धा का इस प्रामाणिकता से भी सम्बन्ध है। उसे यहां प्रामाणिकता का आधार भी कह सकते हैं।

आपत्ति हो सकती है कि सत्य का सम्बन्ध हर हालत में 'है' के साथ ही होता है। जो सर्वथा 'है' की कोटि से बाहर हो वह लाख कहने से भी 'है' (सत्य) कैसे हो सकता है? और यही नहीं—जो है ही नहीं, वह लाख *किए* भी कैसे *हो* सकता है?

पर कर्म तो यही साधता है–तभी कर्म के लिए धर्म साध्य की ही नहीं, आदर्शरूपेण सिद्ध की कोटि में आता है। मीमांसक–और दूसरे भी–विचार के एक गहरे अर्थ में धर्म को सिद्ध ही मानते हैं। मीमांसा के लिए धर्म क्या है, इसका प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान न हो कर शब्द है–वेद का शब्द–ऐसा शब्द जो धर्म क्या 'है' इसका वचन करता है।

पर मीमांसक की तरह धर्म का प्रमाण शब्द को मानने पर प्रश्न रह जाता है, हमारे साथ उसका सम्बन्ध क्या? क्या वह हमसे विलग कुछ है जो हम पर बाहर से उतरता है, या हमारा अपना कुछ है? विलग हो तो हमसे वास्ता क्या? हम उससे इन्कार क्यों न करें? हम इन्कार तो कर ही सकते हैं। इन्कार करने में असमर्थ होते तो स्वतन्त्र ही न होते, और तब फिर वेद का शब्द भी इतिकर्त्तव्यता का प्रमाण और प्रेरक नहीं हो सकता था। लेकिन अगर वह हमारे लिए प्रमाण है तो हमारा अपना कुछ भी है–और यों उसकी प्रामाणिकता हमारी ही किसी गंभीर–किसी 'सत्य-ग्राही'–वृत्ति का भी 'शब्द' या 'वचन' होना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने उसी वृत्ति के लिए 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग किया है।

याज्ञवल्क्य के प्रसंग पर ध्यान को जरा फिर से ले जायें। प्रसंग यज्ञ का है। दुहराना न होगा, यज्ञ कैसे हो इसका प्रमाण शब्द है; अर्थात् श्रुति–वेद। वेद यज्ञ का विधि-विधान करता है। पर याज्ञवल्क्य उस दशा में यज्ञ की बात करते हैं जब विधि-विधान का पालन सम्भव ही नहीं। फिर वेद का शब्द तो प्रमाण हो ही नहीं सकता। यज्ञ के लिए जो द्रव्य विहित या सम्भव हैं वे उपलब्ध ही नहीं हैं, फिर भी याज्ञवल्क्य यज्ञ करने की बात करते हैं, और तभी कहते हैं कि श्रद्धा में सत्य की आहुति ही यज्ञ है। स्पष्ट ही यहाँ बात शब्द की नहीं, हमारी वृत्ति की है, जिसे वे श्रद्धा कह रहे हैं। उनका आशय है कि श्रद्धा नहीं हो तो यज्ञ की बात ही वृथा है। श्रद्धा के बिना यज्ञ की कोई भी शब्द-प्रथित विधि, कि 'यों करो, यों न करो' निरर्थक ही होगी। यज्ञ के बहिरंग अनुष्ठान का अन्तरंग है श्रद्धा–जिसके बिना बहिरंग का कोई अर्थ भी नहीं। प्रमाण भी नहीं।

पर हमने 'है' और 'होना चाहिए' का जो भेद किया उसे श्रद्धा पर कैसे उतारेंगे? श्रद्धा भी तो 'है' ही कहलायेगी। वह सिद्ध ही है, सत् है, मिथ्या नहीं। वह हममें 'है'। तभी वह सत्य है। उसके लिए 'होना चाहिए' तो नहीं कहा जा सकता। इसी बात को आगे भी पसारा दिया जा सकता है : धर्म के जिन 'तत्त्वों' की हम बात कर रहे हैं : अहिंसा, आनृशंस्य, इनके मूल में स्थित मैत्री, करुणा, अनुकम्पा ये भी तो 'हैं' ही–धर्म के तत्त्व *हैं*; और इनके तत्त्व होने का अर्थ इनका तत् (कुछ ऐसा जिसे 'यह' कहा जा सके, वह) *होना* है; अर्थात् 'सत्य' होना ही तो है; फिर यह सिद्ध-साध्य का अन्तर क्या? सत्य तो 'सिद्ध' ही ठहरता है, 'साध्य' नहीं।

प्रश्न यहाँ 'है' और 'होना चाहिए' के सम्बन्ध का है। पर जैसी आपत्ति की हम चर्चा कर रहे हैं उसका आशय यह है कि सत्य की कोई भी बात 'है' की ही बात हो सकती है, 'होना चाहिए' की नहीं। आपत्ति 'होना चाहिए' को भी 'है' के ही रूप में देखना चाहती है और किसी मुद्रा से उसे 'है' में ही समो लेना चाहती है। पर ऐसा वाक्य लीजिए : 'है, पर नहीं होना चाहिए'। वाक्य सार्थक है तो 'है' और 'होना चाहिए' का भेद भी सार्थक है। आप यहाँ भी पैंतरा ले कर कह सकते हैं कि यह 'होना चाहिए' भी 'है' गर्भित है। 'होना चाहिए' यहाँ ऐसा 'है' है जो हो सकता है–जिसके होने की उतनी ही सम्भावना है जितनी उस 'है' की जो सचमुच है–इसलिए उसे 'है' की कोटि में ही रखना चाहिए। अब ऐसी बातें हों तो यही कहूँगा कि सच पूछिए तो 'है' का अर्थ क्या है, यह भी विचार की उलटबाँसी ही है जैसी 'होना चाहिए' का अर्थ है। और फिर 'है' और 'होना चाहिए' का सम्बन्ध तो पहेली बन ही जाता है। क्या हम यह नहीं पूछ सकते कि ऐसे कुछ होने का ही अर्थ क्या जिसे होना ही नहीं चाहिए? पर जो भी हो, हमारी समझ, हमारा विचार, 'है' और 'होना चाहिए' में अभेद नहीं करता–भेद चाहे जैसे भी करे।

हमारी चेष्टा वास्तव में ज्ञान के सत्य और धर्म के सत्य में भेद करने की है। 'है' और 'होना चाहिए', 'सिद्ध' और 'साध्य', ये पद इसी प्रयोजन से प्रयोग में उतारे गए हैं। भ्रम यहाँ 'सत्य' शब्द से 'खड़ा' होता है : ज्ञान और धर्म का भेद करते हुए भी हम दोनों के साथ एक ही शब्द 'सत्य' की बात कर रहे हैं। स्वाभाविक है कि शब्द का अर्थ भी एक ही समझ की ओर झुका ले जाए। प्रश्न हो सकता है कि हम दोनों के साथ 'सत्य' की ही बात क्यों कर रहे हैं? ज्ञान के लक्ष्य को अगर सत्य कहा जाता है तो धर्म के साध्य को भी हम 'सत्य' क्यों कहें? कारण हम देख चुके हैं। हमारा प्रयोग ही ऐसा करता है : प्रयोग ज्ञान और धर्म दोनों के 'सत्य' की बात करता है। अब हम चाहें तो उस प्रयोग को व्यामिश्र कह सकते हैं। पर 'सत्य' शब्द में एक गरिमा है। गरिमा ही नहीं, एक औचित्य का, 'प्रामाणिकता' का, 'तथता' का बोध है जो धर्म में उतना ही उद्दिष्ट होता है जितना ज्ञान में। इसीलिए 'सत्य' शब्द समीचीन है। 'होना चाहिए' और 'साध्य', ये प्रयोग भेद साधने के लिए हैं। पर ये अपर्याप्त भी हैं। 'होना चाहिए' और 'साध्य' इतना भर कह देने से बात नहीं बनती। इसलिए एक और व्यावृत्ति को लें–नीति और धर्म के भेद की। करने को नीति के साथ भी हम 'होना चाहिए' और 'साध्य' इन पदों का प्रयोग कर सकते हैं, पर क्या वहाँ 'सत्य' का प्रयोग भी कर सकते हैं? धर्म के 'होना चाहिए' में जो खरापन है वही उसे नीति से अलग करता है; वही उसका सत्य है। अब नीति को 'है' में रखें या 'होना चाहिए' में रखें, रखने को चाहे जहां भी रखें, अहिंसा या प्रभव जैसा तत्त्व और मैत्री, करुणा जैसा भाव उसमें नहीं होगा। न्याय का संधान नहीं होगा। या यहां

शायद ठीक तो यह कहना होगा कि नीति में यह भाव *होना नहीं चाहिए*, नहीं तो 'नीति' 'नीति' नहीं रहेगी, धर्म की ओर झुक रहेगी।

मैं समझता हूँ कि नीति का 'होना चाहिए' धर्म के 'होना चाहिए' से अधिक विनिश्चित, अधिक जानी-पहचानी 'वस्तु' है। नीति का सत्य—अगर यहां 'सत्य' का प्रयोग हम ठीक भी समझें—तो यही है कि नीति में हम जो चाहते हैं, हमारा लक्ष्य, निर्धारित सा होता है, तभी वहाँ उपाय प्रधान है, उपेय नहीं। धर्म का 'होना चाहिए' सचमुच एक संधान है : वह साध्य जो 'मेरा' नहीं 'सब' का है, कर्त्ता मात्र का है, विश्वजनीन है और इसीलिए सत्य है। ऐसा साध्य है जो हमारी खोज भी होता है; वह क्या हो, यह भी निरन्तर साध्य रहता है। वह 'क्या नहीं हो', इस विषय में हमारा बोध कुछ अपेक्षया स्थिर हो भी, तो भी 'क्या हो', हमारे लिए यह एक चिरन्तन संधान ही रहता है। यों धर्म का 'सत्य' सचमुच, तत्त्वतः 'साध्य' है। तभी नीति के साध्य को हम जो कुछ भी कहें, उसे साध्य 'सत्य' कहने में संकोच ही होता है।

धर्म के सत्य को हमारे पुरुषार्थ की जो वृत्ति साधती है वह श्रद्धा है। श्रद्धा सत्य का 'आधार' इस अर्थ में है कि धर्म के सत्य का श्रद्धा ही 'प्रमाण' है। धर्म श्रद्धा की भूमि पर ही खड़ा रहता है। यों श्रद्धा को हम ज्ञान-भिन्न पर ज्ञान-सदृश ही सत्य-संध होने के साथ साथ सत्य-निष्ठ कह सकते हैं। बल्कि ज्ञान की *श्रद्धा* की भी बात कर सकते हैं।

क्या तात्पर्य? कुछ खुलासा करता हूँ। ज्ञान को हम जिज्ञासा का फल कह सकते हैं तो एक गहरे अर्थ में जिज्ञासा भी कह सकते हैं। जिज्ञासा के बिना ज्ञान का कोई अर्थ नहीं। जिज्ञासा वह वृत्ति है जो आत्म में रहती हुई सत्य तलाशती है। वह सकर्मक वृत्ति है। ज्ञान का आहरण ही नहीं, प्रमाणीकरण भी इसका 'कर्म' है—व्यापार है। विमर्श, परीक्षण—इसके व्यापार के अंग हैं। आत्म-संस्थ होते हुए यह वृत्ति विषय-मुख है। जिज्ञासा अपने को 'सफल' तब मानती है जब विषय उस पर उसी रूप में भासित हो जाए जो विषय का अपना स्वायत्त स्वरूप है; वृत्ति का अपना व्यापार, विमर्श, इसमें आडे नहीं आना चाहिए। इस व्यापार का काम यह होना चाहिए कि यह विषय को यों का यों हमें थमा दे—अपने रंग में न रँगे। यह जिज्ञासा का आदर्श है। उसका साध्य है, संधान है। कहाँ तक पूरा होता है, हो भी सकता है या नहीं, यह प्रश्न और है। पर जिज्ञासा अपने को ज्ञेय के प्रति वस्तु-तन्त्र रखना चाहती है। अपने स्वतन्त्र वृत्ति-भाव को सर्वथा तटस्थ रखना चाहती है। अपने 'है' को 'नहीं है' सा कर देना चाहती है, ताकि वह ज्ञेयमय हो जाए। पर जिज्ञासा अपने को भी ज्ञेय बना सकती है—विचार इस वृत्ति पर भी किया जा सकता है, इसके प्रति जिज्ञासा की जा सकती है कि यह क्या है? -इसका अपना क्या स्वरूप है (सत्य है)?—जैसा कि हम अभी कर रहे हैं। पर हम पा यह भी रहे हैं कि इस वृत्ति का सत्य

एक आदर्श में भी–साध्य में भी स्थित है : विषय के प्रति निष्काम, नि:संग, तटस्थ भाव। इस वृत्ति को हम 'बुद्धि' भी कह सकते हैं। नाम अनपहचाना नहीं होगा।

हम देख ही रहे हैं कि बुद्धि का भी एक आदर्श है। यह *आदर्श* तो वस्तु-तन्त्र नहीं कहला सकता, किसी 'सिद्ध' विषय से बँधा नहीं है। साध्य है। बुद्धि के इस आदर्श का आधार क्या? बुद्धि अगर तटस्थ विषयोन्मुख, वस्तु-तन्त्र वृत्ति है तो इस आदर्श का आधार बुद्धि को ही तो नहीं कहा जा सकता। हम कह सकते हैं कि नि:संग विषय-भाव बुद्धि की श्रद्धा है।

आपत्ति हो सकती है कि बुद्धि के आदर्श को बुद्धि में ही निहित, उसके अपने स्वरूप का अन्तरंग क्यों न मान लिया जाए? अलग से किसी श्रद्धा की बात क्या? बात मैं समझता हूँ यह है कि आदर्श की भूमि बुद्धि तक सीमित नहीं है। और भी आदर्श होते हैं, जैसे कर्म का आदर्श, जिसकी हम चर्चा कर ही रहे हैं। हमने बुद्धि का जो अर्थ लिया है–और जो अक्सर लिया ही जाता है– उस अर्थ में हम कर्म के आदर्श को या धर्म को बुद्धि में निहित तो नहीं मान सकते। क्योंकि हम देख आए हैं कि धर्म का संधान वस्तु-तन्त्र या सिद्ध विषय-मुखी संधान है ही नहीं। स्पष्ट ही इसका विषय से नहीं, विषयी से या आत्म से एकान्त सा सम्बन्ध है। मर्म का सम्बन्ध है।

या यों कहें कि वह बुद्धि से अधिक 'वृत्ति'-सार या वृत्ति-मय है। आत्म-संस्थ होना ही उसकी पहचान है। वह विशुद्ध वृत्ति है। वस्तु-मुक्त, आदर्श-उन्मुख वृत्ति। इसलिए बुद्धि से उसका भेद करना उचित है और करने के लिए उसे श्रद्धा कहना अनुचित नहीं ठहरता। पर मैंने कहा कि श्रद्धा भी सत्य-संध वृत्ति है। वह कर्म के सत्य का संधान करती है। निष्काम, नि:संग होना उसका भी आदर्श है। वह अपनी तरह से तटस्थ-भाव भी साधती है–जिसकी हम आगे चर्चा करेंगे। पर वह अपने ही भीतर झाँक कर अपने सत्य को खोजती है। कांट जैसे कुछ लोग तो यहां तक कहेंगे कि यह वृत्ति सत्य को जानने में बुद्धि से कहीं अधिक सक्षम है। बुद्धि के सत्य को–वस्तु को–अपने-आप में जाना ही नहीं जा सकता। वह बुद्धि-रंजित ही रहता है। उसका अपना स्वरूप बुद्धि के बाहर, बुद्धि से तत्त्वतः भिन्न ही रहता है। क्योंकि बुद्धि अपने 'आपे' से निकल कर वस्तु तक नहीं पहुँच सकती, जब कि धर्म का सत्य श्रद्धा के रूप में आत्म-संस्थ है, आत्म उसे अपने भीतर ही पा सकता है। उसकी 'प्रामाणिकता' घनिष्ठ है। अपनी ही अंतरंग प्रामाणिकता है।

बुद्धि के पक्ष में बात को यों रखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि एक ओर बुद्धि और उसका प्रमाण-व्यापार और दूसरी ओर प्रमेय-बुद्धि के ज्ञेय विषय या 'वस्तु'–इन दोनों में एक अयुत-सिद्ध भाव है, ऐसा कि दोनों की युगनद्ध सत्ता है। ये अलग नहीं हो सकते। तभी हम यह कहने में समर्थ हो पाते हैं कि हम 'जानते' हैं।

नहीं तो ज्ञान-व्यापार एक खोखला शब्द भर रह जाएगा, और हमारी जिज्ञासा, हमारा ज्ञान सब कुछ निरी भ्रान्ति का पसारा। और यह भी सोचिये कि जिस सत्य के बारे में यह कहा जाए कि 'जाना नहीं जा सकता' उसका यों 'होना'—या अज्ञेय के रूप में सत्य—यह भी तो बुद्धि-सापेक्ष ही है।

थोड़ा भी पैठ कर सोचें तो ज्ञान-वृत्ति और जिस सत्य का वह संधान करती है इन दोनों को कहीं मूल में युगनद्ध मानना होगा, नहीं तो सत्य की बात वृथा है। ज्ञान और सत्य को कहीं मर्म में युगनद्ध मानना, इसे बुद्धि की श्रद्धा कह सकते हैं—बुद्धि अपने आप में इसका प्रमाण नहीं है। इससे इन्कार कर सकती है। इसे बुद्धि की *श्रद्धा* इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि इसके लिए किसी विषय या प्रमेय की दुहाई नहीं दी जा सकती, न कोई बुद्धि-गम्य प्रमाण खड़ा किया जा सकता है—जिज्ञासा-व्यापार के प्रति श्रद्धा के सिवा कोई और प्रमाण नहीं हो सकता। इस श्रद्धा को बुद्धि-कर्म की श्रद्धा कह सकते हैं, जो जिज्ञासा और ज्ञान-व्यापार को सार्थक मान कर चलती है, वस्तु-जगत् और उसकी व्यवस्था को गोचर समझती है। वस्तु-जगत् के ज्ञान का जो प्रत्यक्ष-आश्रित बुद्धि-व्यापार है उसे कोरी कल्पना के आतंक से श्रद्धा ही बचाती है। प्रत्यक्ष को वस्तु-सत् का ग्रहण होता है, यह बात श्रद्धा की ही हो सकती है, क्योंकि कोरे प्रत्यक्ष को 'ज्ञान' नहीं होता, और बुद्धि-व्यापार में प्रत्यक्ष का ग्रहण विकृत हो ही जाता है। तो फिर श्रद्धा न हो तो मिथ्या कल्पना ही हाथ रह जाती है। बौद्ध चिन्तन में यह बात बड़े तीखेपन के साथ उभर कर आती ही है। बौद्ध जिस सत्य का संधान करते हैं—चाहे उसे 'सत्य' कहें या निर्वाण या संबोधि—वह प्रत्यक्ष और बुद्धि के विकल्प-व्यापार दोनों से परे है। उसे प्रज्ञा-ग्राह्य कहा जा सकता है। प्रज्ञा श्रद्धा जैसा ही आत्म-व्यापार है जो सत्य-उन्मुख ही नहीं, सत्य-संस्थ है।

इस विवेचना से हम जो द्वार खोलना चाहते हैं वह यह है कि सत्य को हम सत्य का ग्रहण करने वाली वृत्ति की दृष्टि से भी देख सकते हैं। सत्य वह होता है जो वह वृत्ति 'देखती' है। अपने खरेपन में, औचित्य की लौ में देखती है। यह खरापन साध्य होता है। अपनी तरह के प्रमाण की मांग करता है। तभी श्रद्धा सिद्ध भी होती है—उसी अर्थ में जिस अर्थ में बुद्धि की यह श्रद्धा 'सिद्ध' है कि बुद्धि-भिन्न कोई सत्य है, जो उसका विषय है, जिज्ञास्य है और जिसे वह पा सकती है। यह श्रद्धा न हो तो बुद्धि-व्यापार तुच्छ, निःसार ही ठहरेगा। श्रद्धा में सिद्ध-साध्य का युगल स्पष्ट ही उभरता है।

हम कर्म के क्षेत्र में जिस श्रद्धा की बात कर रहे हैं वह बुद्धि से अधिक आत्म या विषयी-प्रधान है, इसलिए यहां श्रद्धा में ही हमने सत्य के अधिष्ठान की बात कही है—श्रद्धा जो अपने में खरेपन से स्थित रह कर ग्रहण करे वह सत्य है।

सत्य शब्द में व्यामिश्र लगे तो कर्म की श्रद्धा के सत्य को 'ऋत' के साथ जोड़ सकते हैं। बुद्धि विषय को आत्मस्थ करना चाहती है, पर कर्म की श्रद्धा आत्म

को–अपने सत्य को, ऋत को–बाहर अभिव्यक्त करना चाहती है। हम कह सकते हैं कि 'हमारा कर्म अगर सत्य-निष्ठ है तो ऋत के अनुकूल है'। ऋत व्यवस्था का सत्य है। बुद्धि के सत्य की तरह ही वह न कल्पना मात्र है, न व्यष्टि की इच्छा या अहंकार में निष्ठ। वह करने का सत्य है, पर सबके करने का सत्य, सार्वजनीन सत्य। दिए हुए वचन को सत्य करना इसका एक उदाहरण है। इसमें ऋत के प्रति हमारी श्रद्धा का संकेत है।

साथ ही श्रद्धा के सत्य में हम 'है' और 'होना चाहिए' का एक सम्पुट भी देख सकते हैं। हमारा होना 'होना चाहिए' ही रहता है; यही बात **गीता** में यों आई है : '*श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः*'–यह पुरुष श्रद्धामय 'है'; वह वही है जो उसकी श्रद्धा 'है'।

कृष्ण का यह कथन सत्रहवें अध्याय का तीसरा श्लोक है। जिस प्रसंग में आया है वह भी देखने लायक है। सोलहवें अध्याय के अन्त में कृष्ण मनुष्य के आचरण के लिए शास्त्र-विधि को प्रमाण बताते हैं–इच्छा का–'कामकार' का–निराकरण करते हैं। शास्त्र-विधि के आचरण की नाभि में यज्ञ है। कृष्ण यज्ञ को एक व्यापक अर्थ में लेकर उसे सम्पूर्ण जीवन से, कर्ममात्र से जोड़ते हैं। सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन प्रश्न करते हैं कि क्या शास्त्र-विधि के बिना भी कर्म-रूपी यज्ञ का औचित्य बन सकता है या नहीं? जो शास्त्र को छोड़ कर भी श्रद्धा से यजन करते हैं उनकी निष्ठा क्या है, सात्विक, राजसिक या तामसिक? उत्तर में कृष्ण श्रद्धा को स्वभावजात–मनुष्य में सहज–कहते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि स्वभाव ही तीन प्रकार का होता है–सात्विक, राजसिक, तामसिक। स्वभाव के अनुरूप श्रद्धा होती है, क्योंकि पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है। स्वभाव और उसके तीन प्रकार–सात्विक, राजसिक, तामसिक–यह बात अपने आप में विमर्श चाहती है, पर इसे हम यहाँ अलग ही रख देते हैं। तामसिक श्रद्धा को श्रद्धा कहने का अर्थ ही क्या? श्रद्धा को तो सत्त्व-स्थित होते हुए रजस्-मुखी–कर्म-मुखी–होना चाहिए। तामसिक श्रद्धा अधर्म-स्वभाव जान पड़ती है। पर सत्व, रजस्, तमस् का यहां जो भी आशय हो, इतना तो कृष्ण की बात के पीछे झलक ही रहा है कि उनका श्रद्धा शब्द का प्रयोग कुछ वैसा ही है जैसा उनके पहले याज्ञवल्क्य का। वे आचरण और कर्म का बीज शास्त्र को या विधि को नहीं स्वभाव-जात श्रद्धा को मानते हैं। शास्त्र तो इस दृष्टि में श्रद्धा ही की उपज हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि श्रद्धा का यहाँ सम्बन्ध 'है' और 'होना चाहिए' दोनों से है– कर्म के साथ श्रद्धा का और सम्बन्ध हो भी क्या सकता है?

गीता के इस प्रसंग में श्रद्धा एक वृत्ति के रूप में तो उभरती है पर उसका धर्म की 'प्रामाणिकता' से सम्बन्ध संदिग्ध ही है–श्रद्धा तामसिक भी हो तो स्पष्ट है वह अधर्ममयी भी हो सकती है। धर्म में *प्रमाण* तो नहीं ही हो सकती। तामसिक श्रद्धा

को कृष्ण दम्भ, अहंकार और काम से जोड़ते हैं। लगता है कृष्ण 'श्रद्धा' के पुराने अर्थ को एक अपना सा विशिष्ट मोड़ दे रहे थे। उनका अर्थ हमारे अभिप्रेत अर्थ से कुछ सम्बन्ध रखता हुआ भी भिन्न ठहरता है। हम यहाँ श्रद्धा को इच्छा या काम या दम्भ, अहंकार से व्यावृत्त वृत्ति के रूप में आँकना चाहते है। निष्काम, सत्यसंध कर्म-वृत्ति के रूप में। पुराना प्रयोग मैं समझता हूँ यही था। याज्ञवल्क्य का प्रयोग हम देख ही चुके हैं। **गीता** से पुराना एक और प्रयोग देखिये। **कठोपनिषद्** का प्रयोग, जो काल की दृष्टि से **जैमिनीय ब्राह्मण** के अधिक निकट है। प्रयोग **कठ** के आरम्भ में ही मिल जाएगा। नचिकेता की प्रसिद्ध कथा में।

नचिकेता के पिता ने यज्ञ किया और यज्ञ के आदर्श और विधान के अनुसार अपना सब कुछ दान में देने का संकल्प लिया। पर 'सब कुछ' के नाम पर उन्होंने जो दिया वह 'कुछ नहीं' था : बूढ़ी गायें थीं, जिनका दूध उतर चुका था, जो कुछ ही दिन की मेहमान रह गई थीं। यज्ञ के संकल्प में जो प्रतिज्ञा की गई थी–या ऊह्य थी (कहानी में भी ऊह्य ही रहती है)–वह थी कि *सचमुच* सब कुछ दूँगा। बूढ़ी गायें पकड़ा देना, प्रतिज्ञा का–वचन का–छल-भरा भंग था। *असत्य* था–हालांकि अनुष्ठान-कार्य के साधारण व्यवहार में ऐसा होता ही रहा होगा, जैसा कि अब भी होता ही रहता है। अनुष्ठान के प्राण का रूढ़ि में निष्प्राण हो जाना और दान के परार्थ-भाव का स्वार्थ में ढल जाना, यह चिरन्तन-सी बात है। पर नचिकेता, जो अभी कुमार ही था, उसे बात चुभ गई। **उपनिषद्** कहता है कि जब दक्षिणा में न देने लायक गायें दान में दी जा रही थीं तो नचिकेता में श्रद्धा आ समाई : *तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश*।

श्रद्धा का यहाँ वही मर्मार्थ है जो हमें अभिप्रेत है, और याज्ञवल्क्य को अभिप्रेत था। पर यहाँ अर्थ और भी निशाने पर है। श्रद्धा यहाँ वह वृत्ति है जो वचन देती है, वचन रखती है। वचन के–संकल्प के–सत्य की ओर उन्मुख होती है। नचिकेता में श्रद्धा जागी तो उसने पिता से पूछा : 'मुझे किसको दोगे?' नचिकेता भी अपने पिता के थे, उनके स्वत्व थे–'सब कुछ' देने का संकल्प उन पर भी पूरा उतरता ही था। पुत्र को पिता की 'सम्पत्ति' मानना, यह तत्कालीन धर्म-व्यवस्थाओं का अंग था ही।

आरम्भ की इस कथा के बाद **कठोपनिषद्** में फिर श्रद्धा की चर्चा नहीं है। पर इस कहानी से ही श्रद्धा का अर्थ स्पष्ट है : 'कर्म का सत्य'। शंकर ने श्रद्धा का अर्थ 'आस्तिक्य बुद्धि' किया है। यह अर्थ उन्होंने **गीता** के सत्रहवें अध्याय के पहले श्लोक पर टीका करते हुए किया है। 'आस्तिक्य बुद्धि' अर्थात् 'विशेष कुछ है' ऐसा बोध और निश्चय। यों आस्तिक उसे कहते थे जो वेद को प्रमाण मानते थे। पर उसे भी कहते थे जो किसी देव को या ईश्वर के अस्तित्व को मानता हो। शंकर के मन में यही अर्थ था। 'श्रद्धा' शंकर के लिए 'विश्वास' का पर्याय है–विशेषकर ऐसा विश्वास जो बुद्धि के प्रमाण–अनुमान और प्रत्यक्ष– के परे हो। हम यहाँ जिस श्रद्धा

की बात कर रहे हैं वह प्रकट ही 'विश्वास' से भिन्न है– श्रद्धा किसी अतीन्द्रिय सत्ता में 'है' के बोध का नाम नहीं है। धर्म के सत्य का बोध अतीन्द्रिय तो है, इन्द्रिय-गोचर और इन्द्रिय के आधार पर बुद्धि-गोचर सत्य से भिन्न भी है, पर बात किसी अतीन्द्रिय 'सत्ता' की नहीं है। अहिंसा का उदाहरण लीजिए। इन्द्रिय और बुद्धि के लिए निसर्ग प्रवृत्ति और अनुमान का सत्य होगा : जीवो जीवस्य भोजनम्। लेकिन अहिंसा का सत्य सर्वथा विपरीत है : *मा हिंस्यात् सर्वभूतानि*। यह किसी सत्ता में विश्वास नहीं है। यह होना चाहिए का विधान है। आदर्श है। श्रद्धा द्वारा ही दृष्ट, और श्रद्धा के रखने का ही सत्य है।

श्रद्धा के प्राचीन अर्थ की पुष्टि **ऋग्वेद** से भी होती है। **ऋग्वेद** के दशम मण्डल का श्रद्धा-सूक्त प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य की तरह यह सूक्त भी यज्ञ का मूल श्रद्धा को ही बताता है : "*श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः*"–यह सूक्त की पहली ही पंक्ति है। सायण ने यहाँ श्रद्धा का अर्थ 'चाह' किया है : *पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धा* । पर 'विश्वास' ही की तरह 'अभिलाष' अर्थ भी ठीक नहीं है। अभिलाषा की बात यहाँ उठाने का एक कारण यह हो सकता है कि श्रद्धा-सूक्त श्रद्धा नाम की ऋषिका द्वारा दृष्ट कहा गया है, जिसे काम-गोत्र में उत्पन्न कामायनी भी कहा गया है। पर ऐसी ऐतिहासिक उत्प्रेक्षा से श्रद्धा 'चाह' नहीं हो जाती है; 'साध' फिर भी कह सकते हैं। स्वयं सायण आगे उसे 'संकल्प' से जोड़ते हैं, कर्म के औचित्य-बोध से। सूक्त के चौथे मन्त्र में कहा गया है कि यज्ञ करते हुए देव भी श्रद्धा की ही उपासना करते हैं, हृदय की आकूति से श्रद्धा की उपासना करते हैं : "*श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्याकूत्या ...*"। सायण 'आकूति' पर कहते हैं कि हृदय की आकूति संकल्प-रूपी क्रिया है और सभी लोग उसी से श्रद्धा की उपासना करते हैं। सूक्त का दूसरा मन्त्र भी देखें। दूसरा मन्त्र स्पष्ट ही श्रद्धा की भूमि पर धर्म को खड़ा देखता है : "*प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासते*–देने वाला श्रद्धा को प्रिय है, देने की साध रखने वाला श्रद्धा को प्रिय है।" अन्त के चरण में सूक्त जो कहता है उससे ध्वनि यह निकलती है कि श्रद्धा एक स्वयंभू वृत्ति है : "*श्रद्धे श्रद्धापयेह न श्रद्धे*–श्रद्धे, हमें यहाँ श्रद्धा में धर दो।"

ऋग्वेद में श्रद्धा का 'अनुकम्पा' से भी सम्बन्ध दिख रहा है। तो इसे अहिंसा-निष्ठ आनृशंस्य का सधर्मी भी कह सकते हैं। और यों यहां श्रद्धा को धर्ममात्र से जोड़ते हुए व्यापक अर्थ में भी लिया जा सकता है। पर फिर हमारे विवेचन से भेद भी उभरता है। हमने श्रद्धा को 'वचन रखने' का दृष्टान्त लेते हुए 'सत्य' के साथ जोड़ा है। आनृशंस्य के साथ उस तरह से नहीं।

धर्म के हमने जिन 'भाव'-मय आधारों की बात की : मैत्री,करुणा आदि, वचन रखना उनसे स्पष्ट ही भिन्न है। मैत्री, करुणा, दया आदि काम, क्रोध, द्वेष के सजातीय हैं। रस-प्रस्थान को सामने रखें तो ये सभी भाव–जो धर्म से जुड़ते हों या न

जुड़ते हों–सभी 'स्थायी भाव' की कोटि में आ सकते हैं। ये मन की आवेगमयी, प्रवाहमयी अवस्थाएँ हैं। ये ऊर्मियां हैं, गतियां हैं : आती हैं, जाती हैं। एक गति की जगह दूसरी बिल्कुल उल्टी गति लेती रहती है। हमारा कर्म इन गतियों का शिकार होता ही है। पर कर्म का औचित्य या धर्म ऐसे भाव-प्रवाह में बहती हुई नैया नहीं हो सकता। भाव अगर कर्म का प्रेरक बने तो उसमें संकल्प होना चाहिए, एक निष्ठा। धर्म केवल मैत्री आदि नहीं, मैत्री आदि की स्थिरता है, साधना है, इनकी प्रतिष्ठा है। भाव मात्र नहीं। भाव के औचित्य के साथ भाव का प्रण भी है–ऐसा प्रण जो सामान्य-व्रती हो, विश्वजनीन हो। हमारे ऊपर के कथनों में यह कण्ठतः कहा न गया हो तो भी व्यंजित है।

फिर भी ऊपर की विवेचना में श्रद्धा से सम्बन्ध दायित्व का, न्याय का अधिक उभरता है–जिन्हें हमने सत्य के साथ रखते हुए भाव से अलग किया है। और दोनों के बीच संकल्प की डोर जुड़ती भी हो तो भी दोनों में भेद उभरता ही है। यहां हमें धर्म में फिर द्वैधीभाव दिख रहा है। पर इसमें दोष नहीं। हम यहां धर्म के द्विस्वभाव को भी आँकने की चेष्टा कर ही रहे हैं। एक ओर अहिंसा, आनृशंस्य है, दूसरी ओर सत्य। एक ओर मैत्री, करुणा आदि भाव, दूसरी ओर वचन रखना। दायित्व बोध। पहला कोमल है, पर के लिए द्रवित, दूसरा निष्ठुर भी हो सकता है। तो भी श्रद्धा की प्रेरणा दोनों को साथ भी रखती है–दोनों में परार्थ भाव का संकल्प है। या यों कहें कि ऋत की धर्ममयी सत्य-व्यवस्था, आनृशंस्य और न्याय दोनों की अपेक्षा रखती है। न्याय उसी व्यवस्था को बनाए रखने का संकल्प है जो आनृशंस्य से बनती है। या यों कहें कि प्रभव को बीच में रखते हुए एक ओर अवध है, दूसरी ओर न्याय।

पर जो भी कहें, धर्म में एक द्विस्वभाव सामने आता ही है। पर इस द्विस्वभाव-बोध को हम अस्वीकार न भी करें तो भी एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है–क्योंकि इस द्वैत में एक-सूत्रता भी द्योतित होती है। श्रद्धा को हमने एक वृत्ति कहा। उसका सीधा सम्बन्ध दायित्व से जुड़ता लगता है। या यों कहें कि दायित्व से ही उसकी घनिष्ठता उभरती है। तो क्या हम मैत्री, करुणा आदि को किसी और सर्वथा भिन्न वृत्ति की प्रवृत्तियाँ कहना चाहेंगे? क्या हम धर्म के क्षेत्र को अपने अंतरंग में ही द्विविध बाँट देना चाहेंगे? मैं समझता हूँ यह निरर्थक खींचतान होगी। बिखराव होगा। यह ठीक है कि यहाँ चिन्तन को धकेल कर वृत्ति-द्वैध की ओर ले भी जाया जा सकता है। पर यह विषम सी ही बात होगी। अनहोनी। धर्म के अंतःक्षेत्र में ही अगर द्वैत हो तो दोनों को धर्म कहना ही भ्रान्त हो जाएगा।

पर एक द्वैधी-भाव तो फिर भी आड़े आता लगता है। दो पक्ष उभरते ही हैं। हम इन्हें धर्म का भाव-पक्ष और श्रद्धा-पक्ष या न्याय-पक्ष कह सकते हैं–'न्याय' कहने के औचित्य की अभी चर्चा करता हूँ। या अहिंसा और सत्य–इन दो पक्षों की बात कर सकते हैं जो कि **महाभारत** से उभर कर ऊपर आए ही हैं। इन दोनों में हम एक

एकसूत्रता भी देख सकते हैं, हालांकि वैषम्य की गाँठ बनी रहती है, और वही धर्म की धरती पर धर्म-संकट को भी बनाए रखती है।

श्रद्धा की संकल्पमयी प्रवृत्ति भाव से रीती नहीं है। इसका भाव से स्पष्ट ही सम्बन्ध है। हम कहते हैं : *अहिंसा परमो धर्मः*। आशय यही होता है कि अहिंसा को सद्-व्यवहार का आधार बनाना चाहिए और इसके लिए श्रद्धा की ज्योति जगाये रखनी चाहिए। पर अहिंसा का आधार दया, अनुकम्पा, मैत्री जैसा भाव ही है। ऐसे भाव के बिना अहिंसा का अर्थ ही नहीं बनता। पर के प्रति आत्मत्व का गहरा भाव ही अहिंसा का मूल हो सकता है, और तभी उसका प्रभव से भी साथ बनता है, नहीं तो अहिंसा, प्रभव, ये खोखले, निस्सार शब्द होंगे। पर जब अहिंसा धर्म का आधार बनती है तो प्रण और दायित्व की बात अपने में समो कर लाती है : उसके पालन में व्रत-चर्या का नियम-संयम उतर आता है। वह संकल्प-बुद्धि (या **गीता** के शब्दों में) में व्यवसाय-बुद्धि की बात हो जाती है। या कहिये कि केवल भाव की बात नहीं रहती, दायित्व की, श्रद्धा की बात हो जाती है। अहिंसा को भाव मात्र से हटा कर सत्य के क्षेत्र में ले आती है। बात को यों भी रख सकते हैं : भाव अहिंसा का बीज है—मैत्री, अनुकम्पा, करुणा जैसे भाव के बिना उसकी कल्पना भी कठिन है—पर केवल भाव पर अहिंसा का सत्य, उसकी विश्वजनीन व्यवस्था नहीं टिक सकती। और फिर भाव 'भावुक' बना दे सकता है। व्यवस्था में भावुकता का स्थान नहीं। भावुकता व्यष्टि के अहं में लीन सी होती है, समष्टि के सार्वजनीन दायित्व का, सत्य-संकल्प के न्याय-बोध का आधार नहीं हो सकती। भावुकता का होना इस बात का ही इंगित होगा कि श्रद्धा में कहीं दोष है, भ्रान्ति है। पर भाव निष्ठा का भी आधार हो सकता है और यों श्रद्धा का अंग।

दायित्व-बोध में हम इस बात को देख सकते हैं। सच पूछिए तो धर्म में हमारा दायित्व ही यह है कि हम अहिंसा और आनृशंस्य को सत्य बनाए रखें। दायित्व में एक ओर संकल्प है—'मैं अनृशंस रहूंगा', इस प्रतिज्ञा के पालन का, इसे सत्य करते रहने का संकल्प है—पर दूसरी ओर इसमें जो परार्थ-भाव है वह मैत्री, करुणा के बिना शून्य ही होगा। स्वार्थ में दायित्व की बात नहीं की जा सकती। हम अपने प्रति दायित्व की बात जब करते हैं तो जिस अपनेपन की बात करते हैं वह स्वार्थ का स्व नहीं होता, किसी उच्चतर 'सत्यतर' आत्म का स्व होता है—ऐसा स्व जो स्व होना चाहिए। निरे स्वार्थ की ही बात हो तो 'दायित्व' कहना भ्रान्ति है। यों दायित्व में श्रद्धा के साथ भाव का मेल देखा जा सकता है।

अहिंसा की हमने इस संदर्भ में बात की। अहिंसा को फिर से लीजिए। जैसा हमने कहा, अहिंसा की धरती भूत-दया, सहानुभूति जैसे भाव हैं। अहिंसा श्रद्धा का सत्य हो जाए तो उसमें एक व्रत की सी प्रतिज्ञा आ पैठती है : 'मैं हिंसा नहीं करूंगा'। यह केवल भाव की बात नहीं रह जाती। आत्मसंयम की, दायित्व की और

यों एक नियम की या व्रत की बात हो जाती है। मैं अपने लिए अहिंसा का नियम बना लूँ तो 'स्व'-तन्त्र हो कर पालने का, पुरुषार्थ के रूप में साधने का प्रयत्न करूँगा–अपने लिए एक अहिंसा की व्यवस्था साधूंगा। चूक हो तो प्रायश्चित की–स्वदण्ड की–बात हो सकती है। पर अहिंसा स्व तक सीमित नहीं रह सकती–व्यक्ति की सीमा से बढ़ कर समष्टि-व्यवस्था की ओर भी उन्मुख होती है। उसमें जो सत्य का–औचित्य का–बोध है, वह 'मेरा' ही नहीं–किसी कर्त्ता विशेष का ही सत्य नहीं–'हमारा', सब का, सत्य है। तभी व्यवहार में आनृशंस्य को धर्म का निकष बनाने का आदर्श रूप लेता है। मेरे ही व्यवहार का नहीं, सबके व्यवहार का–समाज के राजधर्म का आधार बनता है।

तभी धर्म-संकट का भी बीज बनता है–आनृशंस्य व्यवस्था का आधार हो तो उसकी रक्षा सबका दायित्व हो जाता है, और रक्षा में न्याय और दण्ड का, युद्ध और हिंसा का विषम द्वैध सामने आ जाता है।

यहाँ यह आपत्ति हो सकती है : हम भाव और श्रद्धा के मेल की बात कुछ इस आग्रह से कर रहे हैं मानो धर्म की धरती इस मेल से ही बनी हो। पर सच पूछिए तो भाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। सत्य का कर्त्तव्य ही धर्म है और उसमें भाव के लिए कोई स्थान नहीं है–ऐसा कई विचारकों ने कहा भी है और ठीक ही कहा है। 'हिंसा नहीं करनी चाहिए', यह वैसा ही नियम है जैसा 'सत्य बोलना चाहिए' और इस दूसरे नियम में भाव का कोई स्पर्श नहीं है, तो पहले में भी नहीं है। यह विशुद्ध नियम की बात है। धर्म में भाव की बात ठीक नहीं।

पर बात को यों भी सोचिये। 'सदा सच बोलूँगा' इतिकर्त्तव्यता का यह नियम अगर नियम हो तो दूसरे की अपेक्षा रखता है। 'बोलने' का अभिप्राय ही किसी और से कहना होता है। पर यहां ठीक ही प्रतितर्क दिया जा सकता है कि प्रतिज्ञा अपने ही प्रति भी तो हो सकती है। आख़िर आदमी अपने-आप से भी तो झूठ बोलता है। अपने-आप को बहलाता, बहकाता है। फुसलाता है। सत्य की प्रतिज्ञा का ध्येय ऐसे झूठ से निकलने का अपने ही प्रति किया गया संकल्प हो सकता है। इसे फिर 'नियम' कहें भी तो किसी व्यापक आत्मगत अर्थ में कहना होगा, केवल व्यवहार के अर्थ में ही नहीं।

तो फिर प्रतिज्ञा का ठीक रूप होगा, 'वंचना नहीं करूँगा'। और सच बोलने का 'नियम' सच पूछिए तो यही है कि छल से बचूंगा, छल वंचना है। इस बात का संकेत क्या? संकेत भाव के प्रति है। क्या बिना भाव के यह 'नियम', या इसका पालन हो सकता है? सच बोलने का नियम कोई यन्त्र जैसा नियम तो है नहीं कि यन्त्र में चाभी भर दी और बिना किसी भावमयी प्रवृत्ति के कम्प्यूटर की तरह चलता रहे। यही हो तो फिर इस प्रतिज्ञा का भी कोई अर्थ, कोई प्रयोजन नहीं होगा। कम्प्यूटर के

लिए 'वंचना नहीं करूंगा'–इसके क्या मानी? क्योंकि वह वंचना कर ही नहीं सकता। वंचना नहीं करने का तात्पर्य भाव-शुद्धि ही हो सकता है–निष्कपट भाव की साधना। अपने साथ भी निष्कपट होना साध्य ही होता है। धर्म के सत्य पक्ष में भाव का उद्देश्य 'पर' हो जाता है। 'मैं परवंचना नहीं करूंगा'–यह श्रद्धा की प्रतिज्ञा है, क्योंकि वंचना परस्पर-भाव की व्यवस्था का भी बाध है। मैत्री का ही नहीं, न्याय का भी बाध है।

यों श्रद्धा का भाव से सम्बन्ध है। भाव ही परस्पर-भाव की रहनी साधता है। पर वास्तव में भाव की डोर टूटती ही रहती है। तभी समष्टि-व्यवस्था में भाव-सम्बन्ध विडम्बना भी है।

बात को थोड़ा गहरे पैठ कर यों भी देखिये। हमने धर्म के दो पक्षों की बात की है : ऐक्य का पक्ष और अनैक्य का पक्ष। पहले को हमने व्यष्टि-व्यष्टि के बीच सहज भाव-गर्भ अभेद का और यों परस्पर-भाव का पक्ष कहा है, दूसरे को न्याय का। मैत्री, करुणा जैसे भाव परस्पर भाव के आधार हैं, और व्यवस्था का आधार है दायित्व-बोध : प्रण-पालन, वचन रखना। या यों कहिये : धर्म का एक पक्ष है आनृशंस्य (अवध, प्रभव), और दूसरा है सत्य, न्याय–जो प्रभव को भी समो सकता है। दोनों ही सार्वजनीन धर्म हैं–हां, एक की प्रतिष्ठा व्यष्टि में अधिक मुखर है, दूसरा व्यवस्था को प्रतिष्ठा देता है, व्यवस्था में प्रकट रूप लेता है। पर औचित्य या विवेक के रूप में दोनों का धारण व्यक्ति की जागरूक चेतना ही करती है। दोनों में हमने सम्बन्ध देखे, पर विरोध भी गहरा है। विरोध की ट्रैजेडी को एक कहानी से उभारता हूँ, जहां विरोध को विभीषिका के रूप में एक राजा के निश्छल धर्मबोध के भीतर से उभारा गया है।

कहानी **मार्कण्डेय पुराण** की है। **पुराण** के आरम्भ में ही आई है। राजा हरिश्चन्द्र की अति प्रसिद्ध कथा है। पर इस **पुराण** में जिस ढंग से, जिस व्यंजना से कही गई है उसमें दायित्व-बोध और मैत्री करुणा जैसे परस्पर भाव की–दूसरे शब्दों में अहिंसा-आनृशंस्य और सत्य के अन्तरंग वैषम्य की, गहरी ट्रैजेडी उभरती है।

राजा हरिश्चन्द्र आदर्श राजा थे। स्वभाव से धर्मशील और आनृशंस्य-प्राण : मैत्री, करुणा, अनुकम्पा ये भाव उनमें सहज थे। इनमें निष्ठा उनका शील थी। एक बार वे आखेट के लिए वन में गए। मृग का पीछा कर रहे थे कि स्त्रियों के विलाप का करुण स्वर सुना। मृग को छोड़ कर उस रुदन की ओर दौड़े। हुंकार के स्वर में गरज उठे : "कौन है जो मेरे होते अबला पर अन्याय कर रहा है?" यह कहते हुए राजा वहाँ पहुँचे जहाँ से क्रन्दन का स्वर उठ रहा था। राजा ने देखा कुछ स्त्रियाँ हताश खड़ी रो रही हैं। उनकी दीन दशा देखकर राजा विचलित होकर क्रोध के आवेश में आ गए। पर सँभल कर बोले : "कौन पापी मेरे रहते नीच कर्म कर रहा है, जानता नहीं कि आग से खेल रहा है? मेरे बाणों से छलनी होकर अभी अपने किए का फल पा जाएगा।"

रोनेवाली स्त्रियाँ मूर्तिमती विद्याएँ थीं जिन्हें मनु-विश्वामित्र तपस्या की शक्ति से बलात् आत्मसात् करना चाह रहे थे। हरिश्चन्द्र को देख कर विश्वामित्र आग-बबूला हो गए। वे क्षमा, मौन और चित्त-संयम से विद्याओं को साध रहे थे। पर इस अचानक आए विघ्न ने उन्हें आपे से बाहर कर दिया, क्षमा, संयम, मौन क्षण भर में बिखर कर रह गए। और मुनि में ज्यों ही क्रोध जागा विद्याएँ अन्तर्धान हो गईं। राजा स्त्रियों को बार बार "मा भैः"– "डरो मत"– कहे जा रहे थे। मुनि डपट कर बोले, "ठहर जा, अभी तुझे देखता हूँ।" मुनि को देखा तो हरिश्चन्द्र ठिठक गए। भय से काँप उठे। मुनि को साष्टांग प्रणाम किया और सम्भ्रम के साथ बोले : "भगवन्, यह मेरा धर्म है, मैं तो अपने धर्म की ही रक्षा कर रहा था, आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। दान, रक्षा, धर्मयुद्ध ये राजा के राजोचित धर्म हैं, इनका पालन मेरा कर्त्तव्य है। मैं कर्त्तव्य का ही पालन कर रहा था।"

विश्वामित्र का क्रोध ऊपर ऊपर शान्त हो जाता है, पर भीतर भड़क उठता है, कपट का रूप ले लेता है। और यहीं से कहानी में ट्रैजेडी का समावेश हो जाता है : निष्कपट राजा और सकपट विश्वामित्र–इनका भीषण, भयावह वृत्तांत बन जाता है। विश्वामित्र राजा के धर्म को हीं राजा पर प्रहार करने का दारुण अस्त्र बना लेते हैं। जिस क्षमा से विद्या साध रहे थे उसको बिल्कुल त्याग कर बड़ी निष्ठुर चतुराई से राजा के धर्म को ही प्रतिशोध का माध्यम बना लेते हैं। यह सम्भव दो बातों से होता है : राजा का सद्भाव और धर्म का स्वरूप-गत द्वैधी भाव।

विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से पूछते हैं : "यह बतलाओ हरिश्चन्द्र, राजा को दान किसे देना चाहिए, रक्षा किसकी करनी चाहिए और युद्ध किससे करना चाहिए?" राजा ने कहा : "श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, और ऐसे लोगों को भी दान देना चाहिए जिनकी जीविका हीन हो गई हो, जो ठीक से कमा-खा न पा रहे हों। रक्षा भयभीत की करनी चाहिए और युद्ध आततायी शत्रु से।" विश्वामित्र ने अपनी बात को कपट की गाँठ में बाँधते हुए कहा : "राजा, मैं ब्राह्मण हूँ। गृहस्थ होना चाहता हूँ। गृहस्थ-भाव का ठीक से भोग करना चाहता हूँ। जो मैं चाहूँ, तुम मुझे दान में दो।" मनु-विश्वामित्र के अभिप्राय में कौटिल्य था, जिसे राजा बिल्कुल नहीं भाँप पाये। उलटे प्रसन्न हुए कि मुनि ने शाप भी नहीं दिया और वे अब तपस् में विघ्न डालने के अधर्म से भी बच जायेंगे। बोले, "तपोधन, आप जो चाहें माँग लें, कितनी ही दुर्लभ वस्तु हो, यह समझें कि आपकी है। मेरा राज्य, मेरा धन, जीवन, स्त्री-पुत्र, कलेवर सब आपका है।" विश्वामित्र ने तुरन्त स्वीकार करते हुए कहा, "ठीक है राजा, मैंने तुम्हारा सर्वस्व-दान ग्रहण किया। पर एक बात और है, तुम जो सर्वस्व-दान का कर्म कर रहे हो यह राजसूय यज्ञ के समान है, इसकी दक्षिणा भी देनी होगी। बोलो, दोगे?" विश्वामित्र ने बड़े नीति-कौशल से तोल कर बात कहीं थी।

पर हरिश्चन्द्र ने सहज सद्भाव से देने का प्रण किया। इस पर विश्वामित्र ने अपनी माँग आगे रखी। बोले : "तुम्हारा शरीर, स्त्री और पुत्र इन्हें छोड़ कर और उस धर्म को छोड़ कर जो हरेक का अपना होता है, जाने वाले के साथ जाता है—इन सब को छोड़कर, जो कुछ तुम्हारा है अब मेरा हो गया : तुम्हारा समूचा राज्य और जो कुछ भी इसमें है, सागर पर्यन्त यह धरा, नगर, जनपद, कोष, धन-धान्य अब मेरा है।" राजा ने निर्विकार भाव से तत्काल सब कुछ दान में दे दिया। सहर्ष कहा 'तथास्तु'। राजा की इस 'तथास्तु' के साथ ही विश्वामित्र के मन का चोर आगे आ गया। बोले, "तो राजा, अब राज्य का स्वामी कौन है? राज्य पर प्रभुत्व किसका है? तुमने जब अपना सब कुछ मुझे दे दिया है तो उस पर अब तुम्हारा स्वत्व नहीं रहा न?" राजा ने कहा, "हाँ प्रभु, अब आपका है। मैंने ज्यों ही आपको देने का संकल्प किया त्यों ही आपका हो गया था।" "तो फिर राजा", विश्वामित्र ने डपट कर कहा, "जहाँ तक मेरा राज्य है वहाँ तक तुम्हारा कोई स्थान नहीं, तुम राज्य से बाहर हो जाओ, अपने आभूषण और राजवस्त्र उतार दो, वल्कल पहनो, स्त्री-पुत्र को साथ लो, मेरी सीमा छोड़ कर कहीं और चले जाओ।"

राजा ने ऐसा ही किया। पर निःस्व होकर जब राज्य से बाहर जाने के पथ पर आए तो विश्वामित्र फिर आगे आकर खड़े हो गए और धर्म की आड़ में कपट का अग्नि-बाण छोड़ा। बोले, "तुमने राजसूय यज्ञ किया है, दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है, अब दक्षिणा दो। उसके बिना नहीं जा सकते। प्रणबद्ध हो।" राजा ने कहा, "ब्राह्मण, जो कुछ मेरा था, दे चुका हूँ, अब ये तीन कलेवर ही बच रहे हैं—मेरा, स्त्री का, मेरे पुत्र का—और क्या है मेरे पास?" विश्वामित्र ने फिर धर्म की दुहाई देते हुए कहा, "कुछ भी हो, तुम्हें अपना वचन सत्य करना पड़ेगा। तुमने कहा नहीं था, देने का वचन देकर वचन रखना, आर्त्त की रक्षा करना और आततायी से युद्ध करना, ये तुम्हारे धर्म हैं। अब वचन पूरा करो। मुझे दक्षिणा दो और तब तक दक्षिणा दो जब तक मेरा मन न भरे, मुझे सन्तोष न हो।"

अब तक की कहानी में दिख ही रहा है कि पुराण की एक अपनी धर्म-विमर्शमयी दृष्टि या प्रज्ञा है, जो इस जानी मानी कहानी में नई गहराई लाती है। आगे की कहानी पहचानी सी है। राजा ने समय माँगा। विश्वामित्र ने उस पर भी अवधि बाँधी, बस एक महीने का समय दिया। राजा ने स्त्री-पुत्र को बेचा, अपने आप को बेचा, श्मशान का चाण्डाल हो गया। पर इतने से जो दक्षिणा बन सकी, विश्वामित्र को प्रसन्न न कर पाई। उन्हें प्रसन्न होना ही नहीं था। प्रसाद उसी में जाग सकता है जिसमें मैत्री, सहानुभूति जैसे भाव हों। विश्वामित्र धर्म से बाहर निकल चुके थे। स्वयं पिशाच हो चुके थे। आसुरी वृत्ति और अमानुषी क्रोध और अहंकार के वश हो कर उन्होंने धर्म को प्रतिशोध का हथियार बना लिया था। राजा को चाण्डाल बनाया।

हरिश्चन्द्र अपनी श्रद्धा पर टिके रहे। यह मानना कठिन है कि वे विश्वामित्र का दुराशय नहीं भाँप सके थे—कहानी इस बात पर चुप है—पर हरिश्चन्द्र ने प्रतिज्ञा-पालन में कोई द्विधा नहीं दिखाई।

यहाँ पाठक के मन में कई प्रश्न जाग सकते हैं। एक तो यह सोचिये कि कृष्ण अगर हरिश्चन्द्र के परामर्शदाता होते तो क्या सुझाते? यहां आनृशंस्य की प्रज्ञा क्या समाधान निकाल सकती थी? पर आनृशंस्य न सही, राजधर्म के सत्य को ही लीजिये। एक बात तो यहाँ खरी सामने आती है, जो किसी को भी सूझेगी। आततायी से विरोध को राजा ने स्वयं धर्म का अंग कहा है। राजा क्या विश्वामित्र को आततायी नहीं कह सकते थे? एक और प्रश्न है जो *आज* सहज उठता है : स्त्री-पुत्र पर हरिश्चन्द्र का क्या अधिकार था, जो उन्होंने स्त्री-पुत्र को बेचा?

और भी कई दृष्टियों से प्रश्न उठ सकते हैं, पर अभी नहीं उठाऊँगा। कहानी पर फिर आता हूँ। आगे की घटना लक्षणीय है। राजा नगरी छोड़ कर जा रहे हैं, पर नगर के लोग उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। पीछे पीछे आते हैं। धर्म की—आनृशंस्य धर्म की—दुहाई देकर उन्हें कहते हैं, *"तिष्ठ तिष्ठ, नृपश्रेष्ठ, स्वधर्ममनुपालय। आनृशंस्यं परो धर्मः क्षत्रियाणां विशेषतः*—रुको, रुक जाओ राजा, अपने धर्म का पालन करो। आनृशंस्य परम धर्म है, विशेष कर तुम जैसे क्षत्रिय के लिए।"

मैंने इस लम्बे निबंध के आरम्भ में कहीं लिखा था कि आनृशंस्य की बात **महाभारत** में ही आई है, वहीं इस पर ध्यान दिया गया है, दूसरी जगह नहीं। पर यहाँ **मार्कण्डेय पुराण** में भी हम 'आनृशंस्य' का एक अर्थ-गहन प्रयोग देख रहे हैं। **पुराण** के इस प्रसंग में आनृशंस्य की राज्यकर्म और राजधर्म के आदर्श के रूप में भी धारणा प्रकट है। अब तक के प्रयोगों में आनृशंस्य का सम्बन्ध व्यष्टि के परार्थ भाव से ही बनता दिख रहा था। यक्ष प्रश्न के प्रसंग में तो स्पष्ट ही आनृशंस्य का संकेत व्यक्ति के निजी शील और आचरण की ओर था। '*स्व*' के परार्थ भाव की ओर था; किसी सार्वजनीन राष्ट्र-व्यवस्था की ओर नहीं, जैसा यहाँ **पुराण** में निकलता है : प्रजा राजा को आनृशंस्य की दुहाई देकर कह रही है कि राजा, तुम ही राज्य करो, क्योंकि राज्य का उचित संचालन आनृशंस्य की माँग करता है और तुम ही उसके योग्य हो। ध्वनि यह भी है कि विश्वामित्र अयोग्य हैं—कहीं की भी प्रजा उनके आचरण से आश्वस्त नहीं हो सकती।

यहाँ आनृशंस्य का राजकाज और समष्टि-धर्म की ओर जैसा इंगित उभरता है, क्षेमदर्शी राजा की कथा में भी नहीं उभरता, हालांकि वहाँ इसकी अपेक्षा रहती है। वह कथा भी राजा की, और राजा के रूप में उसके 'स्व'-धर्म की ही है, इसलिए भान हो सकता है कि वहाँ भी आनृशंस्य को व्यवस्था के आधार के रूप में देखा जा रहा होगा। पर ऐसा है नहीं। क्षेमदर्शी की कथा में प्रश्न राजा के निजी शील का ही

है। उसके अद्रोह का, निश्छल, निर्वैर मैत्री भाव का है, व्यवस्था के आधार का नहीं। हाँ, एक बात है, क्षेमदर्शी को उसके आनृशंस्य-भाव के कारण मंत्री बनाया जाता है, और इस रूप में उसका जो कर्म रहा होगा उसमें आनृशंस्य के व्यवस्था-रूप पर प्रकाश की हम अपेक्षा कर सकते हैं। पर उसकी ओर कथा में कोई इंगित नहीं है। हरिश्चन्द्र की कहानी में धर्म का व्यवस्था के साथ सम्बन्ध वहीं स्पष्ट है जहां राजा विश्वामित्र से अपने धर्म की बात करता है : आर्त्त को और ज्ञान के पुरुषार्थी को (ब्राह्मण का यही उचित अर्थ है), इनको दान; प्रजा की रक्षा—अर्थात् पालन और संरक्षण और साथ में न्याय, आततायी को दण्ड—ये व्यवस्था के ही आदर्श हैं, और आनृशंस्य-प्रेरित कहला सकते हैं। हरिश्चन्द्र की प्रजा जब राजा के आनृशंस्य की बात करती है तो सम्बन्ध सहज ही इन्हीं धर्मों से जुड़ता है। हम अपेक्षा कर सकते हैं कि मन्त्री के रूप में क्षेमदर्शी का भी यही आदर्श रहा होगा।

व्यवस्था के प्रसंग में आनृशंस्य का स्वरूप कैसे समझा जा सकता है, इसकी थोड़ी और चर्चा करता हूँ। यक्ष-प्रश्न में उल्लिखित आनृशंस्य की विवेचना करते हुए हमने आनृशंस्य के परार्थ भाव को 'वासना' की धारणा से जोड़ा था। और 'वासना' को मनुष्य के श्रेयस्-प्रेयस् मिश्रित लोक-सुलभ स्वभाव और लोक-सुलभ इच्छा-कामना-एषणा—या कहिए 'चाह' और 'साध'—के आधार पर आँका था। देश-काल-पात्र के साथ 'वासना' की परिधि में कुछ परिवर्तन की कल्पना की जा सकती है। फिर भी कुछ ऐसा है जिसे उस परिधि की नाभि या केन्द्र कह सकते हैं जो मनुष्य में स्वरूप-स्थित सा समझा जा सकता है। हमने यह भी कहा था कि युधिष्ठिर जब यह निर्णय लेते हैं कि माद्रीपुत्र को जिलायेंगे, कुन्तीपुत्र को नहीं, तो इस अध्यवसाय में उन्होंने 'वासना' पर ही अपने परार्थ-भाव की नींव रखी थी : मनुष्य चाहता है उसका वंश, उसकी सन्तति बनी रहे। युधिष्ठिर के समय, युधिष्ठिर जिस संस्कृति में थे उसमें, यह अभिलाषा सहज थी; आज भी विरल नहीं है। पर यहां यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में हमने 'वासना' को व्यक्ति-विशेष के परार्थ-भाव की तुला के रूप में देखा था। या यों कहिये कि आनृशंस्य में वहाँ व्यष्टि-साध्य भाव ही प्रधान था, राजधर्म का सत्य नहीं। उसे समष्टि-धर्म के रूप में हमने नहीं देखा था पर देखा जा सकता है। और मैं समझता हूं, वासना को ही तुला बना कर देखा जा सकता है। एक ग्रन्थि आगे आएगी जो यक्ष-प्रश्न की कहानी में दबी ही रह जाती है : एक शब्द में कहें तो ग्रन्थि है, 'दण्ड', जो व्यवस्था में अपेक्षित 'न्याय' की अनिवार्य सी अपेक्षा है। और रक्षा में अपेक्षित युद्ध के लिए तो नितांत ही अनिवार्य है। हम चर्चा कर भी चुके हैं कि आनृशंस्य में दण्ड के लिए तत्त्वतः कोई स्थान नहीं है।

हरिश्चन्द्र 'दण्ड' को अपने धर्म का अंग बताते हैं। वे जिन धर्मों की बात करते हैं उनमें धर्म-युद्ध भी इति-कर्त्तव्यता की श्रेणी में आता है। और यह स्वाभाविक ही

लगता है। अगर रक्षा करना राजा का धर्म है तो शत्रु से–या राजा के शब्दों में 'परिपन्थी' से–युद्ध करना रक्षा के अर्थ के अन्तर्गत ही है। कहानी में जब विश्वामित्र राजा को उसी के कहे गए धर्मों की याद दिलाते हैं तो 'परिपन्थी' की जगह 'आततायी' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'परिपन्थी' को अगर हम यों समझें–'वह जो उचित पन्थ के विरुद्ध जा रहा हो' तो अर्थ 'आततायी' का पर्याय हो जाता है। फिर भी 'आततायी' के अर्थ में एक व्यापकता है जो 'परिपन्थी' में उतनी स्फुट नहीं है। 'आततायी' बाहर का ही नहीं, भीतर का–राज्य के भीतर का–परिपन्थी भी हो सकता है। कोइ भी हो सकता है जो धर्म के पथ का परिपन्थी हो। जो धर्म के सत्य का जानबूझ कर भंग करे। जिनको 'ऋषि' 'मुनि' की संज्ञा दी जाती है वे भी आततायी हो सकते हैं। विश्वामित्र की ही बात लीजिये। दूसरों की भी कथा आती ही है।

धर्म का सम्बन्ध समष्टि से और व्यवस्था से जुड़े तो 'आततायी' जैसी किसी धारणा का विचार में आविर्भाव हो ही जाएगा। यह टेढ़ा प्रश्न बन जाएगा कि आततायी किसे कहें और उसके प्रति आचरण क्या हो? क्या परिपंथी ही आततायी होगा? हम देखते हैं कि हरिश्चन्द्र युद्ध को भी आनृशंस्य की कोटि में सम्मिलित कर लेते हैं। इसका आधार क्या? युधिष्ठिर के लिए युद्ध आपद्-धर्म था–जैसा कि हम देख चुके हैं। आनृशंस्य का मर्म अगर अहिंसा है तो युद्ध का इसमें समावेश विषम ही लगता है–फिर भी उसे आपद्धर्म कह कर अपवाद के रूप में आनृशंस्य के 'साथ' रख लिया जा सकता है; यों वह धर्म नहीं होते हुए भी धर्म का आगन्तुक सा अंग हो जाएगा। पर हम इसे अनागन्तुक–स्वरूप-निष्ठ बनाने की भी चेष्टा कर सकते हैं। आनृशंस्य अगर व्यवस्था का आधार हो तो प्रजा का क्षेम और उस क्षेम की रक्षा भी धर्म की परिधि में आनी चाहिए–इसे आनृशंस्य का प्रभव-पक्ष कह सकते हैं। और ऐसा हो तो 'कंटक शोधन' भी आनृशंस्य की परिधि में आएगा ही–समाज-कंटकों को दूर करना क्षेम-रक्षा का अनिवार्य अंग बनता है। परिपन्थी से युद्ध भी आवश्यक होगा, क्योंकि बात व्यक्ति के शील की नहीं, समष्टि की सुरक्षा की है। पर फिर हम आनृशंस्य की परिधि को कितना बड़ा होने देंगे? अवध की कहीं तो मर्यादा रखेंगे कि अब बात आनृशंस्य की नहीं रही! तभी कृष्ण युद्ध को अवध और प्रभव से अलग एक भिन्न धर्म की श्रेणी में रखते हैं : उसे 'सत्य' कहते हैं, जो ठीक ही लगता है। आनृशंस्य की पंगत में युद्ध को बिठाना संगत नहीं ठहर सकता।

इस सारी चर्चा में हमारा मूल प्रश्न धर्म के अन्तर्गत स्थित विरोध का है। यह युद्ध में साफ झलक आता है, फिर युद्ध को चाहे हम खींचतान कर आनृशंस्य में रखें या नहीं रखें। आनृशंस्य के हृदय में जो अहिंसा, जो मैत्री, करुणा आदि का परार्थ और समरस परस्पर-भाव की प्रेरणा है वह 'आततायी', 'कंटक' और 'युद्ध' जैसी धारणाओं से व्याहत होती ही है। धर्म के बीच 'दण्ड' आ पैठता है जो धर्म के सहज

आदर्श का परिपन्थी जान पड़ता है। 'परिपन्थी' की धारणा के साथ ही न्याय या सत्य की बात उठती है, और सत्य के साथ युद्ध, दण्ड—और एक सदा-सालती पीड़ा परस्पर-भाव के प्राण में आ समाती है। राजा के लिए बाहर के शत्रु मात्र को 'परिपन्थी' मानना आवश्यक हो जाता है—बात 'आततायी' पर नहीं ठहरी रह सकती। 'आततायी' को दण्ड धर्म्य ही लगता है। पर समष्टियों के लिए—राष्ट्रों के लिए कहना चाहिए—शत्रु मात्र में और आततायी में भेद करना सचमुच भेद करने की बात नहीं हो सकती। उनके लिए यह भेद एक अवान्तर सी बात होती है—युद्ध तो उन्हें करना ही होता है, धर्मयुद्ध तो कम ही होते हैं। और धर्मयुद्ध में हर परिपंथी योद्धा को आततायी तो नहीं कहा जा सकता! ठीक है कि राष्ट्र युद्ध से कतराते भी हैं, उससे बचने की चेष्टा भी करते हैं, तो भी एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति आचरण साम-दान-दण्ड-भेद का ही होता है, यह कपट-व्यवहार है या बनिया-बुद्धि, आनृशंस्य के सद्भाव से कहीं दूर। या आनृशंस्य वहाँ बिल्कुल गौण हो जाता है। धर्म की विडम्बना ही यह है कि इसके सिवा कोई चारा नहीं दीखता। न पहले था, न आज है। धर्म का कंटक धर्म के स्पन्द में ही बसा लगता है।

पर फिर कहानी पर आता हूँ। मैंने कहा था कि आततायी ऋषि-मुनि भी हो सकते हैं। विश्वामित्र जिस रूप में यहाँ आए हैं, उन्हें हम क्या कहेंगे? अगर आततायी वह है जो जान-बूझकर धर्म का परिपन्थी बने तो आततायी का बड़ा ही विकट रूप विश्वामित्र में दिखता है; विश्वामित्र को परम या महा आततायी तक कह सकते हैं। कहानी के विश्वामित्र परस्पर-भाव के सजग-सतर्क शत्रु हैं, बड़े नीति कुशल आततायी हैं, जो भाव उन्हें भयंकर ही नहीं बीभत्स बना देता है। लगता है वे धर्म का ही विरोध करना चाहते हैं। हरिश्चन्द्र अपने जिस धर्म की बात करते हैं, विश्वामित्र उस धर्म के धर्म-विभाग में बैठे विरोध को देखते हैं और उसे ही राजा के सर्वनाश का उपाय बना लेते हैं। वे राजा पर ही नहीं, धर्म-बोध के ही मर्म पर प्रहार करते हैं। पर राजा अपने धर्म में अडिग रहे, विश्वामित्र को उन्होंने ऋषि ही माना आततायी नहीं, वरना कहानी कुछ और ही होती। पर यह भी सोचिये, धर्म का मूल अगर परस्पर-भाव में है, मनुष्य-मनुष्य के ऐक्य और अभेद में है तो धर्मशील की दृष्टि में आततायी उभरेगा ही कैसे? धर्मशील के निष्कपट स्वभाव में कपट की पहचान का क्या आधार होगा? पर कपट का बोध हममें सहज होता है, निष्कपट-भाव ही साध्य होता है। हाँ, हरिश्चन्द्र जैसे कुछ विरल ऐसे भी होते हैं जो मानो भीतर से ही, जन्म से ही, कपट-हीन होते हैं। पर निष्कपट होना और निष्कपट-भाव से कपट का सामना करना ये दो अलग बातें हैं।

धर्मशीलों को हम शायद दो कोटियों में रख सकते हैं : एक वे जो आमूल-चूल निष्कपट होते हैं। ऋजु, सहज धर्मशील। उनका सद्भाव जैसे कपट देखता ही नहीं। दूसरे वे जो कपट देख कर कपट का विरोध करते हैं। राज्य करने वाला दूसरी कोटि

का ही होना चाहिए। पर हरिश्चन्द्र पहली में थे। दूसरी में कृष्ण आते हैं। कपट-विरोध के लिए शठे शाठ्यमाचरेत् आवश्यक नहीं, धर्म्य विरोध भी हो ही सकता है।

कहानी का अन्त बड़ा करुण है। हमारे यहाँ धर्म को मनुष्य का मनुष्यत्व भी कहा गया है। कहानी में यही विभीषिका के रूप में उभरता है। अपने धर्म-प्रण को निभाने में हरिश्चन्द्र को ऐसे जीवन-यापन के गर्त में धँसना पड़ता है कि वे अपना मनुष्यत्व ही खोने लग जाते हैं—आत्म-स्मृति खो कर आत्मस्थता ही बिसार बैठते हैं। कहानी के लगभग अन्त में धर्मप्राण हरिश्चन्द्र कुछ आत्मस्थ होते हैं और अपने आप को देखते हैं तो अपने अमानुषी बीभत्स-भाव के बोध से बिल्कुल टूट जाते हैं। अपने आप को मनुष्य के रूप में पहचान ही नहीं पाते। जिस धर्म के लिए अपने आप को समर्पित किया, दुश्चर चरित अपनाया, वह धर्म ही उनके मनुष्यत्व का कुठार बन गया था।

राजा ने स्त्री-पुत्र को बेचा। स्त्री शैव्या को आशा थी कि राजा उसका मूल्य चुका कर शीघ्र छुड़ा ले जायेंगे। उधर विश्वामित्र की दी हुई अवधि बीतने वाली थी, आधा ही दिन बचा था। राजा कहाँ से धन लाते? ऐसा भी कोई नहीं था जो उनका क्रय करता। तभी एक चाण्डाल आया। कहानी में है कि धर्म स्वयं चाण्डाल बन कर आए। उन्होंने कहा, वे राजा को वेतन पर रखना चाहते हैं। राजा चण्डाल के नौकर होकर घिनौना काम नहीं करना चाहते थे। कहाँ सुदीप्त सूर्यवंश कहाँ चण्डाल हो कर शवों के बीच चाकरी! पर विश्वामित्र वहीं आ गए थे। आगे हो गए कि ये तुम्हें पैसे दे रहा है और तुम ले नहीं रहे हो, दक्षिणा कहाँ से दोगे? राजा ने समर्पण भाव से कहा, आपका ही दास बन जाता हूँ, आप जो चाहें मुझसे बर्ताव करें। विश्वामित्र और भी निर्दय होकर बोले, "तुम मेरे हो तो मैं ही तुम्हें इस चण्डाल को बेचता हूँ।"

राजा श्मशानवासी हो गए। कई दिनों तक स्त्री-पुत्र के लिए आर्त्त और आतुर रहे। फिर धीरे-धीरे श्मशान के घोर वातावरण में 'हा पिता', 'हा पुत्र' जैसे द्रवित क्रन्दन क्षण-क्षण सुनते-सुनते निष्करुण हो गए। भावना ही जैसे दग्ध हो गई। रीत गई। उनकी पूर्व स्थिति, उनका पूर्व का आत्मबोध, सपने की बात हो गई। कहानी में उनके एक सपने का व्यंजक वर्णन भी है, जो उनकी स्थिति के भयंकर रूप को प्रकट करता है। मूल यहाँ नहीं दूंगा, सहृदय पाठक की जिज्ञासा पर छोड़ देता हूँ। पर सपना कहानी में इस बात का भी प्रतीक है कि हरिश्चन्द्र का 'आपा' भी सपना होता जा रहा था। सपना राजा को चौका देता है। उठ कर राजा धर्म को प्रणाम करते हैं। स्त्री-पुत्र की मंगल-कामना करते हैं। एक बार जैसे उनका आपा लौट आता है। वे आत्मस्थ हो जाते हैं।

पर फिर शवों का मूल्य ग्रहण करने में लिप्त हो जाते हैं। नष्ट-स्मृति हो जाते हैं। स्त्री-पुत्र मन से विलीन हो जाते हैं। फिर एक दिन शैव्या अपने सर्प-दष्ट मृत पुत्र को

लेकर श्मशान में आती है। राजा उसे पहचान भी नहीं पाते। बदल सी गई थी। दु:ख से बुझ गई थी, चिर प्रवास से मलिन। रानी ने भी राजा को नहीं पहचाना : हरा-भरा पेड़ ठूंठ हो गया था : *नाप्यजानन्नृपसुता शुष्कवृक्षोपमं नृपम्*।

पर मृत बालक को देखकर राजा को अपने पुत्र की याद आई। सोचने लगे, वह भी आज इतना ही बड़ा होता। तभी राजपत्नी पुरानी बातें दुहराने लगीं और रोने लगीं–कैसे राजा ने उन्हें बेचा, फिर अपने आपको बेचा। रानी मर्यादाहीन दैव की भर्त्सना करने लगी।

राजा की स्मृति जाग उठी। उन्होंने स्त्री-पुत्र को पहचाना। पर स्मृति लौटी तो स्मृति ने विह्वल कर दिया। तोड़ दिया। राजा बेसंभाल हो गए। शैव्या ने विलाप के स्वर में राजा से कहा, 'क्या यह सब कुछ सत्य है या स्वप्न? यह सच है तो तुम धर्मज्ञ हो, बताओ, अगर यही धर्म है तो धर्म कोई सहारा नहीं है, क्या धारण करता है धर्म? धर्म का पालन व्यर्थ है; सत्य, आर्जव, आनृशंस्य सब खोखले हैं। जब धर्मात्मा होते हुए तुम्हारी यह दशा है तो धर्म का धारण क्या? मूल के श्लोक भी स्मरणीय हैं। दे रहा हूँ : "*राजपत्न्युवाच : राजन्स्वप्नोऽथ तथ्यं वा यदेतन्मन्यते भवान्। तत्कथ्यतां महाभाग मनो वै मुह्यते मम॥ यद्येतदेवं धर्मज्ञ नास्ति धर्मे सहायता। तथैव विप्रदेवादि पूजने पालने भुव:॥ नास्ति धर्म कुत: सत्यमार्जवं चानृशंसता। यत्र त्वं धर्मपरम: स्वराज्यादवरोपित:॥*" (**मार्कण्डेय पुराण**, वेंकटेश्वर प्रेस, अध्याय आठ, श्लोक 217-219)

सहिष्णु राजा से भी और सहा नहीं गया। उन्होंने दारुण अधर्ममय निर्णय लिया कि आत्महत्या करेंगे। शैव्या से बोले, 'जानता हूँ, चण्डाल से पूछे बिना मुझे मरना नहीं चाहिए, और यों भी आत्महत्या से नरक यातना का भागी हूँगा, पर अब दु:ख सहा नहीं जाता : "*नार्त्तिना क्लिष्टो नर: पापमवेक्ष्यते*।–आर्त्ति के घोर क्लेश से घिरा आदमी पुण्य-पाप नहीं देखता–बस तुम मुझे क्षमा कर देना।" शैव्या ने भी आत्महत्या की ही ठानी।

दोनों चिता पर बैठने लगे तो धर्म और दूसरे देवता आ पहुँचे। राजा की तितिक्षा पर पुष्प-वर्षा हुई। जो त्रिलोक में किसी को मित्र नहीं बना सके वे विश्वामित्र भी उनकी मैत्री चाहते हुए आए–*विश्वत्रयेण यो मित्रं कर्तुं वै नाशकत्पुरा। विश्वामित्रस्तु ते मैत्रीमिष्टं चाहर्तुमिच्छति* ॥ राजा मान जाते हैं। आश्वस्त हो जाते हैं।

पर कहानी का अन्त आहार्य सा लगता है। ऊपर से थोपा हुआ। नकली। हमारी परम्परा ऋत को धोखा या छलावा नहीं मान सकती थी। ग्रीक ट्रेजेडी में ऐसा हो सकता था : दैव की अनृतमयी गति उभर सकती थी। पर हमारे यहाँ नहीं। हरिश्चन्द्र के जिस सपने की बात ऊपर कह आया हूँ उसमें भी कुछ ऐसा अभिप्राय है कि राजा जो कुछ भोग रहे थे, उनके अपने ही किसी पूर्वजन्म के किए का फल था।

पर इससे कहानी की विभीषिका, उसका बीभत्स, रौद्र-भयानक भाव घट नहीं जाता। यह भी स्पष्ट है कि कहानी धर्म के ही मर्मघाती अन्तर्व्याघात की कहानी है, जैसा कि शैव्या ने कहानी में ही खोल कर कह दिया है।

कहानी पर कुछ प्रश्न हमने उठाये थे और भी उठ सकते हैं। पर उठाऊँगा नहीं। फिर भी एक प्रश्न से अपनी बात आगे बढ़ाता हूँ। हरिश्चन्द्र महा तितिक्षु थे। वे धर्मप्राण ही नहीं, धर्म-भीरु भी लगते हैं। जो धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता है उसी ने उन्हें अमानुष की स्थिति में ला खड़ा किया। फिर भी हरिश्चन्द्र ने अपना आनृशंस्य-भाव नहीं छोड़ा। उन्हें देवताओं ने स्वर्ग का निमन्त्रण दिया तो बोले कि मैं अपनी प्रजा के बिना किसी उत्तम गति को नहीं पाना चाहता, मुझे स्वर्ग दें तो मेरी प्रजा मेरे साथ होगी।

बड़प्पन की बात थी। पर एक और स्थिति की कल्पना कीजिए। पुराणकार ऐसी कल्पना नहीं कर सकता था, पर हम तो कर सकते हैं! मान लीजिए कि हरिश्चन्द्र देवताओं से न्याय की माँग करते, कहते कि मुझे स्वर्ग नहीं न्याय चाहिए। विश्वामित्र ने क्या मेरे साथ अन्याय नहीं किया? आप विचार कीजिए। देवता क्या विचार करते? और अगर हम यह कहें कि देवता धर्म-विचार नहीं कर सकते, यह काम मनुष्य का है, तो वहाँ ऋषि भी उपस्थित थे। वे तो विचार कर ही सकते थे।

बल्कि यों कहना चाहिए कि ऋषि ही क्या कोई भी धर्मशील यहां न्याय-अन्याय–धर्म के सत्य-असत्य–विचार से इनकार नहीं कर सकता। हमने ऊपर दायित्व-बोध की बात की थी। कोई न्याय माँगे तो क्या न्याय करना दायित्व नहीं बनता? और ऋषि तो यह भी नहीं कह सकते थे कि वे इसके 'अधिकारी' नहीं हैं। दायित्व उठाने के 'योग्य' नहीं हैं।

व्यवस्था का मर्म है न्याय। न्याय एक बोध भी है। न्याय-बोध को मैं समझता हूँ यों आँका जा सकता है कि दायित्व-बोध को एक सोपान और ऊपर ले चलें। प्रण-पालन, वचन रखना ये दायित्व हैं। न्याय दायित्व-बोध की परीक्षा है। दायित्व-बोध को परखने-सँभालने का दायित्व है। किसी अर्थ में हम विश्वामित्र को भी हरिश्चन्द्र के दायित्व का परीक्षक कह सकते हैं। पर उनके किए को न्याय-परीक्षा का दायित्व के साथ निभाव शायद ही कह सकें। ऐसी आततायी मनोवृत्ति से, द्रोह-भाव से न्याय-परीक्षा की बात समझ में नहीं आती। फिर यह भी है कि न्याय की परीक्षा एक की नहीं अनेक की अपेक्षा रखती है। दो या दो से अधिक के बीच न्याय किया जाता है। दोनों में किसने अपना दायित्व भंग किया, यह परीक्षा की जाती है। तभी प्रकट ही न्याय किसी न्याय-व्यवस्था का अपेक्षी होता है। ऐसी व्यवस्था जिसमें परस्पर-भाव हो, स्वतन्त्र, विवेक-निष्ठ, 'आत्मस्थ' परस्पर-भाव हो। नहीं तो न्याय की धरती ही नहीं बनेगी। या यों कहें कि न्याय आनृशंस्य की नींव चाहता है।

पर न्याय के साथ आनृशंस्य-घातक दण्ड भी स्वयम्भू सा आ खड़ा होता है। जो दायित्व से चूके वह दण्ड का अधिकारी हो जाता है, चाहे दण्ड का स्वरूप कुछ भी हो–कितना ही आनृशंस्य-स्निग्ध हो। या प्रायश्चित्त ही हो, और यों एक तरह का स्वदण्ड–जो चूका है वही अपने को सँभाले। पर प्रायश्चित्त भर से न्याय की माँग पूरी भी नहीं होती। काहे से पूरी होगी, इसमें धर्म-संकट ही सिर उठाता रहता है। अपराधी प्रायश्चित्त भी करे तो क्या जिसके प्रति अपराध किया गया उसको न्याय मिल जाता है? ठीक है, अपराध का पात्र क्षमा कर सकता है, पर क्षमा न्याय का मर्म नहीं हो सकती है।

हम पाते हैं कि न्याय में धर्म के अनैक्य में निहित परस्पर-भाव से प्रतीप परस्पर-भेद-पक्ष महत्त्व का होता है। परस्पर-भेद ही न्याय की धरती है। जो भी न्याय-व्यवस्था के मण्डल में आते हैं उनमें एक-एक को अलग, समान और स्वतंत्र मानना अनिवार्य है। इस ऊह के बिना न्याय की धारणा सम्भव नहीं। यहां न्याय के भीतर ही एक न्याय-बोध-निष्ठ संकट भी उभरता है। एक-एक को अलग, समान और स्वतंत्र किसी समष्टिगत विधि-विधान की व्यवस्था के भीतर ही रखा जा सकता है। ऐसी व्यवस्थाएं समाज के कई स्तरों पर कई रूप लेती हैं, पर ये राज्य-व्यवस्था में अपना केन्द्र पाती हैं। न्याय की किसी भी व्यवस्था में मनुष्य मनुष्य के बीच सत्ता या प्रभुत्व के तारतम्य से, असमानता से भी नहीं बचा जा सकता। एक अनिवार्य, न्याय के स्वरूप में ही बसी असमानता तो न्याय करने वाले और जिनका न्याय किया जाता है उनके बीच ही निहित है। यहां संकट यह भी है कि न्याय करने वाले और न्याय के पात्र दोनों एक गहरे अर्थ में *समान* होते हैं–दोनों मनुष्य होते हैं; मनुष्य-सुलभ राग-द्वेष. अधर्म-अन्याय के भागी, जब कि न्याय की मांग विचित्र है : यह कि न्याय-कर्त्ता मनुष्य भी हो पर न्याय के पात्रों से ऊपर भी हो; निष्पक्ष, वीतराग हो, पर साथ ही मनुष्य की वासना का बोध रखता हो, उससे वासित हो। हम मनुष्येतर, किसी लोकोत्तर न्याय-कर्त्ता की कल्पना करें तो काम की नहीं होगी। क्योंकि अगर न्याय-कर्त्ता मनुष्य न हो तो मनुष्य की 'वासना' को समझे बिना मनुष्य का आनृशंस्य-सम्मत न्याय करेगा ही कैसे? अमनुष्य यहां अधिकारी ठहराया ही नहीं जा सकता।

और समानता को लीजिये। न्याय में समानता ऊह्य है। पर मनुष्य समान होता कहां है? समान होगा तो मनुष्य भी नहीं होगा, यन्त्र का बना पुतला हो सकता है। समानता की धारणा तो बल्कि न्याय की धारणा से ही आक्षिप्त होती है। हां, स्वतन्त्रता भी आवश्यक है, पर हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता तो धर्म मात्र के लिए आवश्यक है, चाहे धर्म का भाव पक्ष हो या दायित्व पक्ष, जिससे कि न्याय-बोध उभरता है। पर न आनृशंस्य के लिए, न दायित्व मात्र के लिए समानता का होना आवश्यक है–किन्हीं दो के बीच न्याय की बात हो तभी दायित्व के अतिरिक्त जिनके बीच न्याय करना है उनकी समानता की स्वीकृति आवश्यक होती है। दूसरे धर्मों के

लिए *समानता* का होना आवश्यक नहीं है। न्याय में है। न्याय की धारणा एक ओर स्वरूप से ही समानता की अपेक्षा रखती है—न्याय के *पात्रों* के बीच समानता; और दूसरी ओर न्याय-*कर्त्ता* को इनसे ऊपर रखती है। हम आज स्वतन्त्रता और समानता को एक-सी दृष्टि से देखने के आदी से हो गए हैं। पर धर्म की धरती पर दोनों का स्थान समान नहीं है। दोनों में स्पष्ट भेद है। स्वतन्त्रता साध्य होती है—यह हर एक व्यष्टि के लिए एक साधना है। पर समानता उस तरह *साध्य* नहीं हो सकती, किसी अन्तरङ्ग साधना-व्यापार का हेतु नहीं हो सकती। समानता की साधना क्या साधेगी? इसके साध्य होने का अर्थ ही क्या होगा? यह कैसा पुरुषार्थ बनेगा? साधना व्यष्टि की ही हो सकती है, जब कि समानता समष्टिगत होती है—इसे समष्टि की व्यवस्था-गत साधना कहें तो कह सकते हैं। पर फिर व्यष्टि की साधना इससे विपरीत जाती भी दिखेगी। व्यष्टि की कोई भी निजी साधना उसके और समष्टि के बीच अन्तराल ही साधती है। स्वतन्त्रता को ही लीजिये। स्वतन्त्रता साध्य है तो उसमें तारतम्य भी स्वाभाविक है। सब समान रूप से स्वतन्त्र नहीं हो सकते, क्योंकि सब समान साधक नहीं हो सकते। और यों भी मनुष्य-रूपेण मनुष्य समान कहां होता है? न्याय में सब समान *होते* नहीं, समान सब को *मानना* होता है—व्यवस्था के प्रसंग में, क्योंकि न्याय के बिना व्यवस्था भी नहीं हो सकती। समानता *होती* नहीं है, सब को *दी जाती* है। और इस दिए जाने में भी तारतम्य ले ही आना पड़ता है—व्यवस्था के संचालन के लिए ही नहीं, कई कारणों से ले आना पड़ता है। एक बड़ा तारतम्य स्वतन्त्रता का ही होता है- यहां स्वतन्त्रता के अर्थ में विवेक-बोध, दायित्व-बोध भी सम्मिलित है। पशु को इसीलिए मनुष्य के 'समान' नहीं रखा जाता और शिशु को वयस्क के समान, क्योंकि वे स्वतन्त्र नहीं होते—उनमें दायित्व-बोध नहीं होता। स्त्री को और अन्यों को भी जो 'असमान' रखा जाता रहा है, इसी कारण कि उनमें स्वातन्त्र्य को क्षीण माना जाता रहा है। पर जो स्वतन्त्र नहीं है वह फिर पूरी तरह न्याय के घेरे में आ भी नहीं सकता। विशुद्ध न्याय-बोध तो पूर्ण समानता-बोध के साथ पूर्ण स्वातन्त्र्य और दायित्व-बोध भी चाहता है : जो भी कोई न्याय-व्यापार के घेरे में आता है, न्याय-तत्त्व की दृष्टि से दूसरों के बिल्कुल समान ही ठहरना चाहिए, समान *उत्तरदायी* ठहरना चाहिए—पर विडम्बना यह है कि ऐसी समानता न होती है, न साधी जाती है, न दी जा सकती है। स्वतन्त्रता के *देने* का तो प्रश्न ही नहीं उठता! व्यवहार में काँट-छाँट, ऊँच-नींच जरूरी ही नहीं अनिवार्य हो जाती है; किसी को हलका किसी को भारी रखना पड़ जाता है। पर यह न्याय का विशुद्ध रूप नहीं हो सकता है; यह न्याय का स्वरूप-संकट ही है और इसकी शिकायत भी हम में सनातन है।

न्याय के स्वरूप-संकट कई हैं। एक गहरा संकट यह भी है कि न्याय समष्टि की बात होते हुए भी किसी *एक* समष्टि के भीतर ही हो सकता है—भिन्न समष्टियों के बीच नहीं हो सकता—भिन्न समष्टियों के बीच सम्बन्धों में सत्ता ही प्रधान होती है, समानता नहीं। न्याय यहां ठीक काम नहीं करता, आनृशंस्य जितना करे तो करे।

आनृशंस्य का घेर न्याय से बड़ा है। न्याय की मांग उभरती ही आनृशंस्य के परस्पर-भाव से है। पर यह न्याय की एक विडम्बना ही है कि आनृशंस्य में निहित जो परस्पर-भाव मनुष्य को न्याय की ओर प्रेरित करता है वही परस्पर-भाव न्याय में आकर जब समानता की बात करता है तब परस्पर-भाव में निष्ठ परस्पर अभेद भी एक एक के भेद में बँट जाता है—फिर चाहे उस एक एक को 'समान' ही क्यों न मानें! न्याय का उद्देश्य अगर परस्पर-भाव को बनाए रखना है—और दूसरा उद्देश्य हो भी क्या सकता है?—तो वह स्वरूप से ही पारस्पर्य-प्रतीप भी लगता है।

हम देख चुके हैं कि न्याय जहाँ समानता की अपेक्षा रखता है वहीं—न्याय-व्यापार के भीतर ही—वह एक मूलभूत असमानता को पाले बिना भी सम्भव नहीं होता : न्याय-कर्त्ता और न्याय-पात्र—या न्याय-*प्रार्थी* कह सकते हैं—ये समान नहीं हो सकते। आप कह सकते हैं कि ये अपने व्यापार में ही असमान होते हैं, तत्त्व में नहीं। आज का न्याय करने वाला कल न्याय-प्रार्थी हो सकता है। बात एक तरह से तो ठीक है, पर एक अन्तर यहां न्याय के तत्त्व में ही निहित जान पड़ता है। हटाया नहीं जा सकता। तत्त्वत: न्याय-प्रार्थी स्वातन्त्र्य का साधक माना जाता है—दो प्रार्थियों के बीच स्वातन्त्र्य का तारतम्य ही न्याय का आधार बनता है। क्योंकि स्वातन्त्र्य का एक तात्पर्य यह भी ठहरता है कि जो सचमुच स्वतन्त्र होगा, परार्थ-भाव में भी पूरा स्थित होगा; अन्याय नहीं करेगा। अन्याय स्वार्थ की बात है। तभी तो सत् या कृत-युग में न्याय की बात ही नहीं उठती। पर न्यायकर्त्ता स्वातन्त्र्य के इस तारतम्य का भागी नहीं माना जा सकता, चाहे वास्तव में होता हो। उसके सम्बन्ध में प्रश्न स्वातन्त्र्य की *साधना* का नहीं होता। उसे तारतम्य की सीढ़ियों से अलग सच्चे स्वातन्त्र्य में बिठाकर ही न्याय की बात बनती है।

न्याय को धर्म का धर्मसंकट ही नहीं मर्मसंकट भी कह सकते हैं। क्योंकि न्याय के बिना भी मनुष्य की रहनी संभव नहीं—न्याय राजधर्म का सार है और राजधर्म के बिना दूसरे धर्मों का भी 'धारण' नहीं होता। इसी पर **महाभारत** का एक मार्मिक प्रसंग है।

युद्ध जीतने के बाद युधिष्ठिर राज्य नहीं सँभालना चाहते। भीष्म से पूछते हैं, यह राजा कैसा जीव है? राजा की सत्ता, उसकी स्थिति, उसका 'होना' ही युधिष्ठिर को बड़ा अनहोना, विषम विरोध भरा, दिखाई देता है। और औचित्य की कसौटी पर खोखला। भीष्म से कहते हैं : लोग राजा राजा, कहते हैं, यह 'राजा' है क्या? हुआ कैसे? जैसे और लोग होते हैं वैसा ही तो होता है। वैसे ही हाथ-पाँव, वैसे ही मन-बुद्धि, वैसा ही सुख-दु:ख का भागी, वैसा ही जीवन-मरण, फिर सब पर राज कैसे करता है? न्यायधारी-दण्डधारी कैसे होता है? इसके बाद ही भीष्म धर्म के आद्य, कृत-युगीन परस्पर-भाव की बात करते हैं, और उसमें 'खेद' के (मोह के, विवेक की अस्वतन्त्र सुप्तता) के आ जाने से न्याय, न्यायकर्त्ता राजा और दण्ड के आविर्भाव

की वह कहानी सुनाते हैं जिसकी चर्चा हो चुकी है। पर साथ ही यह भी कहते हैं कि राजा और राज्य के बिना मनुष्य किसी पुरुषार्थ का साधक नहीं हो सकता; दूसरे धर्म, मनुष्य की सभी साधनायें, राजधर्म पर और न्यायकर्त्ता राजा पर टिकी हैं।

युधिष्ठिर की तरह हमें भी न्यायकर्त्ता के रूप में राजा की सत्ता विचित्र ही लगती है कि वह औरों जैसा होता हुआ भी औरों से ऊपर होता है; औरों पर प्रभुत्व रखता है। पर तत्त्व यहां यह है कि वह व्यष्टि होता हुआ भी समष्टि होता है, और तभी उसमें एक विशेष समष्टि-समर्पित व्यक्तित्व की अपेक्षा भी होती है। मनुष्य ने ऐसी व्यवस्थायें साधने की चेष्टा की है जहाँ समष्टि सचमुच ही राजा हो जाए—राजा नाम का व्यक्ति-विशेष रहे ही नहीं, राज्य-कर्म का व्यष्टि से सम्बन्ध ही मिट जाए। लोक-तन्त्र यही साधना है। इसी के आनुषंगिक रूप में राज्य के ऐसे भी स्वरूप की आज साधना है कि राज्य संस्था-प्राण हो जाए, और संस्था नियम-प्राण : चलाने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के भाव की—चाहे सद्भाव हो या दुर्भाव—ऐसे व्यक्ति-निष्ठ भावबोध की उसमें जगह ही न रहे। अपनी शब्दावलि में हम इस चेष्टा का विवरण दें तो कह सकते हैं कि यह चेष्टा धर्म के सत्य या दायित्व पक्ष को धर्म के भाव पक्ष से विलग कर देने की चेष्टा है। पर मनुष्य की कोई भी व्यवस्था हो, चलाते व्यक्ति ही हैं, और चलाई व्यक्तियों के लिए ही जाती है, भाव-सम्बन्ध मिट नहीं सकता, और भाव व्यक्ति-निष्ठ ही होता है। नियम में नहीं ढल सकता। भाव-सम्बन्ध को संस्था के भाव-मुक्त नियम-जाल में उतारने की चेष्टा में यह भी हो जाता है कि व्यष्टि के दुर्भाव को नियम की आड़ में खुल खेलने का मौका मिल जाता है। युधिष्ठिर ने जिस विडम्बना की बात की है वह भेस बदल लेती है, मिटती नहीं है।

पर एक और बात इस ऊपर की विवेचना से प्रकट है। हमने कहा था कि समानता साध्य नहीं होती, वह न्याय की धारणा की अनिवार्य आवश्यकता है, इस धारणा या बोध के द्वारा ही आक्षिप्त होती है। पर यहाँ राजा की और समष्टि की चर्चा में यह भी उभर कर आ रहा है कि न्याय व्यक्ति द्वारा न सही राजा द्वारा तो *साध्य* होता है। आदर्श राज्य सबको समान मान कर चलता ही नहीं, सबको समान *मानते रहने* की साधना करता है—*बनाने* की भी साधना करता है। राज्य के रूप में समष्टि समानता साधती है। कई इतिहासकारों ने तो मनुष्य की इतिहास-यात्रा की सार्थकता ही इसमें देखी है कि मनुष्य समानता साध रहा है। ऐसे भी हैं जो लोकतन्त्र की विश्व-विजय में इस यात्रा का अन्त देखते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विजय हो चुकी है।

उनकी भ्रान्ति की यहाँ समीक्षा नहीं करूँगा। पर एक प्रश्न छेड़ता चलता हूँ : मैंने कहा कि समानता की माँग न्याय-व्यवस्था की माँग है और न्याय-व्यापार धर्म का ऐसा व्यापार है जो भाव से वियुक्त हो जाने की भी साधना करता है। ऐसी व्यवस्था की साधना करता है जहाँ व्यवस्था ही न्यायमय हो जाए। व्यष्टि से स्वतन्त्र।

पर समानता अगर ऊह्य या आक्षिप्य ही नहीं साध्य भी है, चाहे समष्टि की ही साध्य सही, तो क्या आनृशंस्य जैसे किसी भाव के बिना यह सार्थक हो सकती है? सध भी सकती है? एक मनुष्य-निहित परस्पर-भाव के बिना व्यवहार की वह धरती ही कहां खड़ी हो सकती है जिस पर हम न्याय साधते हैं! भाव में ही उस धरती का खरापन है। मैत्री आदि भावों को अगर कहें 'ये व्यक्ति-निष्ठ व्यापार हैं' तो फिर साथ ही यह नहीं कह सकते कि 'समष्टि समानता की साधना में आगे बढ़ना साध्य समझती है'—व्यक्ति को हटा कर इसका क्या अर्थ होगा? हम अर्थ लगाना चाहें तो एक मानव-व्यापी समष्टिगत आदर्श की कल्पना सामने आती है। यह कि मानव-चेतना ही कृत-युग की चेतना में ढल जाए—विशुद्ध परस्पर-भाव के परम निःश्रेयस् की स्थापना हो जाए, जहाँ असमानता की बात ही निरर्थक हो; जहाँ परस्पर-भाव के निभाव के लिए राजा की, दण्ड के किसी भी विधि-विधान की —न्याय-व्यवस्था की—आवश्यकता ही न हो। पर कोई ऐसा आदर्श है तो समानता की साधना क्या व्यवस्था-विशेष की साधना होगी या व्यवस्था-मुक्ति की? या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यह ऐसी व्यवस्था की साधना होगी जो अ-पृथक्-प्रयास सिद्ध हो, अन्तरंग हो, जिसके लिए दण्ड, कानून जैसे बहिरंग प्रयत्न की आवश्यकता हो ही नहीं। अर्थात् ऐसी व्यवस्था हो जो व्यवस्था ही न हो। इस साधना को हम व्यवस्था ही के माध्यम से की गई साधना मानें तो फिर यह भी मानना होगा कि व्यवस्था एक सीढ़ी है जो धर्म के परम परस्पर-भाव की भूमि पर हमें चढ़ा कर विलीन हो जाएगी। बेकार हो जाएगी। जैसा कि मार्क्स मानते थे। या मोक्ष-साधना में जैसे माना जाता है कि साधना का अपना फल्गु मिथ्यारूप प्रयास भी ब्रह्म के परमार्थ में अपना रूप त्याग कर विलीन हो जाता है।

पर यह ऊह मैं विचार को इस दिशा में आगे बढ़ाने के लिए यहाँ नहीं रख रहा हूँ। चेष्टा कुछ ऐसी मान्यताओं की ग्रन्थि देखने की कर रहा हूँ जिन्हें आज के कुछ चिन्तकों का धर्मबोध सहज निर्ग्रन्थ विश्वास का विषय मानता है : बहिरंग व्यवस्था से अन्तरंग परस्पर-भाव की सिद्धि—इसे ही श्रेयस् का, प्रभव का, मार्ग समझता है। समझता है कि धर्म की साधना राज्य-प्राण है, और उसका सार विधि-विधान की सम्यक् व्यवस्था है। व्यक्ति का, व्यक्ति की भाव-साधना का इससे कोई सम्बन्ध नहीं।

ठीक भी है कि न्याय एक आधारगत अर्थ में समष्टि-साध्य होता है और उसकी प्रवृत्ति विधि-विधान में ही रूप लेने की होती है। यों समानता कानून की बात हो जाती है : एक एक के अलग अलग पालने की, भेद की, और भेद में समानता की। हम सब अलग-अलग 'एक' 'एक' हैं—न एक से कम हैं, न एक से ज्यादा। ऐसे कारण हो सकते हैं जिनके चलते व्यवहार में हम पूरी तरह से 'एक' नहीं ठहर पायें, असमानता को जगह देनी पड़ ही जाए। पर जैसा हम कह भी आए हैं, जहाँ तक

न्याय का और न्याय-व्यवस्था का प्रश्न है, ये कारण 'आगन्तुक' ही कहलायेंगे। ये न्याय के आदर्श को धुँधलाते हैं, और इन्हें व्यवस्था से दूर कर देना ही समष्टि का न्याय-कर्म है।

यों समानता भाव से निर्मोह होने की दिशा साधती है, पर हम देखते ही हैं कि निर्मम, हृदयहीन भी हो जाती है—अमानुषी। सच तो यह है कि हम समष्टि-भाव में जिस 'समानता' की साधना करते हैं वह स्वरूप से ही केवल न्याय तक सीमित नहीं होती—चाहे किसी सिद्धान्त के मोहवश हम ऐसा मान क्यों न बैठें। न्याय-साधना किसी भी धरातल पर हो—व्यष्टि के स्तर पर या समष्टि-व्यवस्था के स्तर पर—उसमें भाव-निष्ठ आनृशंस्य भी होता है। वही उसकी प्रेरणा होती है। नहीं तो न्याय की समानता का निष्कर्ष यही निकलता लगता है कि बस दण्ड की दृष्टि में सब समान हैं। पर यह बात हमारे न्याय-बोध को ही अटपटी लगेगी, क्योंकि न्याय की प्रेरणा धर्म है जो आनृशंस्य को ऊह्य रखता है, गणित या दण्ड—नीति, ये न्याय की प्रेरणा नहीं हो सकते। इसलिए 'समानता' के और भी आदर्श हैं, जो अलग-अलग एक-एक की गिनती नहीं गिनते; जो व्यवस्था को सब कुछ नहीं मानते।

वासना की धारणा को फिर से लीजिये। वासना मनुष्य-भाव-सुलभ आशा-अभिलाषा ही नहीं, प्रेयस् के साथ श्रेयस् बोध का भी नाम है। हमारा न्याय-बोध भी हमारी वासना से वासित होता है : व्यष्टि-समष्टि रूप में मनुष्य के किसी 'न्याय्य' प्रतिमान के बिना मनुष्य की वासना कैसी? हरिश्चन्द्र की कहानी के अन्त में जिस बीभत्स गति की ओर श्मशान-चारी राजा विवश-भाव से बढते चले जाते हैं, उसकी विभीषिका मनुष्य-सुलभ है, हमारी वासना की ही विभीषिका है। मनुष्य के प्रति हमारी अभिलाषा के साथ हमारा श्रेयस् बोध भी वहां किसी अनहोनी जुगुप्सा के अमानुषी अन्याय में धँसता दिखाई देता है। तभी हमें ट्रैजेडी का गहरा बोध होता है। हमारा न्यायबोध दायित्व के निःसंग तन्त्र के भीतर भी इस बात से इन्कार नहीं कर कर सकता कि मनुष्य को मनुष्य रहने का अधिकार है! हरिश्चन्द्र को केवल दायित्व-पालन का कठिन, निष्करुण पात्र बना देने में हमें उनका मनुष्य-भाव ही विनष्ट होता दिखता है।

हम कह सकते हैं कि न्याय ही नहीं, मनुष्य के मनुष्य-भाव को बनाए रखना, यह साधना भी विशेषकर समष्टि की ही साधना है। राजा का और राज्य का यह भी आदर्श है। हरिश्चन्द्र के आनृशस्य के अन्तर्गत ऐसा आदर्श उभरता भी है—दीन, दुःखी, असहाय का पुत्रवत् पालन। पर यह बात धर्म के भाव-पक्ष से ही उभरती दिखती है—मैत्री, करुणा, पर-दुःख-दुःखित्व, इनकी प्रेरणा के बिना अकल्पनीय है। इसमें निहित समानता-बोध भी विशुद्ध न्याय के नपे-तुले बनिये के बटखरे से नहीं तुल सकता। यक्ष प्रश्न वाली कहानी ही लीजिए। युधिष्ठिर ने माद्री-पुत्र को जिलाया, आनृशंस्य बरतते हुए माद्री को दिया वचन निभाया। मनुष्य-सुलभ वासना को ध्यान

में रखा। पर कल्पना कीजिए, जी उठने के बाद उनके दूसरे भाई, और दूसरा माद्रीपुत्र भी, अलग अलग न्याय की माँग करते, कि 'मुझे क्यों नहीं जिलाया, मेरा क्या दोष था, मेरा पलड़ा कैसे हलका था?', तो वे क्या कहते? आनृशंस्य की ही दुहाई दे सकते थे, भाव-हीन न्याय की नहीं।

एक बात फिर भी कही जा सकती है। जिसे हमने वासना कहा है वह *व्यवहार* में मनुष्य की धर्म-साधना के लिए आवश्यक निकष हो भी सकती है, पर वह किसी आदर्श अर्थ में पुरुषार्थ का 'परम' नहीं हो सकती। पुरुषार्थ का आरम्भ-बिन्दु ही हो सकती है—ऐसा घर जहाँ से मनुष्य पुरुषार्थ के लिए संबल ले कर बाहर निकल सकता है। कहना न होगा यहाँ पुरुषार्थ से हमारा आशय अर्थ और काम से नहीं है, धर्म और मोक्ष जैसे आदर्शों से है। अर्थ और काम तो वासना-बोध के अन्तर्गत आ जाते हैं। पर सचमुच आदर्श धर्म और मोक्ष ही हैं। इन्हें किसी वासना की तुला पर ठीक नहीं तोला जा सकता।

जैसा हम पहले भी कह आए हैं, पुरुषार्थ के आदर्शों को हम धर्म-मोक्ष की परम्परा-से-बँधी शब्दावली से निकाल कर व्यापकता दे सकते हैं। संक्षेप में, हम ज्ञान, कर्म और भाव के आदर्शों की बात कर सकते हैं। पुरुषार्थ-साधना न्याय के ढांचे में नहीं समाती। समानता को पुरुषार्थ-साधना की दृष्टि से परखें तो समानता इस साधना की सीढ़ी का पहला पाया ही दिखता है। पुरुषार्थ की दृष्टि से समानता क्या हो सकती है? न्याय कह सकता है कि किसी भी पुरुषार्थ-साधना का सबको समान अधिकार होना चाहिए। पर यह विशुद्ध न्याय-बोध का ही निष्कर्ष हो सकता है। जिसे हम वासना कह रहे हैं, उससे ऐसा कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकलता दिखता।

पर पुरुषार्थ-साधना तो एक गहरे अर्थ में मनुष्य-भाव में ही समाई है—'वासना' का अंग कहला सकती है : यह मनुष्य की जिजीविषा का ही अंग है कि वह पुरुषार्थ साधे। पर यह भी सोचिये—मनुष्य की सिसाधयिषा के लिए—उसकी पुरुषार्थ-साधना के लिए—समानता की धारणा का क्या काम? क्योंकि बात समान अधिकार की है ही नहीं। बात है पुरुषार्थ के 'अधिकारी' हो सकने की और साधना में आगे बढ़ते रहने की—जो पुरुषार्थ हम साधें उसमें अधिक से अधिक योग्य से योग्यतर हो सकने की बात है। यह बात प्रतिभा चाहती है, प्रतिभा के नये सोपान चढ़ना चाहती है—समानता को तो पीछे ही छोड़ देना चाहती है। न्याय जिस अर्थ में समानता को लेना चाहता है, पुरुषार्थ-साधना उस समानता को मिटाने की साधना है।

पर भीष्म ने युधिष्ठिर को राज्यधर्म का उपदेश देते हुए एक और बात कही थी जो यहाँ ध्यान में रखने योग्य है। उन्होंने कहा था कि न्याय-निष्ठ राज्य-व्यवस्था के बिना भी अराजकता में पुरुषार्थ नहीं साधे जा सकते—और यही कहते हुए उन्होंने राजधर्म को सब धर्मों का मूल, सब धर्मों की 'धरती' ठहराया था।

यहीं एक विकट ग्रन्थि सर उठाती है जिसका 'भंग' दिखाई नहीं देता। भारत का नैतिक-राजनैतिक चिन्तन इसके प्रति सदा सजग रहा है, पर उसका समाधान कोई नहीं सोच पाया है। न्याय समष्टि-प्राण होता है, और समष्टि-साध्य। समष्टि में परस्पर-भाव भी मान कर चलता है। समष्टि का धारक राष्ट्र होता है। न्याय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक न्याय-व्यवस्था एक-राष्ट्रमय होती है। अपवाद होते हों तो भी इतना तो कह ही सकते हैं कि बाहुल्येन ऐसा होता है : न्याय-व्यवस्था की परिधि राष्ट्र होता है।

पर राष्ट्र एक नहीं अनेक होते हैं; और विडम्बना यह है कि राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध के सूत्र धर्ममय होते ही नहीं, नीतिमय होते हैं—साम, दान, दण्ड, भेद, इनके सहारे चलते हैं। उनमें किसी परस्पर-भाव की और यों सार्थक न्याय की बात ही नहीं उठती है। उठती भी है तो बात ही उठती है, उसके आचरण का नवनीत—उसका सार—तो छाछ ही रह जाता है।

विडम्बना में एक विचित्र, विषम सी गहराई और भी है। राष्ट्र या कोई भी समष्टि कहलाने लायक सत्त्व—ऐसे परस्पर भाव के बिना रह ही नहीं सकता जिसकी नींव में न्याय और आनृशंस्य न हों—और कृष्ण के शब्दों में किसी न किसी रूप में लोक-संग्रह के साथ लोक-क्षेम की, 'प्रभव' की साधना न हो। यह बात भी मनुष्य के समष्टि-भाव की घुट्टी में ही पड़ी जान पड़ती है। क्योंकि यह देखिये कि यह बात वैध कहला सकने वाले राज्यों पर ही पूरी नहीं उतरती, लुटेरों की उस समष्टि पर भी पूरी उतरती है जो राज्य के लिए कंटक होते हैं। लुटेरों की परस्पर-व्यवस्था अन्याय की नहीं होती। आनृशंस्य से भी रीती नहीं होती। हो ही नहीं सकती—होगी तो *मनुष्य* की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। फिर ऊपर से अचम्भा यह कि वही लुटेरे अगर राजा हो जायें तो उन्हें किसी न किसी अर्थ में, किसी न किसी रूप में—कितने ही आततायीभाव से सही—प्रजा-पालन भी करना ही पड़ता है : न्याय, आनृशंस्य दोनों को कुछ न कुछ व्याप्ति देनी पड़ती है, इसके बिना राज्य ही नहीं हो सकता। जो पहले लुटेरा था उसे अब दूसरे लुटेरों से राज्य को बचाना भी पड़ता है, अनन्यगतिक हो कर। दूसरे राज्यों से उसे सम्बन्ध परायेपन का—साम दान दण्ड भेद का—नीति का—रखना पड़ता है।

अपनी चर्चा में हमने धर्म को ऐक्य और अनैक्य, इन दो पक्षों के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए बात बढ़ाई है। यहाँ हम उसकी जटिलता देख सकते हैं—ऐक्य-अनैक्य का विचित्र, विषम अविनाभाव सम्बन्ध। मनुष्य समष्टि-प्राण है। समष्टि परस्पर-भाव के सूत्र से अनेक को एक बनाती है। पर समष्टि एक नहीं अनेक होती है, और समष्टियों के बीच का परस्पर-भाव धर्म पर कम, दण्ड पर अधिक निर्भर करता है। या 'दण्ड' नहीं कह कर 'नीति' कहिये। बात एक ही है, राजनीति को अपने यहाँ दण्ड-नीति ठीक ही कहा जाता था। नीति की नाभि पर दण्ड ही बैठा है—साम, दान, भेद उसी के

नाम-भेद हैं। नीति परस्पर-भाव का निराकरण है। पर एक समष्टि का दूसरी समष्टि से सम्बन्ध नीति की ही अपेक्षा रखता है। समष्टि की *धर्म*-रक्षा के लिए भी नीति आवश्यक हो जाती है। और अक्सर युद्ध भी।

एक बात और देखिये। समष्टि का अनैक्य राष्ट्र के अनैक्य से भी बहुल होता है—एक ही राष्ट्र में कई भिन्न समष्टियां होती ही हैं। तभी समष्टि के प्रति यह दृष्टि मोघ-दृष्टि ही है कि विश्व एक राष्ट्र हो जाए तो समष्टि-भेद मिट जाएगा। समष्टि-भेद राज्य-व्यवस्था पर निर्भर नहीं करता। उसकी नींव और गहरी है। मनुष्य के स्वातन्त्र्य में उसकी जड़ें हैं। उसी स्वातन्त्र्य में जिसमें धर्म की भी जड़ें हैं। पर स्वातन्त्र्य के और भी आयाम हैं। धर्म तो एक ही पुरुषार्थ है। दूसरे भी हैं ही, और सभी की नींव स्वातन्त्र्य में है। और सभी पुरुषार्थों में दृष्टि-भेद या प्रस्थान-भेद भी होते ही हैं जो भिन्न परम्पराओं की सृष्टि करते हैं। और परम्परा का वाहन समष्टि होती है। यों समष्टि-भेद का एक 'परम' बीज पुरुषार्थ-साधना में ही निहित है।

ऐसा भी नहीं लगता कि दृष्टि-भेद कोई आगन्तुक सी बात हो। यादृच्छिक। और यों अनावश्यक या निवार्य। सच यह है कि स्वातन्त्र्य के हृदय में ही वैविध्य के द्वार हैं। स्वतन्त्र होना स्वैर होना न हो, पर स्वच्छन्द होना तो है ही। और स्वाच्छन्द्य सहज ही वैविध्य पालता है। धर्म-भिन्न पुरुषार्थों में, जैसे ज्ञान में, यह बात स्फुट उभर कर आती है, और भाव में—कला में—और भी स्फुटतर।

धर्म में लगता है कि स्वतन्त्र होने का अर्थ ही अपने स्व-अर्थ को छोड़कर पर-अर्थ की ओर झुक जाना और परस्पर-भाव की 'एक', 'अभिन्न' अवस्था में अपने को ढाल लेना है, नहीं तो परस्पर-भाव ही क्या बनेगा? पर यह बात न्याय के लिए ही कही जा सकती है, और शायद कुछ कुछ वासना-गर्भ आनृशंस्य के लिए भी जहां मनुष्य का एक सामान्य सा प्रतिमान बनता दिखता है। हम यह भी कह सकते हैं कि यहाँ किसी सार्थक, गणित-बाहर अर्थ में 'समानता' पर भी दृष्टि रहती ही है। पर प्रभव की बात लीजिये—अभ्युदय की बात—जो सबके लिए समान होना ही चाहिए। पर प्रभव क्या हो यह भी दृष्टि-भेद की बात होती है, सम्प्रदाय-भेद, संस्कृति-भेद, समष्टि की साधना के भेद की बात होती है। क्योंकि प्रभव क्या हो, इस प्रश्न के अन्तरंग में यह जिज्ञासा है कि पुरुषार्थ क्या हो? इसके बिना प्रभव की बात ही क्या? और पुरुषार्थ-साधना में भेद-दृष्टि स्वाभाविक है। लेकिन चलिए प्रभव की साधना को हम वही मान लें जिसे हमने समानता की साधना कहा है—न्याय, वासना-पूर्ति। तो भी प्रस्थान-भेद उभरेंगे ही। रास्ता क्या हो, यह सवाल उठेगा। अभी पिछले सौ सालों के भीतर ही अकेले पश्चिम की सभ्यता में ही इसको लेकर कई 'वाद' उठ चुके हैं—कम्यूनिज़्म, फासिज़्म, कैपिटलिज़्म—और उचित व्यवस्था की साधना के नाम पर हिंसा का प्रकाण्ड ताण्डव होता ही रहा है। और यह सब 'धर्म-निरपेक्ष' हुआ है—यानी 'रिलिजन' को हम दोषी नहीं ठहरा सकते, जिस पर अब तक ऐसे

अपराध थोप देने का पश्चिम में चलन रहा है। बीसवीं सदी के महत् 'कर्म' सेक्यूलर शक्ति के ही कर्म रहे हैं। उन्हीं का धर्म-निरपेक्ष दुश्चक्र-प्रवर्तन रहा है।''

पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में एक अकेले स्वतन्त्र व्यक्ति के लिए भी साधना की सार्थकता बनी रहती है। ज्ञान, भाव, अध्यात्म की साधनायें स्व-निष्ठ साधनायें ही हैं—एक ही आत्म हो तो वह ज्ञानी या कलाकार या भक्त हो सकता है, ज्ञान और भाव के क्षेत्रों में प्रतिभा की अकेली सृजनमयी यात्रा कर सकता है। हाँ, हम कह सकते हैं कि परम्परा इनके लिए भी आधार होती है और परम्परा होने का अर्थ है किसी न्याय-निष्ठ समष्टि का होना। यह ठीक है। हमारी कोई साधना परम्पराहीन नहीं है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर ज्ञान और भाव के क्षेत्र में समष्टि अनिवार्य भी नहीं है। 'अकेले की साधना' यह बात इन साधनाओं में बेबात नहीं ठहरती।

पर धर्म के क्षेत्र में 'अकेले की साधना' का कोई अर्थ नहीं। दायित्व और न्याय में तो बात साफ ही है। पर अहिंसा को लीजिये। अहिंसा को अकेले की साधना समझा भी जाता रहा है। यह विजनचारी, एकान्तवासी ऋषियों-मुनियों की साधना है। अहिंसा का पालन कठोर व्रत की माँग करता है। अहिंसा-व्रती पर से—समूचे संसार से—मुँह मोड़ कर कैवल्य की ओर मुड़ता है। पूर्ण अहिंसा-साधना की यही स्वरूप-गति जान पड़ती है, क्योंकि हिंसा से सर्वथा बचना हो तो पर के स्पर्श मात्र का त्याग करना ही होगा—स्पर्श भी प्राण-घातक हो सकता है। इसलिए अहिंसा के स्वतन्त्र साधक को अपने लिए ऐसा तन्त्र—ऐसी व्यवस्था—बनानी पड़ती है कि वह चरम निवृत्ति साध सके, दूसरों से दूर, तत्त्वतः दूर हो जाए। कायोत्सर्ग करता केवली इसका प्रतीक है। वह सचमुच अहिंसा साध रहा है। अहिंसा-व्रती अपने भी प्राण नहीं ले सकता। बस निरा 'एक' हो जा सकता है। यह आदर्श अहिंसा के स्वरूप में ही 'उपपन्न' सा जान पड़ता है। यह सच्चा स्वातन्त्र्य भी जान पड़ता है। ऐसे तन्त्र में स्थिति जहाँ निर्बाध स्व हो, पर हो ही नहीं। जहाँ 'अनेक' से हट कर 'स्व' पूरी तरह 'एक' हो जाए।

कर्म की दृष्टि से ऐसी स्थिति की विडम्बना स्पष्ट है। पर दुधारी है विडम्बना। एक तो यह कि अन्य प्राणियों के बिना 'अहिंसा' का कोई अर्थ नहीं। अहिंसा-व्रती सचमुच ही केवली हो, अन्य हो ही नहीं, तो न हिंसा की बात उठेगी न अहिंसा की—स्व-हिंसा की बात अगर हम अलग रख दें। अहिंसा की धारणा में ही 'अनेक' पूर्वगृहीत है। फिर दूसरी बात यह देखिये कि अहिंसा की साधना हम करते ही इसलिए है कि हममें दूसरे के प्रति कोई अगाध एकत्व भाव है— तभी 'अवध' या प्राण-रक्षण हमारा *कर्त्तव्य* बनता है। पर विशुद्ध अहिंसा-व्रत इस भाव की इति-कर्त्तव्यता का नितान्त बाधक ही ठहरता है। उसका 'स्वातन्त्र्य' एक तरह से 'स्वार्थ'

ही रह जाता है। परार्थ-भाव से बिल्कुल रीता। अहिंसा-व्रत अध्यात्म का साधक हो सकता है, धर्म का नहीं।

इसीलिए युधिष्ठिर और कृष्ण ने अहिंसा परमो धर्मः का अर्थ आनृशंस्यः परो धर्मः लिया है। आनृशंस्य में अहिंसा 'अवध' के साथ 'प्रभव' या अभ्युदय का सम्पुट बनाती है। आनृशंस्य भी एक तरह का व्रत कहला सकता है—स्वतन्त्र हो कर धर्म-साधना का आदर्श है ही। लेकिन यह परार्थ-भाव में स्थित है। मैत्री में, करुणा में स्थित।

सही तरह से आनृशंस्य का क्षेत्र तभी बनता है जब बात संपूर्ण मानव-समष्टि की हो। अनेक स्वतन्त्रों के ऐक्य का क्षेत्र साधता है आनृशंस्य। पर धर्म जिस स्वातन्त्र्य को बनाए रखने की व्यवस्था साधता है वह साधना कुछ विचित्र सी है। सोचिये तो उलटबाँसी है—पर ऐसी उलटबाँसी जिसे हम जीते हैं, जिसे सत्य बनाए रखने की लौ—भावमयी श्रद्धा—अपने भीतर कहीं न कहीं जगाये रखते ही हैं। धर्म अनेक के स्वातन्त्र्य को साधता है। यहाँ व्याघात, या बाध कहिये, कहने में ही सिर उठाता है। अनेक का स्वातन्त्र्य भेद की साधना है—एक एक के भिन्न स्वातन्त्र्य की। पर जो तन्त्र—व्यवस्था—इसे संभव बनाती है, जो एक गहरे अर्थ में हमें ही साधती है, वह अभेद का—परस्पर-भाव—का ही तन्त्र हो सकती है। धर्म की विषम माँग यही है : वह एक में अनेक और अनेक में एक की स्वीकृति है। स्वीकृति ही नहीं वह अनेक के भेद को रखते हुए एक-एक को अपने-आप में अधिक से अधिक स्वतन्त्र कर देने की साध है, साथ ही धर्म की मूलभूत श्रद्धा है कि अनेक में एक मूलग्राही, स्वरूपग्राही परस्पर भाव है—अभेद है। पर यों धर्म का तत्त्व जिस प्रेरणा पर टिका है उसी में हम विरोध को भी जागता देख सकते हैं : दूसरा मुझसे भिन्न है भी और नहीं भी है। वह स्वतंत्र है, मेरी ही तरह स्वतंत्र है, पर उसे स्वतन्त्र रखना, उसके स्वातन्त्र्य को भूमा देना, मेरे ही सचमुच स्वतन्त्र होने का अभिन्न अंग है। लक्षण भी।

स्वातन्त्र्य वास्तव में 'सिद्ध' नहीं होता है, सदा साध्य ही रहता है। और यह मेरी ही नहीं सबकी मिलकर साधना है। समष्टि की भी साधना है। पर यहीं समष्टि के अनैक्य में दण्ड का वह बीज कंटक साधता है जो धर्म के स्वरूप में ही पैठा है। दण्ड उन तत्त्वों को ले आता है जिन्हें हम धर्म के औचित्य से बाहर समझते हैं। परस्पर-भाव और स्वातन्त्र्य के वैरी वध, युद्ध, नीति, कपट, ये उसी द्वार से धर्म की पंगत में आ बैठते हैं जिस द्वार से दण्ड आता है—स्वार्थ के लिए नहीं परार्थ के लिए भी हमें इन्हें धर्म का अंग बनाना पड़ता है। स्वार्थ के लिए दण्ड के नीति-प्रयोग की हम सहज निंदा कर देते हैं। दण्ड को 'अन्याय' और अधर्म कह देते हैं। पर समष्टि की एषणा को, समष्टियों के परस्पर विरोध को तो 'स्वार्थ' में नहीं समेटा जा सकता। बात परार्थ की हो जाती है, पर फिर भी यह बात परस्पर-भाव की परिधि में तो नहीं समा पाती। लेकिन धर्म की परिधि से *बाहर* भी नहीं रखी जा सकती। यही धर्म की

अनहोनी है। धर्मबोध इस विरोध को भी अपने घेरे में खपाना ही चाहता है। पर इसकी कोई विधि नहीं साधी जा सकती। फिर भी कर्मशील की प्रज्ञा, उसका उपाय-कौशल इससे जूझता रहता है। विरोध को पाटने का कोई सेतु हो नहीं सकता। पर धर्मबोध कुंठा के निर्वेद में भी नहीं धँस जाता। अपनी तरह चरिष्णु रहता है। धर्म की उलटबाँसियों, विडम्बनाओं के भीतर भी धर्मप्रज्ञा जागरूक रहती है, और कृष्ण ने ठीक ही कहा है कि धर्मप्रज्ञा को किसी स्थिर तत्त्व या विधान से बाँधा नहीं जा सकता।

धर्मप्रज्ञा का काम स्वरूप-विषम होता है, विशेषकर राजा की धर्मप्रज्ञा का : उसका आदर्श है दण्डनीति का ऐसा कुशल प्रयोग कि नीति उपाय ही रहे, उपेय न हो जाए। कृष्ण इसी पथ के पथिक थे। पर यह साधना भी धर्म को कहीं सचमुच आगे ले जाती नहीं दिखती। कृष्ण के बाद भी वहीं रह गई जहाँ तब थी। व्यास की धर्म-दृष्टि में धर्म-प्रज्ञा में धर्म का गौरव है, पर यही धर्म की ट्रैजेडी भी है। कृष्ण ने द्वारका में जिस समष्टि को रूप दिया था उसने ही कृष्ण के देखते-देखते अपना विनाश साध लिया। अभी पिछले ही दिनों गाँधीजी ने 'आनृशंस्य' का विस्तार करते हुए विरोधी समष्टियों के परस्पर सम्बन्ध में भी नीति के स्थान पर धर्म की—अहिंसा और सत्य की—प्रतिष्ठा करने की साधना की। जिस समष्टि में उन्होंने यह साधा उसमें देखते देखते ही उनका मार्ग भी विलीन सा हो गया है—शायद कुछ पगडंडियाँ बची हों। पर ये पगडंडियाँ भी धर्म के स्वरूप में निहित ही हैं, नहीं तो धर्म की साधना हो ही नहीं सकती। ये धर्म की ट्रैजेडी को और उभार देती हैं।

❐

अनुक्रमणी

अ

अथर्वांगिरस श्रुति 78

अदृष्ट (फल) 81-82

अद्भुत (रस) 49, 50-51, 52

अधर्म 6,7, 22, 29, 34, 74, 75, 78, 90, 92, 93, 96, 99-100, 102, 103, 104-107, 145, 148, 157, 164, 171, 173, 183

अधर्म-विरोध 104 और आगे

अनुकरण 23 और आगे, 28, 29, 31, 32, 56

अभिनव गुप्त 24, 49, 60, 61, 138, 148 (पादटिप्पणी)

अभ्युदय 30, 65-66, 71-72, 75, 77, 81, 82, 83, 84, 86, 87, 89, 90, 103, 111, 132, 136, 139, 181, 183 (देखें, 'प्रभव')

अरस्तू 37

अर्जुन 73, 74 और आगे, 79-80, 84, 85, 107, 148 (पादटिप्पणी), 157

अवध 75, 76-77, 81, 87, 88, 89, 90, 91, 96, 97, 98, 99, 100, 101, 103, 106, 115, 118, 120, 143, 147, 149, 160, 163, 168, 182-183 (देखें, 'आहिंसा')

अवसान (कर्म का) 6, 82 और आगे, 109,

अहिंसा 11, 33, 34, 35-37, 70-72, 75, 76, 80, 81, 84, 86, 87, 91, 100, 103, 114, 116, 117-118, 119, 127, 136, 139, 149, 152, 153, 159-160, 161-162, 163, 168, 182-183, 184

आ

आगम-थर्म 9, 68

आचरण 6, 14, 20, 21, 22 और आगे, 36, 40, 90, 97, 119, 144, 145, 157, 166, 168, 169, 180 (देखें, 'आचार')

आचार 11,12, 14, 23 और आगे, 32, 35, 36, 142 (देखें, 'शिष्टाचार')

आनृशंस्य 11, 35 और आगे, 65 और आगे, 87-89, 91, 100, 102, 103, 105-106, 111, 115, 116, 118, 123, 139, 140, 141, 142, 143, 145,

147, 148, 149 और आगे, 152, 159-161, 166-169, 171, 172-173, 175, 177, 178, 179, 180, 181, 183, 184
आपद्धर्म/आपत्-धर्म 92 और आगे, 100, 105, 168
आपस्तम्ब 22 और आगे, 26, 28-30, 31, 36
आपस्तम्ब का धर्मसूत्र 22 और आगे, 30, 36
आर्य 22, 23, 24, 29 (देखें, 'शिष्ट')
आहार्य ज्ञान 131

इ

इतिकर्त्तव्यता 7, 8, 9, 10, 11, 12, 18, 20, 26, 27, 34, 38, 45, 65, 67, 68, 74, 81, 82, 83, 84, 86, 89, 91, 93, 94, 97, 98, 102, 107, 115, 117, 118, 119, 129, 151, 152, 162, 167, 183
इतिहास 3, 4, 11, 21, 22, 39-40, 90, 122, 124, 137, 139, 176

उ

उज्ज्वला (आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर टीका) 30
उपन्यास 45, 58-59, 82

ए

एक-रस 48 और आगे

ऋ

ऋग्वेद 159
ऋत 18, 19, 31, 38, 62, 93, 94, 150, 156-157, 160, 171

क

कठोपनिषद् 158
कथनी/करनी 26 और आगे
कथा 39 और आगे, 73, 79, 143, 158, 163, 166, 167, 168
करनी/कथनी 26 और आगे
करुण (रस) 47, 49, 51, 52, 53, 54-55
कांट 31-32, 62-63, 64, 97, 155
काम (पुरुषार्थ) 24, 38, 40-42, 43-44, 59, 64, 65-66, 67, 68-70, 86, 93, 103, 111, 119, 128-129, 137, 158, 179

कृष्ण 36, 72, 74 और आगे, 83, 84, 85, 86, 87 और आगे, 92, 98 और आगे. 103-104, 106, 107, 108, 109, 112, 115, 123, 127, 132, 138, 149, 157-158, 166, 168, 170, 180, 183, 184

ग

गदाधर भट्टाचार्य 3

गांधी 36, 71, 181

गीता 14, 16, 35, 38, 83, 91, 108, 136, 143, 148, 157, 158, 161

ज

जनक वैदेह 17, 19, 146, 147

जेन साधना 55

जैमिनी 21

जैमिनी का धर्मसूत्र 21 (देखें, 'मीमांसा/मीमांसक')

जैमिनीय ब्राह्मण 14 और आगे, 20, 21, 37, 149, 158

त

त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) 43-44, 66-69, 71

द

दयाकृष्ण, प्रोफेसर 149-150

दायित्व 105, 119 और आगे, 134-135, 139, 142, 143, 147, 149, 150, 160, 161-163, 172, 173, 174, 176, 178, 182

दृष्ट (फल) 82

ध

धर्मकाम 41, 42-43

धर्मकोश 21-22, 30

धर्म-जिज्ञासा 12-13

धर्म-निरपेक्ष 9 (देखें, 'सेक्यूलर')

धर्मप्रज्ञा 73, 76, 77, 81, 85, 86, 87, 88, 89, 90, 92, 103, 109, 184

धर्मयुद्ध 91, 100, 123, 164, 167, 169 (देखें, 'युद्ध')

धर्म-विभाग 74-77, 87 और आगे

धर्मशास्त्र 21-22, 25, 36, 39, 40 (देखें, 'स्मृति', 'धर्मसूत्र')

धर्म-संकट 1, 5-6, 12, 20-21, 24, 27-28, 31-35, 38, 40, 72, 79-81, 85, 87, 91, 98, 106-109, 113, 115-116, 117, 143, 160, 162, 173

धर्मसूत्र 8, 22, 29, 30

न

नचिकेता 158
नाट्य 24, 49, 51, 52, 55, 63
निवृत्ति (धर्म) 27-28, 30, 35, 38, 43, 54-55, 57-61, 65-66, 71, 81, 87, 99, 101, 140, 144, 182
निष्कर्म 10
निष्काम (कर्म) 83-84
निष्कारण (कर्म) 80, 81, 82, 83, 84
नीति 8, 18, 26, 31, 89-91, 96, 107, 108, 109, 112, 122, 125, 126, 127, 128, 136, 142-147, 153-154, 164, 169, 180-181, 183-184 (देखें, 'राजनीति')
न्याय 35, 77, 100 और आगे, 114, 116, 119 और आगे, 136, 138, 142-143, 147, 149, 153, 160, 162, 163, 167, 168-169, 172 और आगे, 181, 182

प

परतन्त्र 124, 129,
परम-धर्म 11, 35 और आगे, 65, 70-72, 73-74, 81, 84, 88-89, 96-97, 99-101, 105-107, 115-116, 123-124, 164, 166, 183
परस्थ बोध/भाव 32-34, 46, 73 (देखें, 'परार्थ-भाव')
परस्पर-भाव (का सिद्धान्त) 136 और आगे
परार्थ (भाव) 73, 74, 89, 90, 98, 101, 102, 103, 113, 125-127, 137, 143, 146, 147, 149, 158, 160, 161, 166, 167, 175, 183, 184 (देखें, 'परस्थ बोध')
परिणाम (कर्म का) 81-82, 86, 89-90, 108, 109 और आगे
परिप्रेक्ष्य (कर्म के परिणाम का) 109 और आगे
पारतन्त्र्य 129 (देखें, 'परतन्त्र')
पुराण 39, 94-95, 136 (देखें, **'मार्कण्डेय पुराण'**)
पुरुषार्थ 17, 18, 27, 30-31, 33-34, 36, 38, 40-44, 65-70, 74, 80, 87, 132, 138, 144, 145, 154, 161, 167, 174, 176, 179-180, 181-182
प्रज्ञा 12, 26, 60-62, 65, 70, 77, 78, 102, 139, 144, 156, 165, 166, 184 (देखें, 'धर्मप्रज्ञा')

प्रतिज्ञा 75 और आगे, 150-151, 158, 160, 161-163, 165, 166

प्रभव 75, 76, 77, 81, 86, 87-88, 89, 90, 91, 101-102, 103, 106, 109, 111, 115, 118, 120, 127, 132, 136, 139, 143, 147, 149, 153, 160, 161, 163, 165, 168, 177, 180, 181-182, 183 (देखें, 'अभ्युदय')

प्रवृत्ति (धर्म) 27-28, 30, 40, 43-44, 45, 47-49, 54-55, 57-58, 59-62, 65-66, 67, 70, 71, 72, 97, 98, 99-100, 101, 103, 128, 129, 140, 144, 147, 149

प्रेयस् 18, 40-44, 47, 48, 59-60, 63, 64, 68-69, 72, 78, 80, 86, 167

फ

फल (कर्म का) 30, 36, 37-38, 76, 80 और आगे, 96, 107, 109, 123, 127, 138, 154, 163, 171 (देखें, 'परिणाम')

फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट 3

फिलासफी की मेनस्ट्रीम 3-5

ब

बाइबल 11

बादरायण 26, 27

बीभत्स (रस) 47, 49, 52, 53-54, 55, 56, 169, 170, 171, 178

बुद्ध 36

बुद्धि 7, 10, 12-13, 18, 27, 33-35, 56-58, 62-64, 79, 92, 108, 109, 124-126, 136, 142-143, 146, 155-158, 161, 169

बुद्धिमान/बुद्धिमानी 124-126

बौद्ध 55, 60 और आगे, 156

ब्राह्मण (ग्रन्थ) 14, 15, 17, 21 देखें, '**जैमिनीय ब्राह्मण**')

भ

भयानक (रस) 47, 49, 52, 53, 55, 56, 171

भरत 63

भवभूति 49, 51

भोज 51-52, 77

म

मजहब 2, 9

मतिलाल 80

मनुष्य-भाव 39, 44 और आगे, 140 (पादटिप्पणी) - (देखें, 'वासना')
महाजन 25 और आगे, 33, 34, 36
महाभारत 11, 25-28, 35-37, 38, 39-40, 46, 62, 65, 66, 70-82, 84-86, 91-102, 136-137, 142, 143-147, 160, 166, 175-176
मॉरल 1
मॉरल डिलेमा 1
मॉरल डिलेमाज इन दि महाभारत 80
मार्कण्डेय पुराण 163 और आगे
मीमांसा/मीमांसक 12-13, 14-16, 20-22, 23, 24, 26, 27, 28, 130, 151, 152
मुक्ति 10
मोक्ष 10, 41, 42-43, 65-66, 67, 68, 71, 87, 179
मोक्षकाम 41-42
मोक्षधर्म 9-11

य

यज्ञ 14 और आगे, 23, 24, 27, 31, 37-38, 145, 149, 150, 152, 157, 158, 159, 164, 165
याज्ञवल्क्य 17, 18-19, 149-150, 152, 158-159
युद्ध 35, 71, 74, 75, 78, 85, 91 और आगे, 95 और आगे, 108, 109, 115, 117, 128, 143, 162, 164, 165, 167-169, 181, 183
युधिष्ठिर 36-38, 46, 66, 72, 73 और आगे, 79-80, 84, 85, 92 और आगे, 99-100, 102, 103, 105, 106, 107, 167, 168, 175-176, 179, 180, 183

र

रस 1, 20, 39, 47 और आगे, 78, 130, 131, 140, 159
रसाभास 46
राजधर्म 8-11, 68, 98-99, 108, 137, 143, 147, 162, 166-167, 175-176, 180
राजनीति 8, 68, 71, 143, 181 (देखें, 'नीति')
रिलिजन 2, 9-10, 12, 182
रुद्र (रस) 49 (देखें, 'रौद्र)
रौद्र (रस) 52, 53, 55, 56, 58, 171

ल

लक्ष्मण शास्त्री जोशी 31

व

वासना 59 और आगे, 65, 68, 70, 71, 72, 73, 74, 79, 85-86, 102, 114, 135, 140, 167, 173, 178, 179, 181

विश्वनाथ (अलंकार-शास्त्री) 47, 50

विषयतावाद 3

वीर (रस) 47, 49, 52, 53, 54, 55, 58

व्यवहार-धर्म 9, 68, 78, 142

व्यष्टि-धर्म 117 और आगे, 139

श

शकर 20, 158

शल्य (श्री यशदेव) 82

शान्त (रस) 49, 50-51, 53, 54, 56-57

शिवजीवन भट्टाचार्य 3

शिष्ट 23 और आगे, 32, 33, (देखें, 'शिष्टाचार')

शिष्टाचार 14, 22 और आगे, 35, 36, 90 (देखें, 'आचार', 'शिष्ट')

श्रद्धा 18-19, 31, 38, 149 और आगे, 166, 183

श्रुति 4, 22, 27, 28, 76-77, 78, 158

श्रेयस् 18, 35, 40-44, 48, 59-60, 63, 64, 68, 72, 75-76, 80, 84, 86, 92, 101-102, 103, 140, 167, 177-178

श्रेयस्काम 41-42, 43

शृंगार (रस) 47, 49, 51-52, 55, 58

शृंगारप्रकाश 51-52

स

संगीत 1-2, 53

संस्कार 1, 8, 10, 12, 68, 69, 75, 104

संस्कार-धर्म 9, 10

सत्य (धर्म) 4, 17, 18, 19, 31, 33, 34, 35, 38, 60-61, 75 और आगे, 81, 83, 84, 85, 86, 87, 90, 91, 99, 100, 101, 103, 105-106, 107, 108, 113-114, 116, 117, 118 और आगे, 122-124, 128, 130, 136, 138, 141 और आगे, 147-148, 149 और आगे, 176, 183, 184

समझौता (सिद्धान्त) 124 और आगे, 136, 137, 142, 143-144, 146

समता 101-103, 105, 106 (देखें, 'समानता')

समानता 173 और आगे (देखें, 'समता')

समष्टि-धर्म 10, 95, 117 और आगे, 139, 149, 166, 167

सर्वज्ञ 109 और आगे

सर्वशक्तिमान 112 और आगे
साधारण धर्म 32 और आगे, 39, 47, 79, 81, 101
सायण 159
सुखथंकर 25
सेक्यूलर 9-10, 12, 182
स्मृति (शास्त्र) 8, 21, 23, 24, 26, 29, 39-40, 90, 95, 142
स्वतन्त्र 6,7,8,10, 11, 12, 17, 18, 31, 63, 64, 66, 84, 95, 107, 117, 118, 119, 123-125, 126, 128-130, 131, 132 और आगे, 138-139, 146, 152, 172, 173, 174, 175, 177, 181, 182, 183 (देखें, 'स्वातन्त्र्य', 'स्वतन्त्रता')
स्वतन्त्रता 10, 133 और आगे, 146, 173-174 (देखें, 'स्वतन्त्र', 'स्वातन्त्र्य')
स्वधर्म 73, 95, 166
स्वभाव-धर्म 6 और आगे
स्वातन्त्र्य 6, 10-12, 63, 66, 76, 94, 117, 118-119, 124-125, 129-130, 132-134, 138-139, 174, 175, 181-183

ह

हास्य (रस) 47, 49, 52, 53, 55 और आगे

❑